प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया
ऑ० सम्पादक दिगम्बर जैन व प्रकाशक
जैनमित्र तथा मालिक दिगम्बर जैन
पुस्तकालय-सूरत ।

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
जैनविजय प्रेस, खपाटिया चकला,
तासवालाकी पोल-सूरत ।

भूमिका ।

यह श्री प्रवचनसार परमागमका तीसरा खँड है । इसके कर्ता स्वामी कुन्दकुंदाचार्य हैं जो मूलसंघके नायक व महान् प्रसिद्ध योगीश्वर होगए हैं। आप वि० सं० ४९ में अपना अस्तित्व रखते थे । इस तीसरे खण्डमें ९७ गाथाओंकी संस्कृतवृत्ति श्री जयसेनाचार्यने लिखी है जब कि दूसरे टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्यने केवल ७५ गाथाओंकी ही वृत्ति लिखी है । श्री अमृतचंद्र महाराजने स्त्रीको मोक्ष नहीं होसक्ती है इस प्रकरणकी गाथाएँ जो इसमें नं० ३० से ४० तक हैं उनकी वृत्ति नहीं दी है । संभव हो कि ये गाथाएं श्री कुंदकुंदस्वामी रचित न हों, इसीलिये अमृतचंद्रजीने छोड़ दी हों । श्री जयसेनाचार्यकी वृत्ति भी बहुत विस्तारपूर्ण है व अध्यात्मरससे भरी हुई है। हमने पहले गाथाका मूल अर्थ देकर फिर संस्कृत वृत्तिके अनुसार विशेषार्थ दिया है । फिर अपनी बुद्धिके अनुसार जो गाथाका भाव समझमें आया सो भावार्थमें लिखा है। यदि हमारे अज्ञान व प्रमादसे कहीं भूल हो तो पाठकगण क्षमा करेंगे व मुझे सूचित करनेकी कृपा करेंगे । हमने यथासम्भव ऐसी चेष्टा की है कि साधारण बुद्धिवाले भी इस महान् शास्त्रके भावको समझकर लाभ उठा सकें। लाला भगवानदासजी इटावाने आर्थिक सहायता देकर जो ग्रन्थका प्रकाश कराया है व मित्रके पाठकोंको भेटमें अर्पण किया है उसके लिये वे सराहनाके योग्य हैं ।

रोहतक
फागुन वदी ४ सं० १९८२
ता० २-२-२६.

जिनवाणी भक्त—
ब्र० सीतलप्रसाद ।

विषय-सूची—

श्री चारित्रतत्त्वदीपिका।

विषय			गाथा नं०	पृष्ठ
१ चारित्रकी प्रेरणा	....	....	१	४
२ साधुपद धारनेकी क्रिया	....	...	२—३	८
३ मुनिपदका स्वरूप	....	....	४-५-६	२२
४ लोच करनेका समय	....	...		३६
५ श्रमण किसे कहते हैं	....	...	७	४१
६ मयूर पीछीके गुण	...	....		४५
७ साधुके २८ मूलगुण	...	....	८—९	४६
८ पांच महाव्रतका स्वरूप	....	....		४८
९ ,, समितिका ,,	...	....		५०
१० भोजनके ४६ दोष	....	....		५१
११ साधु छः कारणोंसे भोजन नहीं करते हैं....				६३
१२ चौदह मल ...	....	....		६५
१३ बत्तीस अंतराय	...	....		६६
१४ पांच इंद्रिय निरोध	....	....		७०
१५ साधुके छः आवश्यक	....	....		७२
१६ साधुके ७ फुटकल मूलगुण....		....		७४
१८ निर्यापकाचार्यका स्वरूप	....	...	१०	७७
१९ प्रायश्चित्तका विधान	...	....	११—१२	७९
२० प्रायश्चित्तके १० भेद	...	...		८२
२१ आलोचनाके १० दोष	...	....		८२

२२ ७ प्रकार प्रतिक्रमण ८४
२३ कायोत्सर्गके भेद ८५
२४ साधुको छेदके निमित्त बचाने चाहिये १३ ८९
२५ साधुके विहारके दिनोंका नियम ... ९३
२६ साधुको आत्मद्रव्यमें लीन होना योग्य है १४ ९४
२७ साधुको भोजनादिमें ममत्त्व न करना १५ ९७
२८ प्रमाद शुद्धात्माकी भावनाका निरोधक है १६ १०१
२९ हिंसा व अहिंसाका स्वरूप ... १०३
३० प्रयत्नशील हिंसाका भागी नहीं है १७-१९ १०५
३१ प्रमादी सदा हिंसक है ... २० ११०
३२ परिग्रह बंधका कारण है ... २१ ११७
३३ बाह्य त्याग भावशुद्धि पूर्वक करना योग्य है २२-२५ १२२
३४ परिग्रहवान अशुद्ध भावधारी है ... २६ १२८
३५ अपवाद मार्गमें उपकरण २७-२८ १३१
३६ उपकरण रखना अशक्यानुष्ठान है २९ १३५
३७ स्त्रीको तद्भव मोक्ष नहीं हो सक्ती ३०-४० १३७
३८ श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें स्त्रीको उच्च पदका अभाव १५४
३९ आर्यिकाओंका चारित्र १५५
४० अपवाद मार्ग कथन ४१ १५७
४१ मुनि योग्य आहार विहारवान होता है ४२ १६०
४२ साधु भोजन क्यों करते हैं १६२
४३ पंद्रह प्रमाद साधु नहीं लगाते हैं ... ४३ १६६

४४ योग्य आहार विहारी साधुका स्वरूप ४४–४६ १६५
४५ मांसके दोष ४७–४८ १७६
४६ साधु आहार दूसरेको न देवे ४९ १७९
४७ उत्सर्ग और अपवाद मार्ग परस्पर ....
सहकारी हैं ५०–५१ १८०
४८ शास्त्रज्ञान एकाग्रताका कारण है ५२–५५ १९२
४९ आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और
चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है ५६–५७ २०६
५० आत्मज्ञान ही निश्चय मोक्षमार्ग है ५८–५९ २१५
५१ द्रव्य और भावसंयमका स्वरूप ६०–६२ २२२
५२ साम्यभाव ही साधुपना है ६३ २३२
५३ जो शुद्धात्मामें एकाग्र नहीं वह
मोक्षका पात्र नहीं ६४–६५ २३६
५४ शुभोपयोगी साधुका लक्षण व
उसके आस्रव होता है ६६–७० २४२
५५ वैयावृत्त्य करते हुए संयमका घात
योग्य नहीं है ७१ २६२
५६ परोपकारी साधु उपकार कर सक्ता है ७२ २६४
५७ साधुओंकी वैय्यावृत्त्य कब करनी योग्य है ७३ २६८
५८ साधु वैय्यावृत्त्यके निमित्त लौकिक
जनोंसे भाषण कर सक्ते हैं ७४ २७१
५९ वैयावृत्त्य श्रावकोंका मुख्य व
साधुओंका गौण कर्तव्य है ७५ २७२

६०	पात्रकी विशेषतासे शुभोपयोगीके फलकी विशेषता होती है	७६	२७७
६१	सुपात्र, कुपात्र, अपात्रका स्वरूप		२८०
६२	कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता होती है	७७–७८	२८०
६३	अजैन साधुओंको स्वर्गलाभ		२८६
६४	विषय कषायाधीन गुरु नहीं होसक्ते	७९	२९०
६५	उत्तम पात्रका लक्षण	८०–८१	२९३
६६	संघमें नए आनेवाले साधुकी परीक्षा व प्रतिष्ठा करनी योग्य है	८२–८४	२९८
६७	श्रमणाभासका स्वरूप	८५	३०६
६८	सच्चे साधुको जो दोष लगाता है वह दोषी है	८६	३०९
६९	जो गुणहीन साधु गुणवान साधुओंसे विनय चाहे उसका दोष	८७	३१३
७०	गुणवानको गुणहीनकी संगति योग्य नहीं	८८	३१६
७१	लौकिक जनोंकी संगति नहीं करनी योग्य है	८९	३१९
७२	अयोग्य साधुओंका स्वरूप		३२२
७३	दयाका लक्षण....	९०	३२४
७४	लौकिक साधु....	९१	३२५
७५	उत्तम संगति योग्य है....	९२	३२८
७६	संसारका स्वरूप	९३	३३०
७७	मोक्षका स्वरूप	९४	३३४
७८	मोक्षका कारण तत्त्व	९५	३३७

७९ शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है	...	९६	३४
८० शास्त्र पढ़नेका फल	....	.... ९७	३४
८१ परमात्म पदार्थका स्वरूप	....	....	३४
८२ परमात्मपद प्राप्तिका उपाय		....	३५
८३ प्रशस्ति श्री जयसेनाचार्य	....	....	३५
८४ चारित्रतत्वदीपिकाका संक्षेप भाव		....	३५
८५ भाषाकारकी प्रशस्ति	....	....	३६

श्रीमान् लाला भगवानदासजी अग्रवाल जैन
सुपुत्र श्रीमान् लाला हुलासरायजी जैन-इटावा।

Jain Vijaya Press, Surat.

—⁂ जीवन चरित्र ⁂—

ला० भगवानदासजी अग्रवाल जैन इटावा नि० ।

यू० पी० प्रांतमें इटावा एक प्रसिद्ध बस्ती है । यहां अग्रवाल जातिकी विशेष संख्या है ।

यहां ही ला०भगवानदासजी अग्रवाल जैन गर्ग गोत्रके पूज्य पिता ला० हुलाससरायजी रहते थे । आप बड़े ही धीर व धर्मज्ञ थे। धर्मचर्चाकी धारणा आपको विशेष थी। आपने श्रीगोम्मटसार, तत्वार्थसूत्र, मोक्षमार्गप्रकाश आदि जैन धर्मके रहस्यको प्रगट करनेवाले धार्मिक तात्विक ग्रन्थोंका कई वार स्वाध्याय किया था। बहुतसी चर्चा आपको कंठाग्र थी। व्यापार बहुत शांति, समता व सत्यतासे स्वदेशी कपड़ेकी आड़त व लेन देन आदिका करते थे। इटावेमें स्वदेशी कपड़ा अच्छा बनता है, जिसे आप अच्छे प्रमाणमें खरीदते थे और फिर आड़तसे बाहर (अनेक शहरोंमें) व्यापारियोंको भेजा करते थे । सत्यताके कारण आपने अच्छी प्रसिद्धि इस व्यापारमें पाई थी और न्यायपूर्वक धन भी अच्छे प्रमाणमें कमाया था।

आपके ६ पुत्र व ३ पुत्रियां थीं, जिनकी और भी संतानें आज हैं। इन नौ पुत्र पुत्रियोंके विवाह आपने अपने सामने कर दिए थे व ६० वर्षकी आयुमें समाधिमरण किया था।

आप अपनी मृत्युका हाल ४ दिन पहले जान गए थे अतः पहले दिन धनका विभाग किया। आपने अपनी द्रव्यका ऐसा अच्छा विभाग किया कि अपनी गाढ़ी कमाईकी आधी द्रव्य तो मंदिरजीको "जो सराय शेखके नामसे प्रसिद्ध है, उसके बननेको" तथा आधी

अपने पुत्र पौत्रोंको दी। दूसरे दिन उन पुरुषोंको बुलाकर "जिनसे किसी प्रकार रंजस थी" क्षमा कराई और आपने भी क्षमाभाव धारण किए। तीसरे दिन आपने दवा वगैरहका भी त्याग कर दिया तथा चौथे दिन सर्व प्रकारके आहार, परिग्रह व जलका भी त्यागकर णमोकारमंत्रकी आराधना करते २ ही शुभ भावोंसे अपने पौद्गलिक शरीरको छोड़कर पंचत्वको प्राप्त हुए।

ला० भगवानदासजीको हर समय आप अपने पास रखते थे व वे भी पिताजीकी सेवामें हमेशा तन्मय रहते थे तथा धर्मचर्चाकर उनसे नया२ बोध लेते रहते थे। ला० भगवानदासजीने १६ वर्षकी अल्पआयुमें संस्कृतकी प्रथमा परीक्षा उत्तीर्णकी। आपको पिताजी व अन्य भाइयोंसे धर्मचर्चा करनेका बहुत शौक था व है भी। पिताजीने इन्हें धर्मी समझकर सर्वार्थसिद्धि स्वाध्यायको दी थी, जिसके मनन करनेसे आपके हृदय-कपाट खुल गए। फिर क्या था इन्हें धार्मिक ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी चट लग गई और आपने गोम्मटसार, मोक्षमार्गप्रकाश आदि ग्रन्थोंका भी मनन करना शुरू कर दिया, जिससे जैनधर्ममें आपको अटलश्रद्धान व भारी भक्ति पैदा होगई।

ला० भगवानदासजीका जन्म इटावेमें ही चैत्र शुक्ल ११ स० १९३८में हुआ था। १६ वर्षकी उम्रमें ही आपको पिताजीने स्वदेशी कपड़ेकी दुकान करा दी था, परन्तु दो वर्ष बाद जब पिताजी तीर्थयात्राको गए तो इनसे दूकानका काम संभालनेके लिए कह गए, आपने पिताजीकी आज्ञा शिरोधार्यकर उनकी दूकानका काम उनके आनेतक अच्छी तरह सम्हाला और उनके आनेके बाद फिर कपड़ेकी दुकान १३ वर्ष तक की व न्यायपूर्वक

द्रव्य भी खूब कमाया (जिसका ही यह परिणाम है कि आपकी इस गढ़ाई कमाईका उपयोग इस उत्तम मार्ग-शास्त्रदानमें होरहा है।)

पश्चात् १९७१ में गल्ले वगैरहकी आड़तका काम होमगंज बाजारमें अपने पिताजीके नाम 'हुलासराय भगवानदास'से शुरू किया जो आज भी आप आनंदके साथ कर रहे हैं व द्रव्य कमा रहे हैं।

श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर पूज्य ब्रह्मचारीजी शीतलप्रसादजी विगत वर्ष चातुर्मासके कारण आषाढ़ सुदी १४से कार्तिक सुदी ११तक इटावा ठहरे थे तब आपके उपदेशसे इटावाके भाई—जो धर्मसे प्रायः विमुख थे—फिर धर्ममार्गमें लगगए। इटावामें जो आज कन्याशाला व पाठशाला दृष्टिगत होरही है वह आपके ही उपदेशका फल है। ला० भगवानदासजीके छोटे भाई लक्ष्मणप्रसादजीपर आपके उपदेशका भारी प्रभाव पड़ा, जिससे आपने २०)रु० मासिक पाठशालाको देनेका वचन दिया। इसके अलावा और भी बहुत दान किया व धर्ममें अच्छी रुचि हो गई है। इसी चातुर्मासमें पूज्य ब्रह्मचारीजीने चारित्रतत्वदीपिका (प्रवचनसार टीका तृतीय भाग) की सरल भाषा वचनिका अनेक ग्रन्थोंके उदाहरणपूर्ण अर्थ भावार्थ सहित लिखी थी, जो ब्रह्मचारीजीके उपदेशानुसार ला० भगवानदासजीने अपने द्रव्यसे मुद्रित कराकर जैनमित्रके २६ वें वर्षके ग्राहकोंको २४५१में भेटकर जिनवाणी प्रचारका महान् कार्य किया है। आपकी यह धर्म व जिनवाणी भक्ति सराहनीय है।

आशा है अन्य लक्ष्मीपुत्र भी इसी प्रकार अन्य लिखी जानेवाली टीकाओंका प्रकाशन कराकर व ग्राहकोंको पहुंचाकर धर्मप्रचारमें अपना कुछ द्रव्य खर्च करेंगे। प्रकाशक।

शुद्धाशुद्धि पत्र ।

पृष्ठ	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
२	२४	घर पढ़ो	भर पढ़ो
१९	२०	भक्तिके	भक्तिको
२१	११	उसके	उसका
२५	४	तप्त सिद्धिः	तस्य सिद्धिः
२९	१५	संवृणोत्प	संवृणोत्य
३४	२०	रहि	रहितं
४६	१०	ऐते	एने
७२	१०	दुक्खा	दुक्खा
७४	१६	ण्हणादि	ण्हाणादि
७९	२२	जादि	जदि
९०	७	पढ़ता	पढ़ना
१००	१०	हिद	हिदं
१०३	४	सवधानी	सावधानी
११४	५	हिंसा	हिंसां
११७	९	कार्यों	कार्यों
१२०	१३	सूचयत्य	सूचयंत्य
१२४	२३	भक्तिकी	मुक्तिकी
१३९	१८	वत्तिः	वृत्तिः
१४१	१५	मुरुषों	पुरुषों
१५३	१	चीर	चोर

१५३	२१	स्त्रियों	स्त्रियोंके
१५९	४	ठीक नहीं	ठीक ही
१६०	७	पुजावाना	पूजा पाना
१६६	३	अचार्य	आचार्य
१६७	८	अग्रहो	आग्रहो
१७१	४	पढम	पढमं
१७९	१४	विरुद्ध हो	विरुद्ध न हो
१८४	१५	शारीरादि	शरीरादि
"	१९	व्यतिरेक्त	व्यतिरेक
२०१	१८	सजोगे	संजोगे
२१३	१६	चलाता है	चलता है
२१७	१९	आत्माके	आत्माको
२२६	१६	परिणामन	परिणमन
२३७	३	स्वानुभाव	स्वानुभव
"	२०	दृष्ट	इष्ट
२४६	१	समयं	सगयं
"	३	विराये	विरामे
२४७	८	×	हवे) वह आचरण
"	१२	उपाध्याय	उपाध्याय साधुमें जो प्रीति
"	१५	क	कब होता
"	२१	कमी है इससे	कमी होती है तो
२५५	१६	आदर्श	आदेश
२६९	१५	वने	पने

२८६	५	बुदा	चुदा
२८९	१४	होते हुए	होते
२९०	७	तिर्यंच या	तिर्यंच
२९३	९	किसी	किसीका नाश
३०३	१७	बना देना	बता देना
"	२०	मंडल	कमंडल
३१७	१३	उपसर्ग	उत्सर्ग
३१९	४	समाश्रया	समाश्रय
३३५	१५	अजीवका	जीव अजीव
३३७	३	वेदना न	वेदना नहीं होती है न
३३८	६	इंद्रियोंको	इंद्रियोंके
"	२२	पर	वर
३४५	२३	×	या स्वानुभव ज्ञान होना
३६१	२१	मुमेर	सुमेर
३६२	११	मंझ	मंझार
"	१६	शुक्ला	कृष्णा
३६३	१३	ठाड़े	डाड़े

श्रीमत्कुंदकुंदस्वामी विरचित—
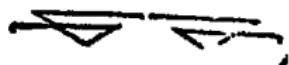
श्रीप्रवचनसारटीका।

तृतीय खण्ड

अर्थात्

चारित्र तत्वदीपिका *

मङ्गलाचरण।

वन्दो पांचों परम पद, निज आतम-रस लीन।
रत्नत्रय स्वामी महा, राग दोष मद हीन ॥ १ ॥
वृषभ आदि महावीर लों, चौबीसों जिनराय।
भरतक्षेत्र या युग विषै, धर्म तीर्थ प्रगटाय ॥ २ ॥
कर निर्मल निज आत्मको, हो परमातम सार।
अन्त विना पीवत रहैं, ज्ञान-सुखामृत धार ॥ ३ ॥
राम हनू सुग्रीव वर, बाहूबलि इन्द्रजीत।
गौतम जम्बू आदि बहु, हुए सिद्ध मलवीत ॥ ४ ॥
जे जे पा स्वाधीनता, अर पवित्रता सार।
हुए निरञ्जन ज्ञान घन, वंदूं वारम्वार ॥ ५ ॥

---

* प्रारम्भ ता० १५-१-२४ मिती पौष सुदी ६ वीर सं० २४५० विक्रम सं० १९८० मंगलवार, दुधनी (शोलापुर)।

सीमन्धरको आदि ले, वर्तमान भगवान ।
दश दो विहर विदेहमें, धर्म करावत पान ॥ ६ ॥
तिनको नमन करूं सरुचि, श्रुतकेवलि उर ध्याय ।
भद्रबाहु अन्तिम भरा, वंदूं मन हुलसाय ॥ ७ ॥
तिनके शिष्य परम भए, चन्द्रगुप्त सम्राट ।
दीक्षा धर साधू हुए, भाव परिग्रह काट ॥ ८ ॥
वंदूं ध्याऊं साधु बहु, जिन पाया अध्यात्म ।
एक तान निज ध्यानमें, हुए शांतकर आत्म ॥ ९ ॥
कुन्दकुन्द मुनिराजको, ध्याऊं बारम्बार ।
योगीश्वर ध्यानी महा, ज्ञानी परम उदार ॥ १० ॥
दयावान उपकार कर, सन्मारग दर्शाय ।
मोह ध्वांत नाशक परम, सुखमय ग्रन्थ बनाय ॥ ११ ॥
निज आतम रस पानकर, अन्य जीव पिलवाय ।
जैसा उद्यम मुनि किया, कथन करो नहिं जाय ॥ १२ ॥
प्रवचनसार महान यह, परमागम गुण खान ।
प्राकृत भाषामें रच्यो, सब जीवन हित जान ॥ १३ ॥
इसपर वृत्ति संस्कृत, अमृतचन्द्र मुनीश ।
करी उसीके भावको, हिन्दी लिख हेमोश ॥ १४ ॥
द्वितीयवृत्ति जयसेनकृत, अनुभव रससे पूर्ण ।
बालबोध हिन्दी नहीं, लिखी कोय अघचूर्ण ॥ १५ ॥
इम लख हम उद्यम किया, हिन्दी हित उर भाय ।
निज मति सम यह दीपिका, उद्योतो हुलसाय ॥ १६ ॥
तृतीय खण्ड चारित्रको, वर्णन बहु हितकार ।
पाठकगण रुचि धर पढ़ो, पालो शक्ति सम्हार ॥ १७ ॥

प्रारम्भ ।

आगे चारित्रतत्त्वदीपिकाका व्याख्यान किया जाता है ।

उत्थानिका:—इस ग्रन्थका जो कार्य था उसकी अपेक्षा विचार किया जाय तो ग्रन्थकी समाप्ति दो खंडोंमें होचुकी है, क्योंकि " उपसंपयामि सम्मं " में साम्यभावमें प्राप्त होता हूं इस प्रतिज्ञाकी समाप्ति होचुकी है ।

तो भी यहां क्रमसे ९७ सत्तानवें गाथाओं तक चूलिका रूपसे चारित्रके अधिकारका व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं । इसमें पहले उत्सर्गरूपसे चारित्रका संक्षेप कथन है उसके पीछे अपवाद रूपसे उसी ही चारित्रका विस्तारसे व्याख्यान है । इसके पीछे श्रमणपना अर्थात् मोक्षमार्गका व्याख्यान है । फिर शुभोपयोगका व्याख्यान है इस तरह चार अन्तर अधिकार हैं । इनमेंसे भी पहले अन्तर अधिकारमें पांच स्थल हैं । "एवं पणमिय सिद्धे" इत्यादि सात गाथाओं तक दीक्षाके सन्मुख पुरुषका दीक्षा लेनेके विधानको कहनेकी मुख्यतासे प्रथम स्थल है । फिर " वद समिदिंदिय " इत्यादि मूलगुणको कहते हुए दूसरे स्थलमें गाथाएं दो हैं । फिर गुरुकी व्यवस्था बतानेके लिये " लिंगग्गहणे " इत्यादि एक गाथा है । तैसे ही प्रायश्चितके कथनकी मुख्यतासे "पयदंहि" इत्यादि गाथाएं दो हैं इस तरह समुदायसे तीसरे स्थलमें गाथाएं तीन हैं । आगे आधार आदि शास्त्रके कहे हुए क्रमसे साधुका संक्षेप समाचार कहने लिये "अधिवासे व वि" इत्यादि चौथे स्थलमें गाथाएं तीन हैं । उसके पीछे भाव हिंसा द्रव्य हिंसाके त्यागके लिये " अपय-

णादो च'र'ण " इत्यादि पांचवें स्थलमें सूत्र छः हैं । इस तरह २१ इक्कीस गाथाओंमें पांच स्थलोंसे पहले अन्तर अधिकारमें समुदाय पातनिका है ।

पहली गाथाकी उत्थानिका-आगे आचार्य निकटभव्य जीवोंको चारित्रमें प्रेरित करते हैं ।

गाथा—

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जद सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ १ ॥

संस्कृतछाया—

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् ।
प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ॥ १ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(जदि) जो (दुक्खपरिमोक्खं) दुःखोंसे छुटकारा (इच्छदि) यह आत्मा चाहता है तो (एवं) ऊपर कहे हुए अनुसार (सिद्धे) सिद्धोंको, (जिणवरवसहे) जिनेन्द्रोंको, (समणे) और साधुओंको (पुणो पुणो) वारंवार (पणमिय) नमस्कार करके (सामण्णं) मुनिपनेको (पडिवज्जद) स्वीकार करे ।

विशेषार्थ-यदि कोई आत्मा संसारके दुःखोंसे मुक्ति चाहता है तो उसको उचित है कि वह पहले कहे प्रमाण जैसा कि "एस सुरासुर मणुसिंद" इत्यादि पांच गाथाओंमें दुःखसे मुक्तिके इच्छक मुझने पंच परमेष्टीको नमस्कार करके चारित्रको धारण किया है अथवा दूसरे पूर्वमें कहे हुए भव्योंने चारित्र स्वीकार किया है इसी तरह वह भी पहले अंजन पादुका आदि लौकिक सिद्धियोंसे विलक्षण अपने आत्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके धारी सिद्धोंको, जिनेंद्रोंमें

श्रेष्ट ऐसे तीर्थंकर परम देवोंको तथा चैतन्य चमत्कार मात्र अपने आत्माके सम्यक् श्रृद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयके आचरण करनेवाले, उपदेश देनेवाले तथा साधनमें उद्यमी ऐसे श्रमण शब्दसे कहने योग्य आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको वार वार नमस्कार करके साधुपनेके चारित्रको स्वीकार करै। सासादन गुणस्थानसे लेकर क्षीण कषाय नामके बारहवें गुणस्थान तक एक देश जिन कहे जाते हैं तथा शेष दो गुणस्थानवाले केवली मुनि जिनवर कहे जाते हैं, उनमें मुख्य जो हैं उनको जिनवर वृषभ था तीर्थङ्कर परमदेव कहते हैं।

यहां कोई शंका करता है कि पहले इस प्रवचनसार ग्रन्थके प्रारम्भके समयमें यह कहा गया है कि शिवकुमार नामके महाराजा यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं शांतभावको या समताभावको आश्रय करता हूं। अब यहां कहा है कि महात्माने चारित्र स्वीकार किया था। इस कथनमें पूर्वापर विरोध आता है। इसका समाधान यह है कि आचार्य ग्रन्थ प्रारम्भके कालसे पूर्व ही दीक्षा ग्रहण किये हुए हैं किन्तु ग्रन्थ करनेके बहानेसे किसी भी आत्माको उस भावनामें परिणमन होते हुए आचार्य दिखाते हैं। कहीं तो शिवकुमार महाराजको व कहीं अन्य भव्य जीवको। इस कारणसे इस ग्रन्थमें किसी पुरुषका नियम नहीं है और न कालका नियम है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य पहले भागमें आत्माके केवलज्ञान और अतींद्रिय सुखकी अद्भुत महिमा बता चुके हैं–उनका यह परिश्रम इसीलिये हुआ है कि भव्य जीवको अपने

शुद्ध अरहंत तथा सिद्धपदकी प्राप्तिकी रुचि उत्पन्न हो-तथा सांसारिक तुच्छ पराधीन ज्ञान तथा तुच्छ पराधीन अतृप्तिकारी सुखसे अरुचि पैदा हो। फिर जिसको निजपदकी रुचि होगई है उसको द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप बतानेके लिये दूसरे खंडमें छः द्रव्योंका भले प्रकार वर्णनकर आत्मा द्रव्यको अन्य द्रव्योंसे भिन्न दर्शाया है। जिससे शिष्यको पदार्थोंका सच्चा ज्ञान हो जावे और उसके अंतरङ्गसे सांसारिक अनेक स्त्री, पुत्र, स्वामी, सेवक, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि क्षणभंगुर अवस्थाओंसे ममत्व निकल जावे तथा भेद विज्ञानकी कला उसको प्राप्त होजावे जिससे वह श्रद्धान व ज्ञानमें सदा ही निज आत्माको सर्व पुद्गल संबंधसे रहित शुद्ध एकाकार ज्ञानानंदमय जानै और मानै।

अब इस तीसरे खंडमें आचार्यने उस भेदविज्ञान प्राप्त जीवको रागद्वेषकी कालिमाको धोकर शुद्ध वीतराग होनेके लिये चारित्र धारण करनेकी प्रेरणा की है, क्योंकि मात्र ज्ञान व श्रद्धान आत्माको चारित्र विना शुद्ध नहीं कर सक्ता। चारित्र ही वास्तवमें आत्माको कर्मबन्धरहित कर परमात्मपदपर पहुंचानेवाला है।

इस गाथामें आचार्यने यही बताया है कि हे भव्य जीव यदि तू संसारके सर्व आकुलतामय दुःखोंसे छूटकर स्वाधीनताका निराकुल अतींद्रिय आनन्द प्राप्त करना चाहता है तो प्रमाद छोड़कर तय्यार हो और वारवार पांच परमेष्ठियोंके गुणोंको स्मरणकर उनको नमस्कार करके निर्ग्रन्थ साधु मार्गके चारित्रको स्वीकार कर, क्योंकि गृहस्थावस्थामें पूर्ण चारित्र नहीं होसक्ता और पूर्ण चारित्र विना आत्माकी पूर्ण प्राप्ति नहीं होसक्ती इसलिये,

सर्व धनधान्यादि परिग्रह त्याग नग्न दिगम्बर मुनि हो भले प्रकार चारित्रका अभ्यास करना जरूरी है। यद्यपि चारित्र निश्चयसे निज शुद्ध स्वभावमें आचरणरूप व रमनरूप है तथापि इस स्वरूपाचरण चारित्रके लिये साधुपदकीसी निराकुलता तथा निरालम्बता सहकारी कारण है। जैसे विना मसालेका सम्बन्ध मिलाए वस्त्रपर रगड़ नहीं दी जासक्ती वैसे विना व्यवहार चारित्रका संबंध मिलाए अन्तरङ्ग साम्यभावरूप चारित्र नहीं प्राप्त होसक्ता है, इसलिये आचार्यने सम्यग्दृष्टी जीवको चारित्रवान होनेकी शिक्षा दी है।

स्वामी समंतभद्राचार्य भी अपने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका कथनकरके सम्यग्दृष्टी जीवको इस तरह चारित्र धारनेकी प्रेरणा करते हैं—

> मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
> रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ ४७॥

भावार्थ-मिथ्यात्वरूप अंधकारके दूर होनेपर सम्यग्दर्शनके लाभसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिको पहुंचा हुआ साधु रागद्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रको स्वीकार करता है।

ये ही स्वामी स्वयंभूस्तोत्रमें भी साधुके परिग्रहरहित चारित्रकी प्रशंसा करते हैं—

> गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षांतिसखीमशिश्रयत्।
> समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत्॥१६॥

भावार्थ—हे अभिनन्दननाथ! आप आत्मीक गुणोंके धारण करनेसे सच्चे अभिनंदन हैं। आपने उस दयारूपी वहूको आश्रयमें लिया है जिसकी क्षमारूपी सखी है। आपने स्वात्म-

समाधिके साधनको प्राप्त किया है और इसी समाधिकी प्राप्तिके लिये ही आपने अपनेको अंतरङ्ग और वहिरङ्ग परिग्रहत्यागरूप दोनों प्रकारके निर्ग्रंथपनेसे शोभायमान किया ॥ १ ॥

उत्थानिका-आगे जो श्रमण होनेकी इच्छा करता है उसको पहले क्षमाभाव करना चाहिये। 'उवट्ठिदो होदिसो समणो' इस आगेकी छठी गाथामें जो व्याख्यान है उसीको मनमें धारण करके पहले क्या२ काम करके साधु होवेगा उसीका व्याख्यान करते हैं-

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारम् ॥ २ ॥
आपृच्छ्य वन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः ।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥ २ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(बन्धुवग्गं) बन्धुओंके समूहको (आपिच्छ) पूछकर (गुरुकलत्तपुत्तेहिं) माता पिता स्त्री पुत्रोंसे (विमोइदो) छूटता हुआ (णाणदसणचरित्ततववीरियायारम्) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य ऐसे पांच आचारको (आसिज्ज) आश्रय करके मुनि होता है।

विशेषार्थः-वह साधु होनेका इच्छक इस तरह बंधुवर्गोंको समझाकर क्षमाभाव करता व कराता है कि अहो वन्धुजनों, मेरे पिता माता स्त्री पुत्रों! मेरी आत्मामें परम भेद ज्ञानरूपी ज्योति उत्पन्न होगई है इससे यह मेरी आत्मा अपने ही चिदानन्दमई एक स्वभावरूप परमात्माको ही निश्चयनयसे अनादि कालके बन्धु वर्ग, पिता, माता, स्त्री, पुत्ररूप मानके उनहीका आश्रय करता है इसलिये आप सब मुझे छोड़ दो-मेरा मोह त्याग दो व मेरे दोषोंपर

क्षमा करो इस तरह क्षमाभाव कराता है। उसके पीछे निश्चय पंचाचारको और उसके साधक आचारादि चारित्र ग्रंथोंमें कहे हुए व्यवहार पंच प्रकार चारित्रको आश्रय करता है।

परम चैतन्य मात्र निज आत्मतत्व ही सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि सो निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा ही ज्ञान सो निश्चयसे सम्यग्ज्ञान है, उसी निज स्वभावमें निश्चलतासे अनुभव करना सो निश्चय सम्यग्चारित्र है, सर्व परद्रव्योंकी इच्छासे रहित होना सो निश्चय तपश्चरण है तथा अपनी आत्मशक्तिको न छिपाना सो निश्चय वीर्याचार है इस तरह निश्चय पंचाचारका स्वरूप जानना चाहिये।

यहां जो यह व्याख्यान किया गया कि अपने बन्धु आदिके साथ क्षमा करावे सो यह कथन अति प्रसङ्ग अर्थात् अमर्यादाके निषेधके लिये है। दीक्षा लेते हुए इस बातका नियम नहीं है कि क्षमा कराए विना दीक्षा न लेवे। क्यों नियम नहीं है? उसके लिये कहते हैं कि पहले कालमें भरत, सगर, राम, पांडवादि बहुतसे राजाओंने जिनदीक्षा धारण की थी। उनके परिवारके मध्यमें जब कोई भी मिथ्यादृष्टि होता था तब धर्ममें उपसर्ग भी करता था तथा यदि कोई ऐसा माने कि बन्धुजनोंकी सम्मति करके पीछे तप करूँगा तो उसके मतमें अधिकतर तपश्चरण ही न होसकेगा, क्योंकि जब किसी तरहसे तप ग्रहण करते हुए यदि अपने संबंधी आदिसे ममताभाव करे तब कोई तपस्वी ही नहीं होसक्ता। जैसा कि कहा है:—"जो सकलणयररज्जं पुव्वं चइऊण कुणइ य ममत्तिं। सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो॥"

भावार्थ–जो पहले सर्व नगर व राज्य छोड़ करके फिर ममता करे वह मात्र भेषधारी है संयमकी अपेक्षासे सार रहित है अर्थात् संयमी नहीं है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने दीक्षा लेनेवाले सम्यग्दृष्टी भव्य जीवके लिये एक मर्यादारूप यह वतलाया है कि उस समय वह स्वयं सर्व कुटुम्बादिके ममत्वसे रहित होजावे। उसके चित्तमें ऐसी कोई आकुलता न पैदा होनी चाहिये जिससे वह दीक्षा लेनेके पीछे उनकी चिंतामें पड़ जावे। इसलिये उचित है कि वह राज्य पाट, धनधान्य आदिका उचित प्रबंध करके उनका भार जिसको देना हो उसको देदे। किसीका कर्ज हो उसे भी दे देवे। अपनेसे किसीके साथ अत्याचार या अन्याय हुआ हो तो उसकी क्षमा करावे व किसीकी कोई वस्तु अन्यायसे ली हो तो उसको उसकी दे देवै। यदि कोई दान धर्मके कार्योमें धनका उपयोग करना हो तो कर देवे तथा सर्व कुटुम्बसे अपनी ममता छुड़ानेको व उनकी ममता अपनेसे व इस संसारसे छुड़ानेको उनको धर्मरस गर्भित उपदेश देकर शांत करे।

उनको कहे कि आप सब जानते हैं कि आपका सम्बन्ध मेरे इस शरीरसे है जो एक दिन छूट जानेवाला है किन्तु मेरी आत्मासे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा अजर अमर अविनाशी है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है। उसका निज सम्बन्ध अपने चैतन्यमई ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि गुणोंसे है। जब इस मेरी आत्माका सम्बन्ध दूसरे आत्मासे व उसके गुणोंसे नहीं है तब इसका सम्बन्ध इस शरीरसे व शरीरके सम्बन्धी आप सब बंधु

जनोंसे कैसे होसक्ता है ? जब इस प्राणीका जीव शरीरसे अलग होजाता है तब सब बन्धुजन उस जीवको नहीं पकड़ सक्ते जो शरीरको छोड़ते ही एक, दो, तीन समयके पीछे ही अन्य शरीरमें पहुंच जाता है किन्तु वे विचारे उस शरीरको ही निर्जीव जानकर बड़े आदरसे शरीरको दग्धकर संतोप मान लेते हैं। उस समय सब बन्धुजनोंको लाचार हो संतोप करना ही पडता है। एक दिन मेरे शरीरके लिये भी वही समय आनेवाला है। मैं इस शरीरसे तपस्या करके व रत्नत्रयका साधन करके उसी तरह मुक्तिका उपाय करना चाहता हूं जिस तरह प्राचीनकालमें श्री रिषभादि तीर्थंकरोंने व श्री बाहुबलि, भरत, सगर, राम, पांडवादिकोंने किया था। इसलिये मुझे आत्म कार्यके लिये सन्मुख जानकर आपको कोई विषाद न करना चाहिये किन्तु हर्ष मानना चाहिये कि यह शरीर एक उत्तम कार्यके लिये तय्यार हुआ है। आपको मोहभाव दिलसे निकाल देना चाहिये क्योंकि मोह संसारका बीज है। मोह कर्म बन्ध करनेवाला है। वास्तवमें मैं तो आत्मा हूं उससे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। हां जिस शरीर रूपी कुटीमें मेरा आत्मा रहता है उससे आपका सम्बन्ध है—आपने उसके पोपणमें मदद दी है सो यह शरीर जड़ पुद्गल परमाणुओंसे बना है, उससे मोह करना मूर्खता है। यह शरीर तो सदा बनता व विगड़ता रहता है। मेरे आत्मासे यदि आपको प्रेम है तो जिसमें मेरे आत्माका हित हो उस कार्यमें मेरेको उत्साहित करना चाहिये। मैं मुक्तिसुन्दरीके वरनेको मुनिदीक्षाके अश्वपर आरूढ़ हो ज्ञान संयम तपादि बरातियोंको साथ लेकर जानेवाला हूं। इस समय आप सबको इस मेरी आत्माके यथार्थ विवाहके समय मंगलाचरणरूप

जिनेन्द्र गुणगान करके मुझे वधाई देनी चाहिये तथा मेरी सहायता करनेको व मेरेसे हित दिखलानेको आपको भी इस नाशवंत अतृप्तिकारी संसारके मायाजालसे अपने इस उलझे हुए मनको छुड़ाकर मुक्तिके अनुपम अतीन्द्रिय आनन्दके लेनेके लिये मेरे साथ मुनिव्रत व आर्यिकाके व्रत व गृहत्यागी क्षुल्लकादि श्रावकके व्रत धारण करनेका भाव पैदा करना चाहिये ।

प्रिय माता पिता ! आप मेरे इस आत्माके माता पिता नहीं हैं क्योंकि यह अजन्मा और अनादि है, आप मात्र इस शरीरके जन्मदाता हैं जो जड़ पुद्गलमई है । आपका रचा हुआ शरीर मेरे मुक्तिके साधनमें उद्यमी होनेपर विषयकषायके कार्योंसे छूटते हुए एक हीन कार्यसे मुनिव्रत पालनमें सहाई होनेरूप उत्कृष्ट कार्यमें काम आरहा है उसके लिये आपको कोई शोक न करके मात्र हर्षभाव वताना चाहिये ।

प्रिय कान्ते ! तू मेरे इस शरीररूपी झोपड़ेको खिलानेवाली व इससे नेह करके मुझे भी अपने शरीरमें नेह करानेवाली है । तेरा मेरा भी सम्बन्ध इस शरीरके ही कारण है—मेरे आत्माने कभी किसीसे विवाह किया नहीं, उसकी स्त्री तो स्वानुभूति है जो सदा उसके अंगमें परम प्रेमालु हो व्यापक रहती है । तू मेरे शरीरकी स्त्री है । तुझे इस शरीर द्वारा उत्तम कार्यके होते हुए कोई शोक न करके हर्ष मानना चाहिये तथा स्वयं भी अपने इस क्षणभंगुर जड़ शरीरसे आत्महित करलेना चाहिये । संसारमें जो विषयभोगोंके दास हैं वे ही मूर्ख हैं । जो आत्मकार्यके कर्ता हैं वे ही बुद्धिमान हैं ।

हे प्रिय पुत्र पुत्रियो ! तुम भी मुझसे ममताकी डोर तोड़दो ।

तुम्हारे आत्माका मैं जन्मदाता नहीं–जिस शरीरके निर्माणमें मेरेसे सहायता हुई है वह शरीर जड़ है। यदि तुमको मेरे उपकारको स्मरणकर 'जो मैंने तुम्हारे शरीरके लालनपालनमें किया है' मेरा भी कुछ प्रत्युपकार करना है तौ तुम यही कर सक्ते हो कि इस मेरे आत्मकार्यमें तुम हर्षित हो मेरेको उत्साहित करो तथा मेरी इस शिक्षाको सदा स्मरण कर उसके अनुसार चलो कि धर्म ही इस जीवका सच्चा मित्र, माता, पिता, बन्धु है। धर्मके साधनमें किसी भी व्यक्तिको प्रमाद न करना चाहिये। विषयकषायका मोह नर्क निगोदादिको लेजानेवाला है व धर्मका प्रेम स्वर्ग मोक्षका साधक है।

प्रिय कुटुम्बीजनों! तुम सबका नाता मेरे इस शरीरसे है। मेरे आत्मासे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये इस क्षणभंगुर शरीरको तपस्यामें लगते हुए तुम्हें कोई शोक न करके बड़ा हर्ष मानना चाहिये और यह भावना भानी चाहिये कि तुम भी अपने इस देहसे तप करके निर्वाणका साधन करो।

इस तरह सर्वको समझाकर उन सबका मन शांत करे। यदि वे समझाए जानेपर भी ममत्व बढ़ानेकी बातें करें, संसारमें उलझे रहनेकी चर्चा करें तो उनपर कोई ध्यान न देकर साधु पदवी धारनेके इच्छक हो स्वयं ममताकी डोर तोड़कर गृह त्यागकर चले जाना चाहिये। 'वे जबतक ममता न छोड़े, मैं कैसे गृहवास तजूं' इस मोहके विकल्पको कभी न करना चाहिये।

यह कुटुम्बको समझानेकी प्रथा एक मर्यादा मात्र है। इस बातका नियम नहीं है कि कुटुम्बको समझाए विना दीक्षा ही न लेवे। बहुतसे ऐसे अवसर आजाते हैं कि जहां कुटुम्ब अपने

निकट नहीं होता है और दीक्षाके इच्छकके मनमें वैराग्य आजाता है वह उसी समय गुरुसे दीक्षा ले लेता है। यदि कुटुम्ब निकट हो तो उसके परिणामोंको शांतिदायक उपदेश देना उचित है। यदि निकट नहीं है तो उसके समझानेके लिये कुटुम्बके पास आना फिर दीक्षा लेना ऐसी कोई आवश्यक्ता नहीं है। यह भी नियम नहीं है कि अपने कुटुम्बी अपने ऊपर क्षमाभाव करदें तब ही दीक्षा लेवे। आप अपनेसे सबपर क्षमा भाव करे। गृहस्थ कुटुम्बी वैर न छोड़ें तो आप दीक्षासे रुके नहीं। बहुधा शत्रु कुटुम्बियोंने मुनियोंपर उपसर्ग किये हैं।

दीक्षा लेनेवालेको अपना मन रागद्वेष शून्य करके समता और शांतिसे पूर्णकर लेना चाहिये फिर वह निश्चय रत्नत्रय रूप स्वानुभवसे होनेवाले अतीन्द्रिय आनन्दके लिये व्यवहार पंचाचारको धारण करे अर्थात् छःद्रव्य, पञ्चास्तिकाय, साततत्त्व, नौ पदार्थकी यथार्थ श्रद्धा रक्खे; प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चार प्रकार ज्ञानके साधनोंका आराधक होवे; पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्तिरूप चारित्रपर आरूढ़ होवे; अनशनादि बारह प्रकार तपमें उद्यमी होवे तथा आत्मवीर्यको न छिपाकर बडे उत्साहसे मुनिके योग्य क्रियाओंका पालक होवे—अनादि कालीन कर्मके पिंजरेको तोडकर किस तरह शीघ्र मैं स्वाधीन हो जाऊं और निरन्तर स्वात्मीकरसका पान करूं इस भावनामें तल्लीन हो जावे। जैसा मूलाचार अनगार भावनामें कहा है:—

णिम्मालियसुमिणाविय धणकणयसमिद्धबंधवजणं च ।
पयहंति वीरपुरिसा विरत्तकामा गिहावासे ॥ ७७४ ॥

भावार्थ—वीर पुरुष ग्रहवाससे विरक्त होकर 'जैसे भोगे हुए फूलोंको नीरस समझकर छोड़ा जाता है' इस तरह धन सुवर्णादि सहित बन्धुजनोंका त्याग कर देते हैं ॥ २ ॥

उत्थानिका—आगे जिन दीक्षाको लेनेवाला भव्य जीव जैनाचार्यका शरण ग्रहण करता है ऐसा कहते हैं:—

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तंपि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥३॥

श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम्।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥ ३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(समणं) समताभावमें लीन, (गुणड्ढं) गुणोंसे परिपूर्ण, (कुलरूववयोविसिट्ठम्) कुल, रूप तथा अवस्थासे उत्कृष्ट, (समणेहिं इट्ठतरं) महामुनियोंसे अत्यन्त मान्य (तं गणिं) ऐसे उस आचार्यके पास प्राप्त होकर (पणदो) उनको नमस्कार करता हुआ (च अपि) और निश्चय 'करके (मां पडिच्छ) मेरेको अंगीकार कीजिये' (इदि) ऐसी प्रार्थना करता हुआ (अणुगहिदो) आचार्य द्वारा अंगीकार किया जाता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थः-जिनदीक्षाका अर्थी जिस आचार्यके पास जाकर दीक्षाकी प्रार्थना करता है उसका स्वरूप बताते हैं कि वह निन्दा व प्रशंसा आदिमें समताभावको रखके पूर्व सूत्रमें कहे गए निश्चय और व्यवहार पञ्च प्रकार आचारके पालनेमें प्रवीण हों, चौरासीलाख गुण और अठारह हजार शीलके सहकारी कारणरूप जो अपने शुद्धात्माका अनुभवरूप उत्तम गुण उससे परिपूर्ण हों। लोगोंकी

घृणासे रहित जिनदीक्षाके योग्य कुलको कुल कहते हैं। अन्तरंग शुद्धात्माका अनुभवरूप निर्ग्रंथ निर्विकाररूपको रूप कहते हैं। शुद्धात्मानुभवको विनाश करनेवाले वृद्धपने, बालपने व यौवनपनेके उद्धतपनेसे पैदा होनेवाली बुद्धिकी चंचलतासे रहित होनेको वय कहते हैं। इन कुल, रूप तथा वयसे श्रेष्ठ हो तथा अपने परमात्मा तत्त्वकी भावनासहित समचित्तधारी अन्य आचार्योंके द्वारा सम्मत हों। ऐसे गुणोंसे परिपूर्ण परमभावनाके साधक दीक्षाके दाता आचार्यका आश्रय करके उनको नमस्कार करता हुआ यह प्रार्थना करता है कि–

हे भगवन्! अनंतज्ञान आदि अरहंतके गुणोंकी सम्पदाको पैदा करनेवाली व जिसका लाभ अनादिकालमें भी अत्यन्त दुर्लभ रहा है ऐसी भाव सहित जिनदीक्षाका प्रसाद देकर मेरेको अवश्य स्वीकार कीजिये, तब वह उन आचार्यके द्वारा इस तरह स्वीकार किया जाता है। कि "हे भव्य इस असार संसारमें दुर्लभ रत्नत्रयके लाभको प्राप्त करके अपने शुद्धात्माकी भावनारूप निश्चय चार प्रकार आराधनाके द्वारा तू अपना जन्म सफल कर।"

भावार्थः–इस गाथामें आचार्यने जिनदीक्षादाता आचार्यका स्वरूप बताकर उनसे जिनदीक्षा लेनेका विधान बताया है:—

जिससे जिन दीक्षा ली जावे वह आचार्य यदि महान् गुणधारी न हो तो उसका प्रभाव शिष्योंकी आत्माओंपर नहीं पडता है। प्रभावशाली आचार्यका शिष्यपना आत्माको सदा आचार्यके अनुकरणमें उत्साहित करता रहता है। यहां आचार्यके चार विशेषण बताए हैं–समण शब्दसे यह दिखलाया है कि वह आचार्य समताकी दृष्टिका धरनेवाला हो, अपनी निन्दा, प्रशंसामें एक भाव रखता

हो, धनवान व निर्धनको एक दृष्टिसे देखता हो, लाभ अलाभमें समान हो, पूजा किये जानेपर प्रसन्न व अपमान किये जानेपर अप्रसन्न न होता हो। वास्तवमें आचार्यका अवलोकन अन्तरंग लोकपर रहता है। अंतरंग लोक हरएक शरीरके भीतर शुद्ध आत्मा मात्र है अर्थात् जैसा आत्मा आचार्यका है वैसा ही आत्मा सर्व प्राणीमात्रका है। इस दृष्टिके धारी मुनिमें अवश्य समताभाव रहता है, क्योंकि वे शरीर व कायकी क्रियाओंकी ओर अधिक लक्ष्य न देकर आत्मकार्यमें ही दृढ़ रहते हैं। जैसा कि स्वामी पूज्यपादने समाधिशतक व इष्टोपदेशमें कहा है—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

भावार्थ—आत्मज्ञानके सिवाय अन्य कार्यको बुद्धिमें अधिक समय तक धारण न करे। प्रयोजन वश किसी कार्यको उसमें लव-लीन न होकर वचन और कायसे करे।

ब्रुवन्नपि न हि ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति !
स्थिरीकृतात्मतत्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

भावार्थ—आत्मस्वभावके भीतर दृढ़तासे विश्वास करनेवाला व आत्मानंदकी रुचिवाला कुछ बोलते हुए भी मानो कुछ नहीं बोलता है, जाते हुए भी नहीं जाता है, देखते हुए भी नहीं देखता है अर्थात् उस आत्मज्ञानीका मुख्य ध्येय निज आत्मकार्य ही रहता है।

दूसरा विशेषण गुणाढ्य है। आचार्य साधु योग्य २८ अट्ठाईस मूलगुणोंको पालनेवाले हों तथा आचार्यके योग्य छत्तीस

गुणोंसे विभूषित हों। व्यवहार चारित्रके गुणोंके साथ २ निज आत्मीक रत्नत्रयके मननरूपी मुख्यगुणसे विभूषित हों। श्री वट्टकेर आचार्य प्रणीत श्री मूलाचार ग्रन्थमें आचार्यकी प्रशंसामें इस प्रकार कहा है—

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइ मग्गया समणा ॥ ८०१ ॥

भावार्थ–जो पांच महाव्रतोंके धारी हों, पांच समितियोंमें लीन हों, निष्कम्पभाव वाले हों, पांचों इंद्रियोंके विजयी हों तथा पञ्चम–सिद्ध गतिके खोजी हों वे ही श्रमण होते हैं।

अणुवद्धतवोकम्मा खवणवसगदा तवेण तणुअंगा ।
धीरा गुणगंभीरा अभग्गजोगाय दिढचरित्ताय ॥८२१॥

भावार्थ–जो निरन्तर तपके साधन करनेवाले हों, क्षमा गुणके धारी हों, तपसे शरीर जिनका कृश होगया हो, धीर हों व गुणोंमें गंभीर हों, अखंड ध्यानी हों तथा दृढ़ चारित्रके पालनेवाले हों।

वसुधम्मिवि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयांई ।
जोवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥७९८॥ (अ० भा०)

भावार्थ–पृथ्वीमें विहार करते हुए जो कभी किसी प्राणीको कष्ट नहीं देते हों। तथा सर्व जीवोंकी रक्षामें ऐसे दयालु हैं जैसे माता अपने पुत्र पुत्रियोंकी रक्षामें दयालु होती है।

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु ।
अप्पट्ठं चिंतंता हवंति अव्वावडा साहू ॥८०३॥ (अ० भा०)

भावार्थ–जो शस्त्र व दंड आदि हिंसाके उपकरणोंसे रहित

हों, सर्व प्राणी मात्रमें समताभावके धारी हों, निज आत्माके स्वभावके चिन्तवन करनेवाले हों तथा गार्हस्थ्य सम्बन्धी व्यापारसे मुक्त हों वे ही श्रमण साधु होते हैं।

तीसरा विशेषण यह है कि वे कुल रूप तथा वयमें श्रेष्ठ हों। जिसका भाव यह है कि उनका कुल निष्कलंक हो अर्थात् जिस कुलमें कुत्सित आचरणसे लोक निंदा होरही हो उस कुलका धारी आचार्य न हो क्योंकि उसका प्रभाव अन्य साधुओंपर नहीं पड़ सक्ता है तथा रूप उनका परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ, शांत व भव्य जीवोंके मनको आकर्षण करनेवाला हो और आयु ऐसी हो जिससे दर्शकोंको यह प्रगट हो कि यह आचार्य बड़े अनुभवी हैं व बड़े सावधान तथा गुणी और गंभीर हैं—अति अल्प आयु व वृद्ध आयु व उद्धतता सहित युवा आयु आचार्यपदकी शोभाको नहीं देसक्ती है। वास्तवमें आचार्यका कुल, रूप तथा अवस्था अन्य साधुओंके मनमें उनके शरीरके दर्शन मात्रसे प्रभावको उत्पन्न करनेवाले हों।

चौथा विशेषण यह है कि वे आचार्य अन्य आचार्य तथा साधुओंके द्वारा माननीय हों। अर्थात् आचार्य ऐसे गुणी, तपस्वी, आत्मानुभवी तथा शांतस्वभावी हों कि सर्व ही अन्य आचार्य व साधु उनके गुणोंकी प्रशंसाकर्त्ता व स्तुतिकर्त्ता हों।

ऐसे चार विशेषण सहित आचार्यके पास जाकर वैराग्यवान दीक्षाके उत्सुक भव्यजीवको उचित है कि नमस्कार, पूजा व भक्तिके करके अत्यन्त विनयसे हस्त जोड़ यह प्रार्थना करे कि महाराज, मुझे वह जिनेश्वरी दीक्षा प्रदान कीजिये जिसके प्रतापसे अनेक तीर्थंकरादि महापुरुषोंने शिवसुन्दरीको वरा है व जिसपर आरूढ़

हो आप स्वयं जहाजके समान तरण तारण होकर रागद्वेष मई संसारसमुद्रसे पार होकर परमानन्दमई आत्मस्वभावकी प्रगटता रूप मोक्ष नगरकी ओर जारहे हो ।

मेरे मनमें इस असार संसारसे इस अशुचि शरीरसे व इन अतृप्तिकारी व पराधीन पंचेंद्रियके भोगोंसे उदासीनता होरही है । मेरे मनने सम्यग्दर्शनरूपी रसायनका पानकर निज आत्मानुभाव रूपी अमृतका स्वाद पाया है अतः उसके सन्मुख सांसारिक विषय सुख मुझे विषतुल्य भास रहा है । मैं अब आठ कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होना चाहता हूं जिनके कारण इस प्राणीको पुनः पुनः शरीर धारण कर व पंचेंद्रियोंकी इच्छाके दासत्वमें पडकर अपना समय विषयसुखके पदार्थोंके संग्रहमें व्ययकर भी अंतमें इच्छाओंको न पूर्ण करके हताश हो पर्याय छोड़ना पडता है । मैं अब उन कर्म-शत्रुओंका सर्वथा नाश करना चाहता हूं जिन्होंने मेरे अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूपी धनको मुझसे छिपा रक्खा और मुझे हीन, दीन, दुर्बल तथा ज्ञान व सुखका दलिद्री बनाकर चार गतियोंमें भ्रमण कराकर महान् वचनातीत कष्टोंमें पटका है ।

हे परम पावन, परम हितकारी वैद्यवर ! संसार रोगको सर्वथा निर्मूल करनेको समर्थ ऐसी परम सामायिकरूपी औषधि और उसके पीने योग्य मुनि दीक्षाका चारित्र मुझे अनुग्रह कर प्रदान कीजिये ।

इस प्रार्थनाको सुनकर प्रवीण आचार्य उस प्रार्थीके मन वचन कायके वर्तनसे ही समझ जाते हैं कि इसमें मुनि पदके साधन करनेकी योग्यता है और यदि कुछ शंका होती है तो प्रश्नोत्तर करके व अन्य गृहस्थोंसे परामर्श करके निर्णय कर लेते

हैं। जब आचार्यको उसके संबन्धमें पूर्ण निश्चय हो जाता है तब वे दयावान हो उसको स्वीकार करते हुए यह बचन कहते हैं-

हे भव्य! तुमने बहुत अच्छा विचार किया है। जिस मुनिव्रत लेनेकी आकांक्षासे इन्द्रादि देव अपने मनमें यह भावना करते हैं कि कब यह मेरी देवगति समाप्त हो व कब मैं उत्तम मनुष्य जन्मूं और संयमको धारुं, उसी मुनिव्रतके धारनेको तुम तय्यार हुए हो। तुमने इस नरजन्मको सफल करनेका विचार किया है। वास्तवमें उच्च तथा निर्विकल्प आत्मध्यानके विना कर्मके पुद्गल 'जिनकी स्थिति कोड़ाकोड़ि सागरके अनुमान होती है' अपनी स्थिति घटाकर आत्मासे दूर नहीं होसक्ते हैं। जिस उच्च धर्म-ध्यान तथा शुक्लध्यानसे आत्मा शुद्ध होता है उसके अंतरंगमें लाभ विना बाहरी मुनि पदके योग्य आचरणरूपी सामग्रीका सम्बन्ध मिलाए नहीं होसक्ता है अतएव तुमने जो परिग्रह त्याग निर्ग्रंथ होनेका भाव अपने मनमें जागृत किया है, यह भाव अवश्य तुम्हारी मंगलकामनाको पूर्ण करनेवाला है।

अब तुम इस शरीरके सर्व कुटुम्बके ममत्त्वको त्यागकर निज आत्माके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि रूप अमिट कुटुम्बियोंके प्रेमी हुए हो, इससे तुम्हें अवश्य वह मुक्तिकी अखंड लक्ष्मी प्राप्त होगी जो निरंतर सुख व शांति देती हुई आत्माको परम कृतकृत्य तथा परम पावन और परमानंदित रखती है। इस तरह आत्मरस-गर्भित उपदेश देकर आचार्य अनुग्रहकर उस शिष्यको स्वीकार करते हैं॥ ३॥

उत्थानिका—आगे गुरु द्वारा स्वीकार किये जानेपर वह

जिस प्रकार स्वरूपका धारी होता है उसका उपदेश करते हैं—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि ।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥ ४ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति ममेह किंचित् ।
इति निश्चितो जितेन्द्रियः यातो यथाजातरूपधरः ॥ ४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अहं) मैं (परेसिं) दूसरोंका (ण होमि) नहीं हूं (ण मे परे) न दूसरे द्रव्य मेरे हैं। इस तरह (इह) इस लोकमें (किंचि) कोई भी पदार्थ (मज्झम्) मेरा (णत्थि) नहीं है । (इदि णिच्छिदो) ऐसा निश्चय करता हुआ (जिदिंदो) जितेंद्रिय (जधजादरूवधरो) और जैसा मुनिका स्वरूप होना चाहिए वैसा अर्थात् नग्न या निर्ग्रन्थ रूप धारी (जादो) होजाता है ।

विशेषार्थ-दीक्षा लेनेवाला साधु अपने मन वचन कायसे सर्व परिग्रहसे ममता त्याग देता है । इसीलिये वह मनमें ऐसा निश्चय कर लेता है कि मेरे अपने शुद्ध आत्माके सिवाय और जितने पर द्रव्य हैं उनका सम्बन्धी मैं नहीं हूं और न पर द्रव्य मेरे कोई सम्बन्धी हैं । इस जगतमें मेरे सिवाय मेरा कोई भी परद्रव्य नहीं है तथा वह अपनी पांच इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पजालोंसे रहित व अनन्त ज्ञान आदि गुण स्वरूप अपने परमात्म द्रव्यसे विपरीत इंद्रिय और नोइंद्रियको जीत लेनेसे जितेन्द्रिय होजाता है। और यथाजात रूपधारी होजाता है अर्थात् व्यवहारनयसे नग्नपना यथाजातरूप है और निश्चयसे अपने आत्माका जो यथार्थ स्वरूप है वह यथाजात रूप है। साधु इन दोनोंको धारण करके निर्ग्रन्थ हो जाता है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने भावलिंग और द्रव्यलिंग दोनोंका संकेत किया है और साधुपद धारनेवालेके लिये तीन विशेषण बताए हैं। अर्थात् निर्ममत्त्व हो, जितेन्द्रिय और यथाजात रूपधारी हो।

निर्ममत्त्व विशेषणसे यह झलकाया है कि उसका किसी प्रकारका ममत्त्व किसी भी परद्रव्यसे न रहना चाहिये। स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मित्र, कुटुम्बी, पशु आदि चेतन पदार्थ; ग्राम, नगर, देश, राज्य, घर, वस्त्र, आभूषण, वर्तन, शरीर आदि अचेतन पदार्थ इन सर्वसे जिसका विलकुल ममत्व न रहा हो। न जिसका ममत्व आठ कर्मोंके वने हुए कार्मण शरीरसे हो, न तैजस वर्गणासे निर्मित तैजस शरीरसे हो, न उन रागद्वेषादि नैमित्तिक भावोंसे हो जो मोहनीय कर्मके उदयके निमित्तसे आत्माके अशुद्ध उपभोगमें झलकते हैं, न शुभोपभोग रूप दान पूजा, जप, तप आदिसे जिसका मोह हो—उसने ऐसा निश्चय कर लिया हो कि शुभभाव वन्धके कारण हैं इससे त्यागने योग्य हैं। वह ऐसा निर्मोही हो जावे कि अपने शुद्ध निर्विकार ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणधारी आत्मस्वभावके सिवाय किसी भी परद्रव्यको अपना नहीं जाने, यहांतक कि अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पांचों परमेष्ठियोंसे और अन्य आत्माओंसे भी मोह नहीं रखे। स्याद्वाद नयका ज्ञाता होकर वह ज्ञानी साधु ऐसा समझे कि अपना शुद्ध अखंड आत्मद्रव्य अपने ही शुद्ध असंख्यात प्रदेशरूप क्षेत्र, अपने ही शुद्ध समय२ के पर्याय तथा अपने ही शुद्ध गुण तथा गुणांश ऐसे स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भावकी अपेक्षा मेरा अस्तित्त्व मेरे ही में है।

मेरे इस आत्मद्रव्यमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभावोंका नास्तित्त्व है। मैं अस्तिनास्ति स्वरूप होकर ही सबसे निराला अपनी शुद्ध सत्ताका धारी एक आत्मद्रव्य हूं। ऐसा निर्ममत्त्व भाव जिसके मन वचन तनमें कूट कूटकर भर जाता है वही साधु है। श्री समयसारजीमें साधुके निर्ममत्त्वभावमें श्री कुन्दकुन्द-आचार्यने इस तरह कहा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सया रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिव अण्णं परमाणुमित्तं वि ॥४३॥

भावार्थ—मैं प्रगटपने एक अकेला हूं, शुद्ध हूं, दर्शनज्ञान स्वभाववाला हूं और सदा अरूपी या अमूर्तीक हूं। मेरे सिवाय अन्य परमाणु मात्र भी कोई वस्तु मेरी नहीं है।

श्री मूलाचारमें कहा है कि साधु इस तरह ममतारहित होजावे।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥ ४५ ॥
आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए ॥ ४६ ॥

भावार्थ—मैं ममताको त्यागता हूं और निर्ममत्त्व भावमें प्राप्त होता हूं। मेरा आलम्वन एक मेरा आत्मा ही है। मैं और सबको त्यागता हूं। निश्चयसे मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा जोगमें एक आत्मा ही है अर्थात् मैं आत्मस्थ होता हूं वहीं ये ज्ञान दर्शनादि सभी गुण प्राप्त होते हैं।

श्री अमितिगति आचार्यने बृहत् सामायिकपाठमें कहा है—

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने कांचने लोष्ठवर्गे।
सौख्ये दुःखे शुनि नरवरे संगमे यो वियोगे॥
शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढः।
प्रौढा स्त्रीव प्रथितमहसस्तस्य सिद्धिः करस्था॥३५॥

भावार्थ—जो सज्जन व दुर्जनमें, सभा व वनमें, सुवर्ण व कंकड़ पत्थरमें, सुख व दुःखमें, कुत्ते व श्रेष्ठ मनुष्यमें, संयोग व वियोगमें सदा समान बुद्धिधारी, धीरवीर, रागद्वेषसे शून्य वीतरागी रहता है उसी तेजस्वी पुरुषके हाथको मुक्तिरूपी स्त्री नवीन स्त्रीके समान ग्रहण कर लेती है।

दूसरा विशेषण जितेन्द्रियपना है। साधुको अपनी पांचों इन्द्रियों और मनके ऊपर ऐसा स्वामीपना रखना चाहिये जिस तरह एक घुड़स्वार अपने घोड़ोंपर स्वामित्त्व रखता है। वह कभी भी इन्द्रिय व मनकी इच्छाओंके आधीन नहीं होता है क्योंकि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे उसकी रुचि इंद्रियसुखसे दूर होकर आत्मजन्य अतीन्द्रिय आनन्दकी ओर तन्मय होगई है। इंद्रियसुख अतृप्तकारी तथा संसारमें जीवोंको लुब्ध रखकर क्लेशित करनेवाला है जब कि अतीन्द्रिय सुख आत्माको संतोषित करके मुक्तिके मनोहर सदनमें ले जानेवाला है। ऐसा विश्वासधारी ज्ञानी जीव स्वभावसे ही जितेन्द्रिय होजाता है। वह इंद्रिय विजयी साधु अपनी इंद्रियोंसे व मनसे आत्मानुभवमें सहकारी स्वाध्याय आदि कार्योंको लेता है—वह उनकी इच्छाओंके अनुकूल विषयोंके वनोंमें दौड़कर आकुलित नहीं होता है। श्री मूलाचारजीमें कहा है—

जो रसेन्दिय फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे॥ २६॥

जो रूपगंधसद्दे य भोगे वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥ ३० ॥
(षडावश्यक)

भावार्थ—जो साधु रमना व स्पर्श सम्बन्धी कामसेवनकी इच्छाको सदा दूर रखता है उसीके साम्यभाव होता है ऐसा केवली भगवानके शासनमें कहा है। जो नाना प्रकार रूप, गंध, व शब्दोंकी इच्छाओंका निरोध करता है उसीके सामायिक होती है ऐसा केवली महाराजके शासनमें कहा है।

इंद्रियोंके भोगोंसे विजय प्राप्त करनेके लिये साधु इस तरह भावना करता है, जैसा श्री कुलभद्रआचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है—

कृमिजालशताकीर्णे दुर्गंधमलपूरिते ।
विण्मूत्रसंवृते स्त्रीणां का काये रमणीयता ॥ १२४ ॥
अहो ते सुखितां प्राप्ता ये कामानलवर्जिताः ।
सद्वृत्तं विधिना पाल्य यास्यन्ति पदमुत्तमं ॥ १२५ ॥
षट्खंडाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम् ।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षा दैगम्बरी स्थिता ॥ १३६ ॥
आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत्सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखं ॥ ३०१ ॥

भावार्थ—जो स्त्रियोंका शरीर सैकड़ों कीड़ोंसे भरा है, दुर्गंध मलसे पूर्ण है तथा विष्टा और मूत्रका स्थान है उसमें रमनेयोग्य क्या रमनीकता है? अहो वे ही सुखी रहते हैं जो कामकी अग्निको शांत किये हुए विधिपूर्वक उत्तम चारित्रको पालकर उत्तम पदमें पहुंच जाते हैं। छः खण्ड पृथ्वीके स्वामी चक्रवर्ती भी इस पृथ्वीको व सर्व भोगोंको तृणके समान जान छोड़कर दिगम्बरी दीक्षाको धारण कर चुके हैं। वास्तवमें जो आत्माके आधीन अतीन्द्रिय

आनन्द है उसको बुद्धिमानोंने सुख कहा है—जो इंद्रियाधीन पराधीन सुख है वह दुःख ही है सुख नहीं है ।

स्वामी समन्तभद्रने स्वयभूस्तोत्रमें इंद्रियसुखको इस तरह हेय बताया है—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥३०॥

भावार्थ—श्री सुपार्श्वनाथ भगवानने कहा है कि जीवोंका सच्चा स्वार्थ अपने आत्मामें स्थित होना है, क्षणभंगुर भोगोंका भोगना नहीं है क्योंकि इंद्रियोंका भोग करनेसे तृष्णाकी वृद्धि हो जाती है तथा विषयभोगकी ताप कभी शांत नहीं होसक्ती ।

इस तरह सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे वस्तुस्वरूपको विचारते हुए साधु महात्माको जितेंद्रियपना प्राप्त होता है ।

तीसरा विशेषण यथाजातरूपधारी है। इससे यह प्रयोजन है कि साधुका आत्मा पूर्ण शांत होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें रमण करता हुआ उसके साथ एकरूप—तन्मय हो जाता है। साधु वारवार छठे सातवें गुणस्थानमें आता जाता है। छठेमें यद्यपि कुछ ध्याता, ध्येय व ध्यानका भेद बुद्धिमें झलकता है तथापि सातवें गुणस्थानमें आत्मामें ऐसी एकाग्रता रहती है कि ध्याता ध्यान ध्येयके विकल्प भी मिट जाते हैं। जिस स्वभावमें स्वानुभवके समय द्वैतताका अभाव हो जाता है—मात्र अद्वैत रूप आप ही अकेला अनुभवमें आता है, वहां ही यथाजातरूपपना भाव लिंग है। इसी भावमें ही निश्चय मोक्षमार्ग है। यहीं रत्नत्रयकी एकता

है । इसीसे ही साधुको परमानन्दका स्वाद आता है । इसी भावसे ही पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

श्री समयसार कलशमें श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं:—

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१०-७॥

भावार्थ—यह आत्मा सर्व विश्वसे विभिन्न है तौ भी जिस मोहके प्रभावसे यह मूढ़ होकर विश्वको अपना कर लेता है । वह मोहकी जड़से उत्पन्न हुआ मोह भाव जिनके नहीं होता है वे ही वास्तवमें साधु हैं । इस अद्वैत स्वानुभवरूप भाव साधुपनेकी भावना निरन्तर करना साधुका कर्तव्य है । इसी भावनाके बलसे वह पुनः पुनः स्वानुभवका लाभ पाया करता है । समयसारकलशमें उसी भावनाके भावको इस तरह बताया है:—

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे—
　　शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै—
　　र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २३/११ ॥

भावार्थ जब मेरेमें शुद्ध आत्मस्वभावकी महिमा प्रगट हो गई है, जहां स्याद्वादसे प्रकाशित शोभायमान तेज झलक रहा है तब मेरेमें बंध मार्ग तथा मोक्षमार्गमें ले जानेवाले अन्य भावोंसे क्या प्रयोजन—मेरेमें तो वही शुद्धस्वभाव नित्य उदयरूप प्रकाशमान रहो ।

स्वात्मानन्दका भोग उपयोगमें होना ही निश्चयसे साधुपना है । विना इसके मोक्षका साधन हो नहीं सक्ता ।

श्री देवसेन आचार्य श्री तत्त्वसारमें कहते हैं:—

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो सम्वेय णियअप्पाणं।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ॥४६॥

भावार्थ-जो योगी ध्यानमें स्थित होकर भी यदि निज आत्माका अनुभव नहीं करता है तो वह शुद्ध आत्मस्वभावको नहीं पाता है। जैसे भाग्यरहितको रत्न मिलना कठिन है।

श्री नागसेन मुनिने तत्त्वानुशासनमें भावमुनिके स्वरूपको इसतरह दिखलाया है:—

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान् मोह एव सः ॥ १६९ ॥
आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयं ॥ १७७ ॥
पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान्।
निरस्ताहं ममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥

भावार्थ—समाधिमें स्थित योगी द्वारा यदि ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव नहीं किया जाता है तो उसके आत्मध्यान नहीं है। वह केवल मूर्छावान है अर्थात् मोह स्वरूप ही है। आत्माको अन्यसे संयुक्त देखता हुआ योगी द्वैतभावका विचार करता है, परन्तु उसीको अन्योंसे भिन्न अनुभव करता हुआ एक अद्वैत शुद्ध आत्माहीको देखता है।

आत्माको एकाग्रभावसे अनुभव करता हुआ योगी पूर्व बद्ध कर्ममलोंका क्षय करता है तथा अहंकार ममकार भावको दूर रखता हुआ आगामी कर्मके आश्रवका संवर भी करता है। वास्त-

वमें यही मुनिका यथाजातरूपपना है । यथाजातरूप विशेषणका दूसरा अर्थ वस्त्रादि परिग्रह रहित निर्ग्रन्थपना या नग्नपना है ।

साधुका मन जबतक इतना दृढ़ न होगा कि यह वस्त्रके अभावमें शीत, उष्ण, वर्षा, डांस मच्छर आदि व भूमिशयन आदिके कष्टको सहजमें सह सके तबतक उसका मन देहके ममत्वसे रहित नहीं होता हुआ आत्मानन्दमें यथार्थ एकाग्रताका लाभ नहीं करता है । इसलिये यह द्रव्यलिंग साधुके अंतरंग भावलिंगके लिये निमित्त कारण है । निमित्तके अभावमें उपादान अपनी अवस्थाको नहीं बदल सक्ता है । जैसा निमित्त होता है वैसा ही उपादानमें परिणमन होता है ।

जैसे सुन्दर भोजनका दर्शन भोजनकी लालसा होनेमें, सुन्दर स्त्रीका दर्शन कामभोगकी इच्छा होनेमें, १६ वाणीका अग्निका ताव सुवर्णको शुद्ध बतानेमें निमित्त हैं । वैसे शुद्ध निर्विकल्प भावलिंगरूप आत्माके भावोंके परिणमनमें साधुका परिग्रह रहित नग्न होना निमित्त है । जैसा बालक जन्मके समयमें होता है वैसा ही होजाना साधुका यथा जात रूप है । यहां गृहस्थकी संगतिमें पड़ कर जो कुछ वस्त्राभूषण स्त्री आदिका ग्रहण किया था उस सर्वका त्यागकर जैसा जन्मा था वैसा होजाना साधुका सच्चा विरक्त या त्याग भाव है ।

शरीर आत्माके वासका सहकारी है, तपस्याका साधक है । इसलिये शरीर मात्रकी रक्षा करते हुए और शरीरपर जो कुछ परवस्तु धार रक्खी थी उसको त्याग करते हुए जो सहनशील और वीर होते हैं वे ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राके धारक हैं । मनकी दृढ़तासे

बड़े २ कष्ट सहजमें सहे जासक्ते हैं। एक लोभी मजूर ज्येष्ठकी उष्णतामें नंगे पैर काष्ठका बोझा लिये चला जाता है उस समय पैसेके लोभने उसके मनको दृढ़ कर दिया है। एक व्यापारी वणिक धन कमानेकी लालसासे उष्णकालमें मालको उठाता धरता, बीनता संवारता कुछ भी कष्ट नहीं अनुभव करता है क्योंकि लोभ कषायने उस समय उसके मनको दृढ़ कर दिया है। इसी तरह आत्मरसिक साधु आत्मानन्दकी भावनासे प्रेरित हो तपस्या करते हुए तथा शीत, घाम, वर्षा, डांस मच्छर आदि बाईस परीसहोंको सहते हुए भी कुछ भी कष्ट न मालूम करके आत्मानन्दका स्वाद लेरहे हैं, क्योंकि आत्मलाभके प्रेमने उनके मनको दृढ़ कर दिया है।

जो कायर हैं वे नग्नपना धार नहीं सक्ते। वीरोंके लिये युद्धमें जाना, शत्रु द्वारा प्रेरित बाण-वर्षाका सहना तथा शत्रुका विजयपाना एक कर्तव्य कर्म है वैसे ही वीरोंके लिये कर्म शत्रुओंके साथ लड़नेको मुनिपदके युद्धमें जाना, अनेक परीसह व उपसर्गोंका सहना. तथा कर्म शत्रुको जीतना एक कर्तव्य कर्म है। दोनों ही वीर अपने २ कार्यमें उत्साही व आनंदित रहते हैं।

नग्नपना धारना कोई कठिन बात भी नहीं है। हरएक कार्य अभ्याससे सुगम होजाता है। श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका जो अभ्यास करते हैं उनको धीरे २ वस्त्र कम करते हुए ग्यारहवें पदमें एक चंद्दर और एक लंगोटी ही धारनेका अभ्यास हो जाता है। बस फिर साधु पदमें लंगोटीका भी छोड़ देना सहज होजाता है। जहां तक शरीरमें शीत उष्ण डांस मच्छर आदिके सहनेकी शक्ति न हो व लज्जा व कामभावका नाश न होगया हो वहांतक

साधु पदके योग्य वह व्यक्ति नहीं होता है। साधुपदमें नग्नपना मुख्य आलम्बन है। जैसी दशामें जन्म हुआ था वैसी दशामें अपनेको रखना ही यथाजातरूपपना है। जो कुछ वस्त्राभरणादि ग्रहण किये थे उन सबका त्याग करना ही निर्ग्रन्थ पदको धारण करना है। श्री मूलाचारजीमें इस नग्नपनेको अट्ठाइस मूलगुणोंमें गिनाया जिसका स्वरूप ऐसा बताया है—

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं ।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥ ३० ॥
(मूलगुण अ०)

भावार्थ—जहां कम्बलादि वस्त्र, मृगछाला आदि चर्म, वृक्षोकी छाल वकल, व वृक्षोंके पत्ते आदिका कोई प्रकारका ढकना शरीरपर न हो, आभूषण न हों, तथा बाहरी स्त्री पुत्र धन धान्यादि व अन्तरङ्ग मिथ्यात्व आदि २४ परिग्रहसे रहित हों वहीं जगतमें पूज्य अचेलकपना या वस्त्रादि रहितपना, परमहंश स्वरूप नग्नपना होता है। वस्त्रोंके रखनेसे उनके निमित्तसे इनको धोने धुलानेमें हिंसा होगी। उनके भीतर न धोनेसे जन्तु पड़ जांयगे तब बैठते उठते हिंसा करनी पड़ेगी अतएव अहिंसा महाव्रतका पालन वस्त्र रखनेमें नहीं होसक्ता है।

स्वामी समन्तभद्रने श्री नमिनाथकी स्तुति करते हुए कहा है:—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमम् ।
न सा तत्रारंभोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम् ।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ११ ॥

भावार्थ-प्राणियोंकी हिंसा न करना जगतमें एक परमब्रह्म भाव है, जिस आश्रममें थोड़ा भी आरम्भ है वहां यह अहिंसा नहीं है इसीसे उस अहिंसाकी सिद्धिके लिये आप परम करुणा-धारीने अतरङ्ग बहिरंग दोनों ही प्रकारकी परिग्रहका त्याग कर दिया और किसी प्रकारके जटा मुकुट भस्मधारी आदि वेषोंमें व वस्त्राभरणादि परिग्रहमें रञ्चमात्र रति नहीं रक्खी अर्थात् आप यथाजातरूपधारी होगए। श्री विद्यानंदस्वामी पात्रकेशरी स्तोत्रमें कहते हैं—

जिनेश्वर न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो।
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता।
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते॥४१॥

भावार्थ-हे जिनेंद्र! आपके मतमें साधुओंके लिये ऊन कपासादिके वस्त्र रखना व भिक्षा लेनेका पात्र रखना नहीं कहा गया है। इनको सुखका कारण जानके स्वयं असमर्थ साधुओंने इनका विधान किया है। यदि परिग्रह सहित मुनिपना भी मोक्षमार्ग हो जावे तो आपका नग्न होना वृथा होजावे, क्योंकि यदि वृक्षका फल हाथसे ही मिलना सहज हो तो कौन बुद्धिमान वृक्षपर चढ़ेगा।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं:—

षट्खंडाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम्।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षा दैगम्बरी स्थिता॥ १३६॥

भावार्थ—छः खंडका स्वामी चक्रवर्ती भी सर्व पृथ्वीको और सर्व भोगोंको तिनकेके समान त्यागकर दिगम्बरी दीक्षाको धारण करते हैं।

पंडित आशाधरजीने अनगारधर्मामृतमें नाग्न्य परीषहको कहते हुए साधुके नग्नपना ही होता है ऐसा बताया है:—

निर्ग्रन्थनिर्भूषण विश्वपूज्यनाग्न्यव्रतो दोषयितुं प्रवृत्ते ।
चित्तं निमित्ते प्रबलेपि यो न स्पृश्येत दोषैर्जितनाग्न्यरुक् सः ॥९४अ.६

वही साधु नग्नपनेकी परिषहको जीतनेवाला है जो चित्तको विगाड़नेके प्रबल निमित्त होनेपर भी रागद्वेषादि दोषोंसे लिप्त नहीं होता है । उसीका नग्नपनेका व्रत जगतपूज्य है, उसमें न कोई वस्त्रादि परिग्रहका ग्रहण है और न आभूषणादिका ग्रहण है ।

इस तरह इस गाथामें यह दृढ़ किया गया है कि साधुके निर्ममत्व जितेन्द्रियपना और नग्नपना होना ही चाहिये ॥ ४ ॥

उत्थानिका—आगे यह उपदेश करते हैं कि पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण यथाजातरूपधारी निर्ग्रन्थके अनादिकालमें भी दुर्लभ ऐसी निज आत्माकी प्राप्ति होती है । इसी स्वात्मोपलब्धि लक्षणको बतानेवाले चिन्ह उनके बाहरी और भीतरी दोनों लिंग होते हैं:—

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥ ५ ॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जोण्हं ॥ ६ ॥

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं शुद्धम् ।
रहितं हिंसादितो प्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥ ५ ॥
मूर्छारम्भवियुक्तं युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम् ।
लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम् ॥ ६ ॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(लिंगं) मुनिका द्रव्य या बाहरी चिन्ह (जधजादरूवजादं) जैसा परिग्रह रहित नग्नस्वरूप

होता है वैसा होता है (उप्पाडिदकेसमंसुगं) जिसमें सिर और डाढ़ीके बालोंका लोच किया जाता है (सुद्धं) जो निर्मल और (हिंसादीदो रहिदं) हिंसादि पापोंसे रहित तथा (अप्पडिकम्मं) श्रृंगार रहित (हवदि) होता है। तथा (लिंगं) मुनिका भाव चिन्ह (मुच्छारम्भविजुत्तं) ममता आरम्भ करनेके भावके रहित तथा (उवजोगजोगसुद्धीहिं जुत्तं) उपयोग और ध्यानकी शुद्धि सहित (परावेक्खं ण) परद्रव्यकी अपेक्षा न करनेवाला (अपुणब्भवकारणं) मोक्षका कारण और (जोण्हं) जिन सम्बन्धी होता है।

विशेषार्थः—जैन साधुका द्रव्यलिंग या शरीरका चिन्ह पांच विशेषण सहित जानना चाहिये—(१) पूर्व गाथामें कहे प्रमाण निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित नग्न होता है (२) मस्तकके और डाढ़ी मूछोंके श्रृंगार सम्बन्धी रागादि दोषोंके हटानेके लिये सिर व डाढ़ी मूछोंके केशोंको उपाड़े हुए होता है (३) पाप रहित चैतन्य चमत्कारके विरोधी सर्व पाप सहित योगोंसे रहित शुद्ध होता है (४) शुद्ध चैतन्यमई निश्चय प्राणकी हिंसाके कारणभूत रागादि परिणतिरूप निश्चय हिंसाके अभावसे हिंसादि रहित होता है (५) परम उपेक्षा संयमके बलसे देहके संस्कार रहित होनेसे श्रृंगार रहित होता है। इसी तरह जैन साधुका भाव लिंग भी पांच विशेषण सहित होता है। (१) परद्रव्यकी इच्छा रहित व मोह रहित परमात्माकी ज्ञान ज्योतिसे विरुद्ध बाहरी द्रव्योंमें ममताबुद्धिको मूर्छा कहते हैं तथा मन वचन कायके व्यापार रहित चैतन्यके चमत्कारसे प्रतिपक्षी व्यापारको आरम्भ कहते हैं। इन दोनोंमें मूर्छा और आरम्भसे रहित होता है (२) विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण धारी

उपयोग और निर्विकल्प समाधिमई योग इन दोनोंकी शुद्धि सहित होता है (३) निर्मल आत्मानुभवकी परिणति होनेसे परद्रव्यकी सहायता रहित होता है (४) वारवार जन्म धारणको नाश करने-वाले शुद्ध आत्माके परिणामोंके अनुकूल पुनर्भव रहित मोक्षका कारण होता है (५) व जिन भगवान सम्बंधी अथवा जैसा जिनेंद्रने कहा है वैसा होता है। इस तरह जैन साधुके द्रव्य और भाव लिंगका स्वरूप जानना चाहिये।

भावार्थ-आचार्यने पूर्व गाथामें मुनिपदकी जो अवस्था बताई थी उसीको विशेषरूपसे इन दो गाथाओंमें वर्णन किया गया है। मुनिपदके दो प्रकार चिन्ह होते हैं एक वहिरंग दूसरे अन्तरङ्ग। इन्हींको क्रमसे द्रव्य और भाव लिंग कहते हैं। वाहरके लिंगके पांच विशेषण यहां वताए हैं। पहला यह कि मुनि जन्मके समय नग्न वालकके समान सर्व वस्त्रादि परिग्रहसे रहित होते हैं इसीको यथाजातरूप या निर्ग्रंथरूप कहते हैं। दूसरा चिन्ह यह है कि मुनिको दीक्षा लेते समय अपने मस्तक डाढ़ी मूछोंके केशोंका लोच करना होता है वैसे ही दो तीन या चार मास होनेपर भी लोच करना होता है। इसलिये उनका वाहरी रूप ऐसा मालूम होता है मानो उन्होंने स्वयं अपने हाथों हीसे घासके समान केशोंको उखाड़ा है। लोच करना मुनिका आवश्यक कर्तव्य है। जैसा मूलाचा-रजीमें कहा है:—

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्स मज्झिमजहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासे णेव कायव्वो॥ २९॥

(मूलगुण अ०)

भावार्थ—केशोंका लोच दो मासमें करना उत्कृष्ठ है, तीन मासमें करना मध्यम है, चार मासमें करना जघन्य है। प्रतिक्रमण सहित लोच करना चाहिये अर्थात् लोच करके प्रतिक्रमण करना चाहिये और उस दिन अवश्य उपवास करना चाहिये। मूलाचारकी वसुनंदि सिद्धांत चक्रवर्तीकृत संस्कृतवृत्तिसे यह भाव झलकता है कि दो मासके पुर्ण होनेपर उत्कृष्ट है, तीन मास पूर्ण हों व न पूर्ण हों तब करना मध्यम है, तथा चार मास अपूर्ण हों व पूर्ण हों तब करना जघन्य है। नाधिकेषु शब्द कहता है कि इससे अधिक समय विना लोच न रहना चाहिये। दो मासके पहले भी लोच नहीं करना चाहिए वैसे ही चार माससे अधिक विना लोच नहीं रहना चाहिये। लोच शब्दकी व्याख्या इस तरह है— "लोचः वालोत्पाटनं हस्तेन मस्तककेशश्मश्रुणामपनयनं जीवसम्मूर्छनादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं स्ववीर्यप्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति"

भावार्थः—हाथसे वालोंको उखाडना लोच है। मस्तकके केश व डाढ़ी मूछके केशोंको दूर करना चाहिये जिसके लिये ५ हेतु हैं— (१) सन्मूर्छन विकलत्रय आदि जीवोंकी उत्पत्ति बचानेके लिये (२) रागादि भावोंको दूर करनेके लिये (३) आत्मबलके प्रकाशके लिये (४) सर्वसे उत्कृष्ट तपस्या करनेके लिये (५) मुनिपनेके लिंगको प्रगट करनेके लिये। छुरी आदिसे लोच न कराके हाथोंसे क्यों करते हैं इसके लिये लिखा है "दैन्यवृत्तियाचनपरिग्रहपरिभवादिदोषपरित्यागात्" अर्थात् दीनतापना, याचना, ममता व लज्जित होने आदि दोषोंको त्याग करनेके लिये।

अनगारधर्मामृतमें भी कहा है:—

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः स्यात् ।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः ॥ ८६ अ० ९

लोच दो, तीन, चार मासमें उत्कृष्ठ, मध्यम, जघन्य होता है । सो लोचके पहले लघु सिद्धभक्ति और योग भक्ति करे, पूरा करके भी लघु भक्ति करे। प्रतिक्रमण तथा उपवास भी करे।

तीसरा विशेषण द्रव्य लिंगका शुद्ध है । जिससे यह भाव झलकता है कि उनका शरीर निर्मल आकृतिको रखता है—उसमें वक्रता व कषायका झलकाव नहीं होता है । जहां परिणामोंमें मैल होता है वहां मुख आदि बाहरी अंगोंमें भी मैल या कुटिलता झलकती है। साधुके निर्मल भाव होते हैं इसलिये मुख आदि अङ्ग उपंगोंमें सरलता व शुद्धता प्रगट होती है। जिनका मुख देखनेसे उनके भीतर भावोंकी शुद्धता है ऐसा ज्ञान दर्शकको होजाता है।

चौथा विशेषण हिंसादिसे रहितपना है । मुनिकी बाहरी क्रियाओंसे ऐसा प्रगट होना चाहिये कि वे परम दयावान हैं । स्थावर व त्रस जीवोंका वध मेरे द्वारा न होजावे इस तरह चलने, बैठने, सोने, बोलने, भोजन करने आदिमें वर्तते हैं, कभी असत्य, कटुक, पीडाकारी वचन नहीं बोलते हैं, कभी किसी वस्तुको विना दिये नहीं लेते हैं, आवश्यक्ता होनेपर भी वनके फलोंको व नदी वापिकाके जलको नहीं लेते, मन वचन कायसे शीलव्रतको सर्व दोषोंसे बचाकर पालते हैं, कभी कोई सचित्त अचित्त परिग्रह रखते नहीं, न आरम्भ करते हैं। इस तरह जिनका द्रव्यलिंग पंच पापोंसे रहित होता है ।

पांचवां विशेषण यह है कि मुनिका द्रव्यलिंग प्रतिकर्म रहित होता है। मुनि महाराज अपने शरीरकी जरा भी शोभा नहीं चाहते हैं इसी लिये दतौन नहीं करते, स्नान नहीं करते, उसे किसी भी तरह भूषित नहीं करते हैं। इस तरह जैसे पांच विशेषण द्रव्यलिंगके हैं वैसे ही पांच विशेषण भाव लिंगके हैं। मुनि महाराजका भाव इस भावसे रहित होता है कि निज आत्माके सिवाय कोई भी परवस्तु मेरी है। उनको सिवाय निज शुद्ध भावके और सब भाव हेय झलकते हैं, न उनके भावोंमें असि मसि आदि व चूल्हा चक्की आदि आरम्भ करनेके विचार होते हैं इसलिये उनका भाव मूर्छा और आरम्भ रहित होता है। ४६ दोष ३२ अन्तराय टालकर भोजन करूँ ऐसा उनके नित्य विचार रहता है। दूसरा विशेषण यह है कि उनके उपयोग और योगकी शुद्धि होती है। उपयोगकी शुद्धिसे अर्थ यह है कि वे अशुभोपयोग और शुभोपयोगमें नहीं रमते, उनकी रमणता रागद्वेष रहित साम्यभावमें अर्थात् शुद्ध आत्मीक भावमें होती है। योगकी शुद्धिसे मतलब यह है कि उनके मनवचन काय थिर हों और वे ध्यानके अभ्यासी हों। उनके योगोंमें कुटिलता न होकर ध्यानकी अत्यन्त आशक्तता हो। तीसरा विशेषण यह है कि उनका भाव परकी अपेक्षा रहित होता है। अर्थात् भावोंमें स्वात्मानुभवकी तरफ ऐसा झुकाव है कि वहां परद्रव्योंके आलम्बनकी चाह नहीं होती है-वे नित्य निजानन्दके भोगी रहते हैं। चौथा विशेष यह है कि मुनिका भाव मोक्षका साक्षात् कारण रूप अभेद रत्नत्रयमई होता है। भावोंमें निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक् चारित्रकी तन्मयता रहती है यही मुक्तिका

मार्ग है इसीसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। पांचवा विशेषण यह है कि मुनिका भाव जिन सम्बन्धी होता है अर्थात् जैसा तीर्थंकरोंका मुनि अवस्थामें भाव था वैसा भाव होता है अथवा जिन आगममें जो साधुके योग्य भावोंका रहस्य कहा है उससे परिपूर्ण होता है। ऐसे द्रव्य और भाव लिंगधारी साधु ही सच्चे जैनके साधु हैं। श्री देवसेन आचार्यने तत्त्वसारमें कहा है:—

बहिरब्भंतरगंथा मुक्का जे णेह तिविहजोएण।
सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ सवणो ॥१०॥
लाहालाहे सरिसो सुहदुक्खे तह य जीविए मरणे।
बन्धो अरयसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोई ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिसने बाहरी और भीतरी परीग्रहको मन वचन काय तीनों योगोंसे त्याग दी है वह जिनचिन्हका धारी मुनि निर्ग्रंथ कहा गया है। जो लाभ हानिमें, सुख दुःखमें, जीवन मरणमें बंधु शत्रुमें समान भावका धारी है वही योगी ध्यान करनेको समर्थ है।

श्री गुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें साधुओंका स्वरूप इसतरह बताया है—

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः।
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः—
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः।
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

भावार्थ—जो विरक्त साधु सर्व शास्त्रके भलेप्रकार ज्ञाता हैं, जो सर्व पापोंसे दूर हैं, जो अपने आत्महितमें चित्तको धारण किये हुए हैं, जो शांतभाव सहित सर्व आचरण करते हैं, जो स्वपर

हितकारी वचन बोलते हैं व जो सर्व संकल्पोंसे रहित हैं वे क्यों नहीं मोक्षके पात्र होंगे ? अवश्य होंगे ॥ ७ ॥

उत्थानिका-आगे यह कहते हैं कि मोक्षार्थी इन दोनों द्रव्य और भावलिंगोंको ग्रहणकर तथा पहले भावि नैगमनयसे जो पंच आचारका स्वरूप कहा गया है उसको इस समय स्वीकार करके उस चारित्रके आधारसे अपने स्वरूपमें तिष्ठता है वही श्रमण होता है-

आदाय तंपि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥७॥

आदाय तदपि लिङ्गं गुरुणा परमेण तं नमस्कृत्य ।
श्रुत्वा सव्रतं क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमणः ॥ ७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(परमेण गुरुणा) उत्कृष्ट गुरुसे (तंपि लिंगं) उस उभय लिंगको ही (आदाय) ग्रहण करके फिर (तं णमंसित्ता) उस गुरुको नमस्कारके तथा (सवदं किरियं) व्रत सहित क्रियाओंको (सोच्चा) सुन करके (उवट्ठिदो) मुनि मार्गमें तिष्ठता हुआ (सो) वह मुमुक्षु (समणो) मुनि (हवदि) होजाता है।

विशेषार्थ-दिव्यध्वनि होनेके कालकी अपेक्षा परमागमका उपदेश करनेरूपसे अर्हंत भट्टारक परमगुरु हैं, दीक्षा लेनेके कालमें दीक्षादाता साधु परमगुरु हैं। ऐसे परमगुरु द्वारा दी हुई द्रव्य और भाव लिंगरूप मुनिकी दीक्षाको ग्रहण करके पश्चात् उसी गुरुको नमन करके उसके पीछे व्रतोंके ग्रहण सहित बृहत् प्रतिक्रमण क्रियाका वर्णन सुनकरके भलेप्रकार स्वस्थ होताहुआ वह पूर्वमें कहा हुआ तपोधन अब श्रमण होजाता है।

विस्तार यह है कि पूर्वमें कहे हुए द्रव्य और भाव लिंगको धारण करनेके पीछे पूर्व सूत्रोंमें कहे हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्यरूप पांच आचारोंका आश्रय करता है। फिर अनन्त ज्ञानादि गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कारसे तैसे ही उन गुणोंको कहनेवाले वचन रूप द्रव्य नमस्कारसे गुरु महाराजको नमस्कार करता है। उसके पीछे सर्व शुभ व अशुभ परिणामोंसे निवृत्तिरूप अपने स्वरूपमें निश्चलतासे तिष्ठनेरूप परम सामायिकव्रतको स्वीकार करता है। मन,वचन,काय, कृत, कारित, अनुमोदनासे तीन जगत तीन कालमें भी सर्व शुभ अशुभ कर्मोंसे भिन्न जो निज शुद्ध आत्माकी परिणतिरूप लक्षणको रखनेवाली क्रिया उसको निश्चयसे बृहत् प्रतिक्रमण क्रिया कहते हैं। व्रतोंको धारण करनेके पीछे इस क्रियाको सुनता है, फिर विकल्प रहित होकर कायका मोह त्यागकर समाधिके बलसे कायोत्सर्गमें तिष्ठता है। इस तरह पूर्ण मुनिकी सामग्री प्राप्त होनेपर वह पूर्ण श्रमण या साधु होजाता है यह अर्थ है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने मुनि होनेकी विधिको संकोच करके कहा है कि जो मुनिपद धारनेका उत्साही होता है वह किसी दीक्षा देने योग्य गुरुकी शरणमें जाता है और उनकी आज्ञासे वस्त्राभूषण त्याग, सिर आदिके केशोंको उखाड़, नग्न मुद्राधार मोर पिच्छिका और कमण्डलु ग्रहण करके द्रव्यलिंगका धारी होता है। अन्तरङ्गमें पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुप्तिका अवलंबन करके भाव लिंगको स्वीकार करता है, पश्चात् दीक्षादाता गुरुमें परम भक्ति रखता हुआ उनको भाव सहित नमस्कार करता है।

तब गुरु उसको व्रतोंका स्वरूप तथा प्रतिक्रमण क्रियाका स्वरूप निश्चय तथा व्यवहार नयसे समझाते हैं। उसको सुनकर वह बडे आदरसे धारणामें लेता है व सर्व शरीरादिसे ममत्व त्याग ध्यानमें लवलीन हो जाता है। इस तरह सामायिक चारित्रका धारी यह साधु होकर 'मोक्षमार्गकी साधना साम्यभावरूपी गुफामें तिष्ठनेसे होती है' ऐसा श्रद्धान रखता हुआ निरन्तर साम्यभावका आश्रय लेता हुआ कर्मोंकी निर्जरा करता है। साधुपदमें सर्व परिग्रहका त्याग है किन्तु जीवदयाके लिये मोर पिच्छिका और शौचके लिये जल सहित कमण्डल इसलिये रक्खे जाते हैं कि महाव्रतोंके पालनेमें बाधा न आवे। इनसे शरीरका कोई ममत्व नहीं सिद्ध होता है। साधु महाराज अपने भावोंको अत्यन्त सरल, शांत व अध्यात्म रसपूर्ण रखते हैं। मौन सहित रहनेमें ही अपना सच्चा हित समझते हैं। प्रयोजनवश बहुत अल्प बोलते हैं फिर भी उसमें तन्मय नहीं होते हैं। श्री पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है—

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥४०॥
ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

भावार्थ—साधु महाराज निर्जन स्थानके प्रेमालु होकर एकांतमें वास करना चाहते हैं तथा कोई निजी कार्यके वशसे कुछ कहकर शीघ्र भूल जाते हैं इसलिये वे कहते हुए भी नहीं कहते हैं, जाते हुए भी नहीं जाते हैं, देखते हुए भी नहीं देखते हैं कारण यह है कि उन्होंने अपने आत्मतत्वमें स्थिरता प्राप्त करली

है । वास्तवमें साधु महाराज आत्मानुभवमें ऐसे लीन होते हैं कि उनको अपने आत्मभोगके सिवाय अन्य कार्यकी अन्तरङ्गसे रुचि नहीं होती है ।

साधुका द्रव्यलिंग वस्त्र रहित नग्न दिगम्बर होता है । जहां तक वस्त्रका सम्बन्ध है वहां तक श्रावकका व्रत पालना योग्य है । श्वेतांबर जैन ग्रन्थोंमें नग्न भेषको ही श्रेष्ठ कहा है । प्रवचनसारोद्धारके प्रकरण रत्नाकर भाग तीसरा (मुद्रित भीमसिंह माणिकजी सं० १९३४) पृष्ठ १३४ में है "पाउरण वज्जियाणं विसुद्धजिणकप्पियाणं तु" अर्थात् जे प्रावरण एटले कपड़ा वर्जित छे ते स्वल्पोपधि पणे करी विशुद्ध जिनकल्पिक कहेवाय छे. भाव यह है कि जो वस्त्र रहित होते हैं वे विशुद्ध जिनकल्पी कहलाते हैं ।

आचारांग सूत्र (छपा १९०६ राजकोट प्रेस प्रोफेसर रावजीभाई देवराज द्वारा) में अध्याय आठवेंमें नग्न साधुकी महिमा है—

' जे भिक्खू अचेले परिवुसिते तस्स णं एवं भवति चाएमि अहं तण फासं अहियासित्तए,सीयफासं अहियासित्तए तेउफासं अहिया सित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगतरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए (४३३ गाथा पृ. १२६)

भावार्थ—जो साधु वस्त्र रहित दिगम्बर हो उसको यह होगा कि मैं घासका स्पर्श सह सक्ता हूं, शीत ताप सह सक्ता हूं, दंशमशकका उपद्रव सह सक्ता हूं और दूसरी भी अनुकूल प्रतिकूल परीषह सह सक्ता हूं । इसी सूत्रमें यह भी कथन है कि महावीर स्वामीने नग्न दीक्षा ली थी तथा बहुत वर्ष नग्न तप किया (अ० ९ पृ० १३९–१४१) श्री मूलाचारजीमें गाथा १४ में कहा है

कि संयमोपधि पिच्छिका है तथा शौचोपधि कमण्डल है जैसे "संयमोपधिः प्राणिदयानिमित्तं पिच्छिकादिः शौचोपधिः मूत्रपुरीषादिप्रक्षालन निमित्तं कुंडिकादि द्रव्यम्। अर्थात् प्राणियोंकी रक्षाके वास्ते पिच्छिका तथा मूत्रमलादि धोनेके वास्ते कमण्डल रखते हैं। मयूरके पंखोंकी पीछी क्यों रखनी चाहिये इसपर मूलाचारमें कहा है—

रजसेदाणमगहणं मद्दवसुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति॥ ६१०॥

भावार्थ—जिसमें ये पांच गुण हैं वही पिछिका प्रशंसा योग्य है—(१) (२) जिसमें धूला व पसीना न लगे। अर्थात् जो धूल और पसीनेसे मैली न हो (३) जो वहुत कोमल हो कि आंखमें भी फेरी हुई व्यथा न करे "मृदुत्त्वं चक्षुषि प्रक्षिप्तमपि न व्यथयति" (४) जो सुकुमार अर्थात् दर्शनीय हो (५) जो हलकी हो। ये पांचों गुण मोर पिच्छिकामें पाए जाते हैं "यत्रैते पञ्चगुणा द्रव्ये संति तत्प्रतिलेखनं मयूरपिच्छग्रहणं प्रशंसति" जिसमें ये पांच गुण हैं उसीकी पिच्छिका ठीक है। इसीलिये आचार्योंने मोर पीछीको सराहा है।

ऊपरकी गाथाओंका सार यह है कि साधुका बाहरी चिन्ह नग्नभेष, पीछी कमंडल सहित होता है। आवश्यक्ता पडनेपर ज्ञानका उपकरण शास्त्र रखते हैं। अंतरङ्ग चिन्ह अभेद रत्नत्रयमई आत्मामें लीनता होती है और मुनि योग्य आचरणके पालनमें उत्साह होता है।

इस तरह दीक्षाके सन्मुख पुरुषकी दीक्षा लेनेके विधानके कथनकी मुख्यतासे पहले स्थलसे सात गाथाएं पूर्ण हुईं॥ ७॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जब निर्विकल्प सामायिक नामके संयममें ठहरनेको असमर्थ होकर साधु उससे गिरता है तब सविकल्प छेदोपस्थापन चारित्रमें आ जाता है—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सकमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं, ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ ८ ॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ ९ ॥

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचैलक्यमस्नानम् ।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तं च ॥ ८ ॥
एते खलु मूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः ।
तेषु प्रमत्तः श्रमणः छेदोपस्थापको भवति ॥९॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(वदसमिदिंदियरोधो) पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इंद्रियोंका निरोध (लोचावस्सं) केशलोंच, छः आवश्यक कर्म (अचेलमण्हाणं) नग्नपना, स्नान न करना, (खिदिसयणमदंतवणं) पृथ्वीपर सोना, दन्तवन न करना (ठिदिभोयणमेयभत्तं च) खडे हो भोजन करना, और एकवार भोजन करना (एदे) ये (समणाणं मूलगुणा) साधुओंके अट्ठाईस मूल गुण (खलु) वास्तवमें (जिणवरेहि पण्णत्ता) जिनेन्द्रोंने कहे हैं। (तेसु पमत्तो) इन मूलगुणोंमें प्रमाद करनेवाला (समणो) साधु (छेदावट्ठावगो) छेदोपस्थापक अर्थात् व्रतके खण्डन होनेपर फिर अपनेको उसमें स्थापन करनेवाला (होदि) होता है।

विशेषार्थ–निश्चय नयसे मूल नाम आत्माका है उस आत्माके केवलज्ञानादि अनंत गुणमूल गुण हैं। ये सब मूलगुण उस समय प्रगट

होते हैं जब विकल्प रहित समाधिरूप परम सामाईक नामके निश्चय व्रतके द्वारा 'जो मोक्षका बीज है' मोक्ष प्राप्त होजाती है। इस कारणसे वही सामाईक आत्माके मूल गुणोंको प्रगट करनेके कारण होनेसे निश्चय मूलगुण होता है। जब यह जीव निर्विकल्प समाधिमें ठहरनेको समर्थ नहीं होता है तब जैसे कोई भी सुवर्णको चाहने-वाला पुरुष सुवर्णको न पाता हुआ उसकी कुंडल आदि अवस्था विशेषोंको ही ग्रहण कर लेता है, सर्वथा सुवर्णका त्याग नहीं करता है तैसे यह जीव भी निश्चय मूलगुण नामकी परम समा-धिका लाभ न होनेपर छेदोपस्थापना नाम चारित्रको ग्रहण करता है। छेद होनेपर फिर स्थापित करना छेदोपस्थापना है। अथवा छेदसे अर्थात् व्रतोंके भेदसे चारित्रको स्थापन करना सो छेदोप-स्थापना है। वह छेदोपस्थापना संक्षेपसे पांच महाव्रत रूप है। उन ही व्रतोंकी रक्षाके लिये पांच समिति आदिके भेदसे उसके अट्ठाईस मूलगुण भेद होते हैं। उन ही मूलगुणोंकी रक्षाके लिये २२ परीषहोंका जीतना व १२ प्रकार तपश्चरण करना ऐसे चौतीस उत्तरगुण होते हैं। इन उत्तर गुणोंकी रक्षाके लिये देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतन कृत चार प्रकार उपसर्गका जीतना व बारह भावनाओंका भावना आदि कार्य किये जाते हैं।

भावार्थ–इन दो गाथाओंमें आचार्यने वास्तवमें परम सामा-यिक चारित्ररूप निश्चय चारित्रके निमित्तकारणरूप व्यवहार चारित्रका कथन करके उसमें जो दोष हो जांय उनको निवारण करनेवालेको छेदोपस्थापना चारित्रवान बताया है।

साधुका व्यवहारचारित्र २८ मूलगुणरूप है। पांच

महाव्रत मूल व्यवहार चारित्र है। शेष गुण उन हीकी रक्षाके लिये किये जाते हैं।

इन पांच महाव्रतोंका स्वरूप मूलाचारमें इस भांति दिया है:—

१-अहिंसा मूलगुण ।

कायेंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं ।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा ॥५॥

भावार्थ—सर्व स्थावर व त्रस जीवोंकी काय, इंद्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु, योनि इन भेदोंको जान करके कायोत्सर्ग, बैठना, शयन, गमन, भोजन आदि क्रियाओंमें वर्तन करते हुए प्रयत्नवान होकर हिंसादिसे दूर रहना सो अहिंसाव्रत है। अपने मनमें किसी भी जन्तुका अहित न विचारना, वचनसे किसीको पीड़ा न देना व कायसे किसीका वध न करना सो अहिंसाव्रत है।

मुनिको सकल्पी व आरम्भी सर्व हिंसाका त्याग होता है। अपने ऊपर शत्रुता करनेवालेपर भी जिनके क्रोधरूप हिंसामई भाव नहीं होता है। जो सर्व जीवोंपर दयाभाव रखते हुए सर्व प्रकार आरंभ नहीं करते हैं—हरएक कार्य देखभालकर करते हैं। अंतरंगमें रागादि हिंसाको व बहिरंगमें प्राणियोंके इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोछ्वास ऐसे द्रव्य प्राणोंकी हिंसाका जो सर्वथा त्याग करना सो अहिंसाव्रत नामका पहला मूलगुण है।

२-सत्यव्रत मूलगुण ।

रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणोत्तिं ।
सुत्तत्थाणवि कहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं ॥ ६ ॥

भावार्थ—रागद्वेष, मोह, ईर्षा, दुष्टता आदिसे असत्यको त्यागना, परको पीड़ाकारी सत्य वचनको त्यागना तथा सूत्र और

जीवादि पदार्थोंके व्याख्यानमें अयथार्थ वचन त्यागकर यथार्थ कहना सो सत्य महाव्रत है।

मुनि मौनी रहते, व प्रयोजन पड़नेपर शास्त्रानुकूल वचन बोलते हैं।

३-अस्तेय मूलगुण।

गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु ॥ ७ ॥

भावार्थ—ग्राम, वन आदिमें पडी हुई, रक्खी हुई, भूली हुई अल्प या अधिक वस्तुको व दूसरेसे संग्रह किये हुए पदार्थको न उठा लेना सो अदत्तसे परिवर्जन नामका तीसरा महाव्रत है।

मुनिगण अपने व परके लिये स्वयं वनमें उपजे फल फूलको व नदीके जलको भी नहीं ग्रहण करते हैं। जो श्रावक भक्तिपूर्वक देते हैं उसी भोजन पानको ग्रहण करके संतोषी रहते हैं।

४-ब्रह्मचर्यव्रत मूलगुण।

मादुसुदाभगिणीविय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥ ८ ॥

भावार्थ—वृद्ध, बाल व युवा तीन प्रकार स्त्रियोंको क्रमसे माता सुता व बहनके समान देखकरके तथा देवी, मनुष्यणी व तिर्यंचनीके चित्रको देखकरके स्त्रीकथा आदि काम विकारोंसे छूटना सो तीन लोकमें पूज्य ब्रह्मचर्यव्रत है।

मुनि महाराज मन वचन कायसे देवी, मनुष्यणी, तिर्यंचनी व अचेतन स्त्रियोंके रागभावके सर्वथा त्यागी होते हैं।

५-परिग्रहत्यागव्रत मूलगुण ।

जीवणिवद्धा वद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव ।
तेसिं सक्कचाओ इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो ॥ १० ॥

भावार्थ—जीवोंके आश्रित परिग्रह जैसे मिथ्यात्व वेद रागादि, जीवसे अबद्ध परिग्रह जैसे क्षेत्र, वस्तु, धन धान्यादि तथा जीवोंसे उत्पन्न परिग्रह जैसे मोती, शंख, चर्म, कम्बलादि इन सबका मन वचन कायसे सर्वथा त्याग तथा पीछी कमंडल शास्त्रादि संयमके उपकारक पदार्थोंमें मूर्छाका त्याग सो परिग्रहत्याग महाव्रत है।

साधु अन्तरङ्गमें औपाधिक भावोंको बुद्धिपूर्वक त्याग देते हैं तैसे ही वस्त्र मकान स्त्री पुत्रादिको सर्वथा छोड़ते हैं। अपने आत्मीक गुणोंमें आत्मापना रखकर सबसे ममत्व त्याग देते हैं।

६-ईर्यासमिति मूलगुण ।

फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण ।
जंतूण परिहरंति इरियासमिदी हवे गमणं ॥ ११ ॥

भावार्थ—शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, भोजनादि कार्यवश जन्तु रहित प्रासुग मार्गमें 'जहां जमीन हाथी घोड़े बैल मनुष्यादिकोंसे रौंदी जाती हो' दिनके भीतर चार हाथ भूमि आगे देखकर तथा जन्तुओंकी रक्षा करते हुए गमन करना सो ईर्यासमिति है।

७-भाषासमिति मूलगुण ।

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी ।
वज्जित्ता सपरहिदं भासासमिदी हवे कहणं ॥ १२ ॥

भावार्थ—पैशून्य अर्थात् निर्दोषमें दोष लगाना, हास्य, कर्कश, परनिन्दा, आत्मप्रशंसाकारी तथा धर्म कथा-विरुद्ध स्त्री कथा, भोजनकथा, चौरकथा व राजकथा आदि वचनोंको छोड़कर स्वपर हितकारी वचन कहना सो भाषासमिति है।

८-एषणा समिति मूलगुण।

छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडो।
सीदादी समभुत्ती परिसुद्धा एषणासमिदी॥ १३॥

भावार्थ-भूख आदि कारण सहित छयालीस दोष रहित, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनाके ९ प्रकारके दोषोंसे शुद्ध शीत उष्ण आदिमें समताभाव रखकर भोजन करना सो निर्मल एषणा समिति है।

मुनि अति क्षुधाकी पीड़ा होनेपर ही गृहस्थने जो स्वकुटुम्बके लिये भोजन किया है उसीमेंसे सरस नीरस ठन्डा या गर्म जो भोजन मिले उसको ४६ दोष रहित देखकर लेते हैं।

वे ४६ दोष इस भांति हैं—

१६—उद्गम दोष-जो दातारके आधीन हैं।

१६—उत्पादन दोष-जो पात्रके आधीन हैं।

१०—भोजन सम्बन्धी शंकित दोष हैं—इन्हें अशन दोष भी कहते हैं।

१—अङ्गारदोष, १ धूम दोष, १ संयोजन दोष, १ प्रमाण दोष।

१६ उद्गम दोष इस भांति हैं—

अधःकर्म—जो आहार गृहस्थने त्रस स्थावर जीवोंको बाधा स्वयं पहुंचाकर व बाधा दिलाकर उत्पन्न किया हो उसे अधः कर्म कहते हैं। इस सम्बन्धी नीचेके दोष हैं—

१—औद्देशिक दोष-जो आहार इस उद्देश्यसे बनाया हो कि जो कोई भी लेनेवाले आएंगे उनको दूंगा, व जो कोई अच्छे बुरे साधु

आएंगे उनको दूंगा, व जो कोई आजीवकादि तापसी आएंगे उनको दूंगा व जो कोई निर्ग्रन्थ साधु आएंगे उनको दूङ्गा। इस तरह दूसरोंके उद्देशको मनमें रखकर जो भोजन बनाया हो ऐसा भोजन जैन साधुको लेना योग्य नहीं।

२–अध्याधिदोष या साधिकदोष–संयमीको आते देखकर अपने बनते हुए भोजनमें साधुके निमित्त और तंदुल आदि मिला देना अथवा संयमीको पड़िगाहकर उस समय तक रोक रखना जब तक भोजन तय्यार न हो।

३ पूतिदोष–प्रासुक भोजनको अप्रासुक या सचित्तसे मिलाकर देना अथवा प्रासुक द्रव्यको इस संकल्पसे देना कि जबतक इस चूल्हेका बना द्रव्य साधुओंको न देलेंगे तब तक किसीको न न देंगे। इसी तरह जबतक इस उखलीका कूटा व इस दर्वी या कलछीसे व इस बरतनका व यह गंध या यह भोजन साधुको न देलेंगे तबतक किसीको न देंगे इस तरह ५ प्रकार पूति दोष है।

४–मिश्र दोष–जो अन्न अन्य साधुओंके और गृहस्थोंके साथ २ संयमी मुनियोंको देनेके लिये बनाया गया हो सो मिश्र दोष है।

५–स्थापित दोष या न्यस्तदोष–जो भोजन जिस बरतनमें बना हो वहांसे निकालकर दूसरे बरतनमें रख करके अपने घरमें व दूसरेके घरमें साधुके लिये पहले हीसे रख लिया जाय वह स्थापित दोष है। वास्तवमे चाहिये यही कि कुटुम्बार्थ भोजन बना हुआ अपने २ पात्रमे ही रक्खा रहे। कदाचित् साधु आजांय तो उसका भाग दानमें देवे पहलेसे उद्देश न करे।

६-बलि दोष-जो भोजन किसी अज्ञानीने यक्ष व नाग आदिके लिये बनाया हो और उनको भेट देकर जो बचा हो वह साधुओंके देनेके लिये रक्खा हो अथवा संयमियोंके आगमनके निमित्त जो यक्षोंके सामने पूजनादि करके भेट चढ़ाना सो सब बलि दोष है।

७ प्राभृत दोष या प्रावर्तितदोष-इसके बादर और सूक्ष्म दो भेद हैं। हरएकके भी दो भेद हैं-अपकर्षण और उत्कर्षण। जो भोजन किसी दिन, किसी पक्ष व किसी मासमें साधुको देना विचारा हो उसको पहले ही किसी दिन, पक्ष या मासमें देना सो अपकर्षण बादर प्राभृत दोष है जैसे सुदी नौमीको जो देना विचारा था उसको सुदी पञ्चमीको देना। जो भोजन किसी दिन आदिमें देना विचारा था उसको आगे जाकर देना जैसे चैत मासमें जो देना विचारा था उसको वैशाख मासमें देना सो उत्कर्षण बादर प्राभृत दोष है। जो भोजन अपरान्हमें देना विचारा था उसको मध्यान्हमें देना व जिसे मध्यान्हमें देना विचारा था उसको अपरान्हमें देना सो सूक्ष्म अपकर्षण व उत्कर्षण प्राभृत दोष है।

८-प्रादुष्कार दोष-साधु महाराजके घरमें आजानेपर भोजन व भाजन आदिको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें लेजाना यह संक्रमण प्रादुष्कार दोष है। तथा साधु महाराजके घरमें होते हुए वरतनोंको भस्मसे मांजना व पानीसे धोना व दीपक जलाना यह प्रकाशक प्रादुष्कार दोष है। इसमें साधुके उद्देश्यसे आरम्भका दोष है।

९ क्रीततर दोष-क्रीततर दोष द्रव्य और भावसे दो प्रकार है। हरएकके स्व और परके भेदसे दो दो भेद हैं।

संयमीके भिक्षाके लिये घरमें प्रवेश हो जानेपर अपना या

दूसरेका सचित्त द्रव्य गाय भैंसादि किसीको देकर बदलेमें आहार लेकर देना सो स्वद्रव्य परद्रव्य क्रीततर दोष है। वैसे ही अपना कोई मन्त्र या विद्या तथा दूसरेके द्वारा मंत्र या विद्या देकर बदलेमें आहार लेकर देना सो स्वभाव परभाव क्रीततर दोष है।

१० ऋण दोष या प्रामित्य दोष—साधुके भिक्षाके लिये घरमें प्रवेश होजानेपर किसीसे भोजन उधार लाकर देना। जिससे कर्ज मांगे उसको यह कहकर लेना कि मैं कुछ बढ़ती पीछे दूंगा वह सवृद्धि ऋण दोष है व उतना ही दूंगा वह अवृद्धि ऋण दोष है। यह ऋणदाताको क्लेशका कारण है।

११ परावर्त दोष—साधुके लिये किसीको धान्य देकर बदलेमें चावल लेकर व रोटी लेकर आहार देना सो परावर्त दोष है। साधुके गृह आजानेपर ही यह दोष समझमें आता है।

१२ अभिघट या अभिहृत दोष—इसके दो भेद हैं। देश अभिघट दोष, सर्व अभिघट दोष, एक ही स्थानमें सीधे पंक्ति बंद तीन या सात घरोंसे भात आदि भोजन लाकर साधुको देना सो तो आचिन्न है अर्थात् योग्य है। इसके विरुद्ध यदि सातसे ऊपरके घरोंसे हो व सीधे पंक्तिबन्द घरोंके सिवाय उल्टे पुलटे एक या अनेक घरोंसे लाकर देना सो अनाचिन्न अर्थात् अयोग्य है। इसमें देश अभिघट दोष है। सर्व अभिघट दोष चार प्रकार है। अपने ही ग्राममें किसी भी स्थानसे लाकर कहीं पर देना, सो स्वग्राम अभिघट दोष है, पर ग्रामसे अपने ग्राममें लाकर देना सो परग्राम अभिघट दोष है। स्वदेशसे व परदेशसे अपने ग्राममें लाकर देना सो स्वदेश व परदेश अभिघट दोष है।

१३ उद्भिन्न दोष—जो घी शक्कर गुड़ आदि द्रव्य किसी भाजनमें मिट्टी या लाख आदिसे ढके हुए हों उनको उघाड़कर या खोलकर साधुको देना सो उद्भिन्न दोष है। इसमें चींटा आदिका प्रवेश होजाना सम्भव है।

१४ मालारोहण दोष—काठ आदिकी सीढ़ीसे घरके दूसरे तीसरे मालपर चढ़कर वहांसे साधुके लिये लड्डू शक्कर आदि लाकर साधुको देना सो मालारोहण दोष है। इससे दाताको विशेष आकुलता साधुके उद्देश्यसे करनी पड़ती है।

१५ आच्छेद्य दोष—राजा व मंत्री आदि ऐसी आज्ञा करें कि जो गृहस्थ साधुको दान न करेगा उसका सब द्रव्य हर लिया जायगा व वह ग्रामसे निकाल दिया जायगा। ऐसी आज्ञाको सुनके भयके कारण साधुको आहार देना सो आच्छेद्य दोष है।

१६ अनीशार्थ दोष या निषिद्ध दोष—यह अनीशार्थ दोष दो प्रकार है। ईश्वर अनीशार्थ और अनीश्वर अनीशार्थ। जिस भोजनका स्वामी भोजन देना चाहे परन्तु उसको पुरोहित मंत्री आदि दूसरे देनेका निषेध करें, उस अन्नको जो देवे व लेवे तो ईश्वर अनीशार्थ दोष है।

जिस दानका प्रधान स्वामी न हो और वह दिया जाय उसमें अनीश्वर अनीशार्थ दोष है। उसके तीन भेद हैं व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त। जिस भोजनका कोई प्रधान स्वामी न हो, उस भोजनको, व्यक्त अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी प्रगट वृद्ध आदि, अव्यक्त अर्थात् अप्रेक्षापूर्वकारी बालक व परतंत्र आदि, व्यक्ताव्यक्त दोनों मिश्ररूप कोई देना चाहे व कोई निषेध करे ऐसे तीन तरहका भोजन

दिया ले वह अनीश्वर अनीशार्थ दोष है (नोट—जो देना चाहे वह प्रेक्षापूर्वकारी व जो देना न चाहे वह अप्रेक्षा पूर्वकारी ऐसा भाव झलकता है) अथवा दूसरा अर्थ है कि दानका स्वामी प्रगट हो या अप्रगट हो उस दानको रखवाले मना करे सो देवे व साधु लेवे सो व्यक्त अव्यक्त ईश्वर नाम अनीशार्थ दोष है, तथा जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसे दानको कोई व्यक्त अव्यक्त रूपसे वा किसीके मना करनेपर देवे सो व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर अनीशार्थ दोष है। तथा एक देवे दूसरा मना करे सो संघाटक नाम अनीशार्थ दोष है। इसका भाव यह है जहां दाता प्रधान न हो उस भोजनको लेना वह अनीशार्थ दोष है (विशेष मूलाचार टीकामें देख लेना)

उत्पादन दोष जो दान लेनेवाले पात्रके आश्रय हैं सो १६ सोलह प्रकार हैं।

१—धात्रीदोष—धायें पांच प्रकारकी होती हैं-बालकको स्नान करानेवाली मार्जनधात्री, भूषण पहनानेवाली मंडनधात्री, खिलानेवाली क्रीडाधात्री, दूध पिलानेवाली क्षीरधात्री, सुलानेवाली अम्बधात्री, इनके समान कोई साधु गृहस्थके बालकोंका कार्य करावे व उपदेश देकर प्रसन्न करके भोजन लेवे सो धात्री दोष है। जैसे इस बालकको स्नान कराओ, इस तरह नहलाओगे तो सुखी रहेगा व इसे ऐसे आभूषण पहनाओ, बालकको आप ही खिलाने लगे व क्रीड़ा करनेका उपदेश दे, बालकको दूध कैसे मिले उसकी विधि बतावे, स्वयं बालकको सुलाने लगे व सुलानेकी विधि बतावे, ऐसा करनेसे साधु गृहस्थके कार्योंमें फंसके स्वाध्याय, ध्यान, वैराग्य व निस्पृहताका नाश करता है।

२ दूत दोष—जो साधु दूत कर्म करके भोजन उपजावे सो दूत दोष है जैसे कोई साधु एक ग्रामसे दूसरे ग्राममें व एक देशसे दूसरे देशमें जल, थल या आकाश द्वारा जाता हो उसको कोई गृहस्थ यह कहे कि मेरा यह सन्देशा अमुक गृहस्थको कह देना वह साधु ऐसा ही करें—सन्देशा कहकर उस गृहस्थको सन्तोषी करके उससे दान लेवे।

३ निमित्त दोप—जो साधु निमित्तज्ञानसे दातारको शुभ या अशुभ बताकर भिक्षा गृहण करे सो निमित्त दोष है। निमित्तज्ञान आठ प्रकारका है। १ व्यंजन-शरीरके मस्से तिल आदि देखकर बताना, २ अंग-मस्तक गला हाथ पैर देखकर बताना, ३ स्वर-उस प्रश्न कर्ताका या दूसरेका शब्द सुनकर बताना, ४ छेद—खड्ग आदिका प्रहार, व वस्त्रादिका छेद देखकर बताना, ५ भूमि-जमीनको देखकर बताना, ६ अंतरिक्ष-आकाशमें सूर्य चन्द्र, नक्षत्रादिके उदय, अस्त आदिसे बताना, ७ लक्षण—उस पुरुषके व अन्यके शरीरके स्वस्तिक चक्र आदि लक्षण देखकर बताना, ८ स्वप्न—उसके व दूसरेके स्वप्नोंके द्वारा बताना।

४ आजीव दोष—अपनी जाति व कुल बताकर, शिल्पकर्मकी चतुराई जानकर, व तपका माहात्म्य बताकर जो आहार ग्रहण किया जाय सो आजीव दोष है।

५ वनीयक दोप—जो पात्र दातारके अनुकूल अयोग्य वचन कहकर भोजन प्राप्त करे सो वनीयक दोष है। जैसे दातारने पूछा कि कृपण, कोढ़ी, मांसभक्षी साधु व ब्राह्मण, दीक्षासे ही आजीविका करनेवाले, कुत्ते, काकको भोजन देनेसे पुण्य है वा नहीं।

तव उसको उसके मनके अनुकूल कह देना कि पुण्य है और इस निमित्तसे भोजन प्राप्त करना सो दोष है। यदि अपने भोजनकी अपेक्षा न हो और उसको शास्त्रका मार्ग समझा दिया जाय कि इनको दान करनेसे पात्रदान नहीं होसक्ता, मात्र दया दान होसक्ता है। जव ये भूखसे पीड़ित हों और उनको दयाभावसे योग्य भक्ष्य पदार्थ मात्र दिया जावे तव यह दोष न होगा ऐसा भाव झलकता है।

६ चिकित्सा दोष-आठ प्रकार वैद्यशास्त्रके द्वारा दातारका उपकार करके जो आहारादि ग्रहण किया जाय सो पात्रके लिये चिकित्सा दोष है-आठ प्रकार चिकित्सा यह है—

१ कौमार चिकित्सा-वालकोंके रोगोंके दूर करनेका शास्त्र।
२ तनु चिकित्सा-शरीरके ज्वर कास श्वास दूर करनेका शास्त्र
३ रसायन चिकित्सा-अनेक प्रकार रसोंके वनानेका शास्त्र।
४ विष चिकित्सा-विषको फून्ककर औषधि वनानेका शास्त्र
५ भूत चिकित्सा-भूत पिशाचको हटानेका शास्त्र।
६ क्षारतंत्र चिकित्सा-फोड़ाफूंसी कादि मेटनेका शास्त्र।
७ शालाकिक चिकित्सा-सलाईसे जो इलाज हो जैसे आखोंका पटल खोलना आदि उसके वतानेका शास्त्र।
८ शल्य चिकित्सा कांटा निकालने व हड्डी सुधारनेका शास्त्र

७ क्रोध दोष-दातारपर क्रोध करके भिक्षा लेना।
८ मानदोष-अपना अभिमान वताकर भिक्षा लेना।
९ माया दोष-मायाचारीसे, कपटसे भिक्षा लेना।
१० लोभ दोष-लोभ दिखाकर भिक्षा लेना।

११ पूर्व संस्तुति दोष—दातारके सामने भोजनके पहले स्तुति करे तुम तो महादानी हो, राजा श्रेयांशके समान हो अथवा तुम तो पहले बड़े दानी थे अब क्यों दान करना भूल गए ऐसा कह-कर भिक्षा ले।

१२ पश्चात्संस्तुति दोष—दान लेनेके पीछे दातारकी स्तुति करे तुम तो बड़े दानी हो, जैसा तुम्हारा यश सुना था वैसे ही तुम हो।

१३ विद्या दोष—जो साधु दातारको विद्या साधन करके किसी कार्यकी आशा दिलाकर व उसको विद्या साधन बताकर उसके माहात्म्यसे आहार दान लेवे सो विद्या दोष है वा कहे तुम्हें ऐसी२ विद्याएं दूंगा यह आशा दिलावे।

१४ मंत्र दोष—मंत्रके पढ़ते ही कार्य सिद्ध होजायगा मैं ऐसा मंत्र दूंगा। इस तरह आशा दिलाकर दातारसे भोजन ग्रहण करे। सो मंत्र दोष है।

ऊपरके १३ व १४ दोषमें यह भी गर्भित है कि जो कोई पात्र दातारोंके लिये विद्या या मंत्रकी साधना करे।

१५ चूर्ण दोष—पात्र दातारकी चक्षुओंके लिये अंजन व शरीरमें तिलकादिके लिये कोई चूर्ण व शरीरकी दीप्ति आदिके लिये कोई मसाला बताकर भोजन करे सो चूर्ण दोष है। यह एक तर-हकी आजीविका गृहस्थ समान होजाती है इससे दोष है।

१६ मूल दोष—कोई वश नहीं है उसके लिये वशीकरणके व कोईका वियोग है उसके संयोग होनेके उपायोंको बताकर जो दातारसे भोजन ग्रहण करे सो मूल दोष है।

अब १० तरह शंकित व अशन दोष कहे जाते हैं।

१ शंकित दोष–यह भोजन जैसे अशन-भात आदि, पानक-दूधादि, खाद्य-लाडू आदि, स्वाद्य-लवंग इलायची आदि लेने योग्य हैं या नहीं हैं–इनमें कोई दोष तो नहीं है ऐसी शंका होनेपर भी ले लेना सो शंकित दोष है।

२ मृक्षित दोष–दातार यदि चिकने हाथ व चिकनी कलछी आदिसे भात आदि देवे उसको लेना सो मृक्षित दोष है। कारण यह है कि चिकने हाथ व वर्तन रखनेसे सन्मूर्छन जंतु पैदा हो जाते हैं।

३ निक्षिप्त दोष–सचित्त अप्राशुक पृथ्वी, सचित्तजल, सचित्त अग्नि, सचित्त बनस्पति, सचित्त बीज व त्रस जीवोंके ऊपर रक्खे हुए भोजनपान आदिको देनेपर ले लेना सो निक्षिप्त दोष।

४ पिहित दोष–सचित्त पृथ्वी, वनस्पति पत्ते आदिसे ढकी हुई व भारी अचित्त द्रव्यसे ढकी हुई भोजनादि सामग्रीको निकालकर दातार देवे तो उसको ले लेना सो पिहित दोष है।

५ संव्यवहार दोष–दातार घबड़ाकर जल्दीसे विना देखे भाले वस्त्र व वर्तन हटाकर व लेकर भोजनपान देवे उसको ले लेना संव्यवहार दोष है।

६ दायक दोष–नीचे लिखे दातारोंसे दिया हुआ भोजन ले लेना सो दायक दोष है—

(१) सूतिः–जो बालकको पालती है अर्थात् जो प्रसूतिमें है ऐसी स्त्री अथवा जिसको सूतक हो (२) सुन्डी–जो स्त्री या पुरुष मद्यपान लम्पटी हो (३) रोगी–जो स्त्री या पुरुष रोगी हो (४) मृतक–जो मसानमें जलाकर स्त्री पुरुष आए हों व जिनको

मृतकका सूतक हो (मृतक सूतकेन यो जुष्टः) (५) नपुंसक–जो न पुरुष हो न स्त्री हो (६) पिशाचवान्-जिस किसीको वायुका रोग हो या कोई व्यंतर सता रहा हो (७) नग्न–जो कोई बिलकुल नग्न होकर देवे (८) उच्चार–जो मूत्रादि करके आया हो (९) पतित–जो मूर्छा आदिसे गिर पड़ा हो (१०) वान्त–जो वमन करके आया हो (११) रुधिर सहित–जो रुधिर या रक्त सहित हो (१२) वेश्या या दासी (१३) आर्यिका–साध्वी (१४) पंच-श्रमणिका-लाल कपड़ेवाली साध्वी आदि (१५) अंगमृक्षिका-अंगको मर्दन करनेवाली (१६) अतिबाला या मूर्ख (१७) अतिवृद्धा या वृद्ध (१८) भोजन करते हुए स्त्री या पुरुष (१९) गर्भिणी स्त्री अर्थात् पंचमासिका जिसको पांच मासका गर्भ होगया (२०) जो स्त्री या पुरुष अंधे हों (२१) जो भीत आदिकी आड़में हो (२२) जो बैठे हों (२३) जो ऊंचे स्थानपर हों (२४) जो बहुत नीचे स्थानपर हों (२५) जो मुंहकी भाफ आदिसे आग जला रहे हों (२६) जो अग्निको धौंक रहे हों (२७) जो काष्ठ आदिको खींच रहे हों व रख रहे हों (२८) जो अग्निको भस्म आदिसे ढक रहे हों (२९) जो जल आदिसे अग्निको बुझा रहे हों (३०) जो अग्निको इधर उधर रख रहे हों (३१) जो बुझी हुई लकड़ी आदिको हटा रहे हों (३२) जो अग्निके ऊपर कूंडी आदि ढक रहे हों (३३) जो गोबर मट्टी आदिसे लीप रहे हों (३४) जो स्नानादि कर रहे हों (३५) जो दूध पिलाती बालकको छोड़कर देने आई हो। इत्यादि आरम्भ करनेवाले व अशुद्ध स्त्री पुरुषके हाथसे दिये हुए भोजनको लेना दायक दोष है।

७ उन्मिश्र दोष–मिट्टी, अप्राशुक जल, हरितकाय पत्र फूल फल आदि, बीज गेहूं जौ आदि, त्रस जीव सजीव हों या निर्जीव हों इन पांचोंमेंसे किसीसे मिले हुए आहारको लेलेना सो उन्मिश्र दोष है ।

८ परिणत दोष–जिस पानी या भोजनका वर्ण गंध रस न बदल गया हो जैसे तिलोंके धोवन, चावलके धोवन, चनोंके धोवन, घासके धोवनका जल या तप्त जल ठंडा हो यदि अपने वर्ण रस गंधको न छोड़े हुए हों अथवा अन्य कोई शाक फलादि अप्राशुक हो उसको ले लेना सो अपरिणत दोष है । यदि स्पर्शादि बदल गए हों तो दोष नहीं ।

९ लिप्त दोष–गेरू, हरताल, खड़िया, मनशिला, कच्चा आटा व तंदुलका आटा, पराल या घास, कच्चा शाक, कच्चा जल, गीला हाथ, गीला वर्तन इनसे लिप्त या स्पर्शित वस्तु दिये जाने पर ले लेना सो लिप्त दोष है ।

१० परिजन दोष–या छोटित दोष, जो पात्र वहुतसा भोजन हाथसे गिराकर थोड़ासा लेवे तथा दूध दहींको हाथोंके छिद्रोंसे गिराता हुआ भोजन करे, या दातार द्वारा दोनों हाथोंसे गिराते हुए दिये हुए भोजन पानको लेवे, व दोनों हाथोंको अलग२ करके जो खावे व अनिष्ट भोजनको छोड़कर रुचिवान इष्ट भोजनको लेवे सो परिजन दोष है ऐसे १० प्रकार अशन दोष जानने ।

१ अंगार दोष–साधु यदि भोजनको अति लम्पटतासे उसमें मूर्छित होकर ग्रहण करे सो अङ्गार दोष है ।

१ धूम दोष–साधु यदि भोजनको उसको अनिष्ट जान निंदा करता हुआ ग्रहण करे सो धूम दोष है। इन दोनों दोषोंसे परिणाम संक्लेशित होजाते हैं।

१ संयोजन दोष–साधु यदि अपनेसे विरुद्ध भोजनको मिलाकर ग्रहण करे जैसे भात पानीको मिलादे, ठंढे भातको गर्म पानीसे मिलावे, रूखे भोजनको चिकनेके साथ या आयुर्वेद शास्त्रमें कहे हुए विरुद्ध अन्नको दूधके साथ मिलावे यह संयोजन दोष है।

१ प्रमाण दोष–साधु यदि प्रमाणसे अधिक आहार ग्रहण करे सो प्रमाण दोष है। प्रमाण भोजनका यह है कि दो भाग तो भोजन करे, १ भाग जल लेवे व चौथाई भाग खाली रक्खे। इसको उल्लंघन करके अधिक लेना सो दोष है। ये दोनों दोष रोग पैदा करनेवाले व स्वाध्याय ध्यानादिमें विघ्नकारक हैं।

इस तरह उद्गम दोष १६, उत्पादन दोष १६, अशन दोष १०, अंगार दोष १, धूम दोष १, संयोजन दोष १, प्रमाण दोष १ इस तरह ४६ दोषोंसे रहित भोजन करना सो शुद्ध भोजन है। यद्यपि उद्गम दोष गृहस्थके आश्रय है तथापि साधु यदि मालूम करके व गृहस्थ दातारने दोष किये हैं ऐसी शंका करके फिर भोजन ग्रहण करे तो साधु दोषी है।

साधुगण संयम सिद्धिके लिये शरीरको बनाए रखनेके लिये केवल शरीरको भाड़ा देते हैं। साधु छः कारणोंके होनेपर भोजनको नहीं जाते (१) तीव्र रोग होनेपर (२) उपसर्ग किसी देव, मनुष्य, पशु या अचेतन कृत होजानेपर (३) ब्रह्मचर्यके निर्मल करनेके लिये (४) प्राणियोंकी दयाके लिये यह खयाल करके कि यदि

भोजन करूँगा तो बहुत प्राणियोंका घात होगा क्योंकि मार्गमें जंतु बहुत हैं। रक्षा होना कठिन है। वर्षा पड़ रही है। (५) तप सिद्धिके लिये (६) समाधिमरण करते हुए। साधु उसी भोजनको करेंगे जो शुद्ध हो। जैसा मूलचारमें कहा है—

> **णवकोडीपरिसुद्धं असणं बादालदोसपरिहीणं ।**
> **संजोजणाय हीणं पमाणसहियं विहिसु दिण्णं ॥ ४८२ ॥**
> **विगदिंगाल विधूमं छक्कारणसंजुदं कमविसुद्धं ।**
> **जत्तासाधनमत्तं चोद्दसमलवज्जिदं भुंजे ॥ ४८३ ॥**

भावार्थ—जिस भोजनको मुनि लेते हैं वह नवकोटि शुद्ध हो, अर्थात् मन द्वारा कृतकारित अनुमोदना, वचनद्वारा कृतकारित अनुमोदना, कायद्वारा कृतकारित अनुमोदनासे रहित हो, सर्व छ्यालीस दोष रहित हो तथा विधिसे दिया हुआ हो। श्रावक दातारको नवधा भक्ति करनी चाहिये अर्थात् १ प्रतिग्रह या पडगाहना-आदरसे घरमें लेना, २ उच्चस्थान देना, ३ पाद प्रछालन करना, ४ पूजन करना, ५ प्रणाम करना, ६ मन शुद्ध रखना, ७ वचन शुद्ध कहना ८ काय शुद्ध रखना, ९ भोजन शुद्ध होना। तथा दातारमें सात गुण होने चाहिये अर्थात् इस १ लोकके फलको न चाहना, २ क्षमा भाव, ३ कपट रहितपना, ४ ईर्षा न करना, ५ विषाद न करना, ६ प्रसन्नता, ७ अभिमान न करना। छः कारण सहित भोजन करे १ भूख-वेदना शमनके लिये, २, वैयावृत्य करनेके लिये, ३ छः आवश्यक क्रिया पालनेके लिये, ४ इंद्रिय व प्राण संयम पालनेके लिये, ५ दश प्राणोंकी रक्षाके लिये, ६ दश-लाक्षणी धर्मके अभ्यासके लिये, तथा साधु क्रमकी शुद्धिको ध्यानमें

रखके अर्थात् उत्क्रमहीन नहीं वर्तनके लिये व संसारयात्रा साधन व प्राण धारणके लिये चौदहमलरहित भोजन करते हैं—

चौदहमलोंके नाम।

णहरोमजन्तुअट्ठीकणकुंडयपूयिचम्मरुहिरमंसाणि।
वीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति ॥४८४॥

भावार्थ—१ मनुष्य या पशुके हाथ पगके नख, २ मनुष्य या पशुके वाल, ३ मृतक जन्तु द्वेंद्रियादिक, ४ हड्डी, ५ यव गेहूं आदि बाहरी भाग कण, ६ धान आदिका भीतरका भाग अर्थात् कुंडचा चावल जो बाहर पका भीतर अपक्व होता है, ७ पीप, ८ चर्म, ९ रुधिर या खून, १० मांस, ११ उगने योग्य गेहूं आदि, १२ फल आम्रादि, १३ कंद, नीचेका भाग जो उगसक्ता है, १४ मूल जैसे मूली अदरकादि ये अलग अलग चौदह मल होते हैं। इनसे भोजनका संसर्ग हो तो भोजन नहीं करना। इन १४ मलोंमेंसे पीप, खून, मांस, हड्डी, चर्म महा दोष हैं। इनके निकलनेपर भोजन भी छोडे और प्रायश्चित्त भी ले, तथा नख निकलने पर भोजन छोडे अल्प प्रायश्चित भी ले, और द्वेंद्रिय तेंद्रिय व चौंद्रियका शरीर व वाल निकलनेपर केवल भोजन त्याग दे। तथा शेष ६ कण, कुण्ड, वीज, कन्द, मूल, फल इनके आहारमें होनेपर शक्य हो तो मुनि अलग करदे, न शक्य हो तो भोजनका त्याग करदे।

साधुके भोजन लेनेका काल सूर्यके उदय होनेपर तीन घड़ी वीतनेपर व सूर्यके अस्त होनेके तीन घड़ी रहने तक ही योग्य है। सिद्ध भक्ति करनेके पीछे जघन्य भोजनकाल तीन महूर्त्त, मध्यम दो व उत्तम एक महूर्त्त है।

साधुको बत्तीस अन्तरायोंको टालकर भोजन करना चाहिये ।

१ काक–खड़े होने पर या जाते हुए (अनगार धर्मामृत टीकामें है कि सिद्धभक्ति उच्चारण स्थानसे अन्य स्थानमें भोजन करनेके लिये जाते हुए श्लोक ४३ व ५७) यदि कव्वा, कुत्ता आदिका भिष्टा अपने ऊपर पड़ जावे तो साधु फिर भोजन न करे, अन्तराय माने ।

२ अमेध्य–यदि साधुको पुरुषके मलका स्पर्श होजावे तो अन्तराय करे (यहांपर भी यही भाव लेना चाहिये कि सिद्धभक्ति करनेके पीछे खडे हुए या जाते हुए यह दोष संभव है ।)

३ छर्दि–यदि साधुको सिद्धभक्तिके पीछे वमन होजावे तो अन्तराय करे ।

४ रोधन–यदि साधुको कोई घरणक आदि ऐसा कहे कि भोजन मत करो तब भी साधु अन्तराय माने ।

५ रुधिर–यदि साधु अपना या दूसरेका खून या पीपको बहता हुआ देख लें, तो अन्तराय करें (अनगार धर्मामृतमें है कि चार अंगुल बहनेसे कमके देखनेमें अन्तराय नहीं)

६ अश्रुपात–यदि साधुको किसी शोक भावके कारण आंसू आजावें तो अन्तराय करे । धूमादिसे आंसू निकलनेमें अन्तराय नहीं तथा यदि किसीके मरण होनेपर किसीका रुदन सुनलें तो भी अन्तराय है ।

७ जानुअधः आमर्श–यदि साधु सिद्धभक्तिके पीछे अपने हाथोंसे अपनी जंघाका नीचला भाग स्पर्श करलें तो अंतराय करें ।

८ जानूपरिव्यतिक्रम–यदि साधुको अपनी जंघा प्रमाण बीचमें चौखट व काष्ठ पत्थरादि लांघकर जाना पडे तो साधु अंतराय करें (यहां भी सिद्धभक्तिके पीछे भोजनको जाते हुए मानना चाहिये ।)

९ नाभ्यधोगमन–यदि साधुको अपनी नाभिके नीचे अपना मस्तक करके जाना पड़े तो साधु अन्तराय करें ।

१० प्रत्याख्यातसेवना–यदि साधु देव गुरुकी साक्षीसे त्यागी हुई वस्तुको भूलसे खा लेवें तो अन्तराय करें ।

११ जन्तुवध–यदि साधुसे व साधुके आगे दूसरेसे किसी जन्तुका वध होजावे (अनगार धर्मामृतमें है कि पंचेद्रिय जंतुका वध होजावे जैसे मार्जारद्वारा मूषक आदिका) तो साधु अन्तराय करें ।

१२–काकादि पिंडहरण–यदि साधुके भोजन करते हुए उसके हाथसे काग व गृद्ध आदि ग्रासको ले जावें तो साधु अन्तराय करें ।

१३ पाणिपिंडपतन–यदि साधुके भोजन करते हुए हाथसे ग्रास गिर पडे, तो अन्तराय करें ।

१४ पाणिजंतुवध–यदि साधुके भोजन करते हुए हाथमें स्वयं आकर कोई प्राणी मरजावे तो साधु अंतराय करें—

१५ मांसादि दर्शन–यदि साधु भोजन समय पंचेंद्रिय मृत प्राणीका मांस या मदिरा आदि निन्दनीय पदार्थ देखलें तो अंतराय करें ।

१६ उपसर्ग–यदि साधुको भोजन समय कोई देव मनुष्य या पशुकृत या आकस्मिक उपसर्ग आजावे तो साधु भोजन तजें ।

१७ पादान्तर जीव सम्पात—यदि साधुके भोजन करते हुए पैरोंके बीचमेंसे पंचेंद्रिय जीव निकल जावे तो साधु भोजन तजें।

१८ भाजन सम्पात—परिवेषक या भोजन देने वालेके हाथसे यदि वर्तन जमीनपर गिर पड़े तो साधु भोजन तजें।

१९ उच्चार—यदि भोजन करते हुए साधुके उदरसे मल निकल पड़े तो साधु भोजन तजें।

२० प्रस्रवण—यदि भोजन करते हुए साधुके पिशाब निकल पड़े तो साधु भोजन तजें।

२१ अभोज्यगृहप्रवेशनं—यदि साधु भिक्षाको जाते हुए जिसके यहां भोजन न करना चाहिये ऐसे चांडालादिकोंके घरमें चले जांय तो उस दिन साधु भोजन न करें।

२२ पतन—यदि साधु भोजन करते हुए मूर्छा आदि आनेसे गिर पड़ें तो भोजन न करें।

२३ उपवेशन—यदि साधु खडे२ बैठ जावें तो भोजन तजें।

२४ सदंश—यदि साधुको (सिद्धभक्तिके पीछे) कुत्ता बिल्ली आदि कोई जंतु काट खावे।

२५ भूमिस्पर्श—यदि साधु सिद्धभक्तिके पीछे अपने हाथसे भूमिको स्पर्श करलें।

२६ निष्ठीवन—यदि साधु भोजन करते हुए नाक या थूक फेकें (अनगारधर्मामृतमें है कि स्वयं चलाकर फेकें तो अंतराय, खांसी आदिके वश निकले तो अंतराय नहीं) तो भोजन तजें।

२७ उदरक्रिमिनिर्गमन—यदि साधुके भोजनके समय ऊपर या नीचेके द्वारसे पेटसे कोई जन्तु निकल पड़े तो भोजन तजें।

२८ अदत्तग्रहण—यदि साधु विना दातारके दिये हुए अपनेसे अन्नादि ले लेवे तो अन्तराय करे।

२९ प्रहार—यदि भोजन करते हुए साधुको कोई खडग लाठी आदिसे मारे या साधुके निकट कोई किसीको प्रहार करे तो साधु अन्तराय करें।

३०—ग्रामदाह—यदि ग्राममें अग्नि लग जावे तो साधु भोजन न करें।

३१ पादकिंचित्ग्रहण—यदि साधु पादसे किसी वस्तुको उठा लें तो अन्तराय करें।

३२ करग्रहण—यदि साधु हाथसे भूमिपरसे कोई वस्तु उठा लें तो भोजन तजें।

ये ३२ अंतराय प्रसिद्ध हैं इनके सिवाय इनहीके तुल्य और भी कारण मिलें तो साधु इस समयसे फिर उस दिन भोजन न करें। जैसे मार्गमें चंडाल आदिसे स्पर्श हो जावे, कहीं उस ग्राममें युद्ध होजावे या कलह घरमें होजावे। जहां भोजनको जावे, मुख्य किसी इष्टका मरण होजावे, किसी प्रधानका मरण होजावे व किसी साधुका समाधिमरण होजावे, कोई राजा मंत्री आदिसे उपद्रवका भय होजावे, लोगोंमें अपनी निन्दा होती हो, या भोजनके गृहमें अकस्मात् कोई उपद्रव होजावे, भोजनके समय मौन छोड दे—बोल उठे, इत्यादि कारणोंके होनेपर साधुको संयमकी सिद्धिके लिये व वैराग्यभावके दृढ़ करनेके लिये आहारका त्याग कर देना चाहिये।

साधुको उचित है कि द्रव्य, क्षेत्र, बल, काल, भावको देखकर अपने स्वास्थ्यकी रक्षार्थ भोजन करें। इस तरह जो साधु

दोषरहित भोजन करते हैं उन्हींके एषणासमिति पलती है।

९ आदाननिक्षेपणसमिति मूलगुण ।

णाणुवहिं संजमुवहिं सौचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा ।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥ १४ ॥

भावार्थ—श्रुतज्ञानका उपकरण पुस्तकादि, संयमका उपकरण पिच्छिकादि, शौचका उपकरण कमण्डलादि व अन्य कोई संथारा आदि उपकरण इनमेंसे किसीको यदि साधु उठावें या रक्खें तो यत्नके साथ देखकर व पीछीसे झाड़कर उठावें या धरें सो आदान-निक्षेपण समिति मूलगुण है।

१० प्रतिष्ठापनिका समिति मूलगुण ।

एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ पदिठावणिया हवे समिदी ॥१५॥

भावार्थः—साधु मल या पिसावको ऐसे स्थानमें त्यागें जो एकांत हो, प्राशुक हो, जिसमें हरितकाय व त्रस न हों, ग्रामसे दूर हो, गूढ़ हो, जहां किसीकी दृष्टि न पडे, विशाल हो, जिसमें विल आदि न हों, किसीकी जहां मनाई न हो सो प्रतिष्ठापनिका समिति मूलगुण है।

११ चक्षुनिरोध मूलगुण ।

सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु ।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥ १७ ॥

भावार्थ—स्त्रियों व पुरुषोंके मनोज्ञरूप व अचित्त चित्र मूर्ति आदिके रूप, स्त्री पुरुषोंकी गीत नृत्य वादित्र क्रिया, उनके भिन्न२ आकार व वस्तुओंके वर्ण आदि देखकर उनमें रागद्वेष न करके समताभाव रखना सो चक्षुनिरोध मूलगुण है।

१२ श्रोत्रेन्द्रियनिरोध मूलगुण।

सज्जादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु॥ १८॥

भावार्थ-खड्ग, ऋषभ, गांधार, मध्यम, धैवत, पञ्चम निपाद ये सात स्वर हैं। इनसे जीव द्वारा प्रगट शब्दोंको व वीणा आदि अजीव बाजोंके शब्दको जो रागादिक भावोंके निमित्त हैं स्वयं न करना, न उनका सुनना सो श्रोत्रेंद्रिय निरोध मूलगुण है। इससे यह स्पष्ट होजाता है कि मुनि महाराज रागके कारणभूत गाने बजानेको न करते न सुनते हैं।

१३ घ्राणेन्द्रिय निरोध मूलगुण।

पयडीवासणगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स॥ १९॥

भावार्थ--जीव या अजीव सम्बन्धी पदार्थोंके स्वाभाविक व अन्य द्वारा वासनाकृत शुभ अशुभ गंधमें रागद्वेष न करना सो घ्राण निरोध मूलगुण मुनिवरोंका है। मुनि महाराज कस्तूरी, चंदन पुष्पमें राग व मूत्र पुरीषादिमें द्वेष नहीं करते, समभाव रखते हैं।

१४ रसनेन्द्रियनिरोध मूलगुण।

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी॥ २०॥

चार प्रकार भोजनमें अर्थात् भात, दूध, लाडू, इलायची आदिमें व तीखा, कडुवा, कषायला, खट्टा, मीठा पांच रसों कर सहित प्राशुक निर्दोष भोजन पानमें इष्ट अनिष्ट आहारके होनेपर अति लोलुपता या द्वेष न करना, समभाव रखना सो जिह्वाको जीतना मूलगुण है।

१५ स्पर्शनेन्द्रिय निरोध मूलगुण ।

जीवाजीवसमुत्थे कक्कडमउगादिअट्ठभेदजुदे ।
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो ॥ २१ ॥

भावार्थ—जीव या अजीव सम्बन्धी कर्कश, मृदु, शीत, उष्ण, रूखे, चिकने, हलके या भारी आठ भेद रूप शुभ या अशुभ स्पर्शके होनेपर उनमें इच्छा न करके रागद्वेष जीतना सो स्पर्शेन्द्रिय निरोध मूलगुण है।

१६ सामायिक आवश्यक मूलगुण ।

जीविदमरणे लाहालाभे संजोयविप्पओगे य ।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामायियं णाम ॥ २३ ॥

भावार्थ—जीवन मरण, लाभ हानि, संयोग वियोग, मित्र शत्रु, सुख दुःख आदि अवस्थाओंमें समता रखनी सो सामायिक आवश्यक मूलगुण है।

१७ चतुर्विंशति स्तव मूलगुण ।

उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्ति गुणाणुकित्ति च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ ॥ २४ ॥

भावार्थ—वृषभादि चौवीस तीर्थंकरोंका नाम लेना, उनका गुणानुवाद गाना, उनको मन वचन काय शुद्ध करके प्रणाम करना व उनकी भाव पूजा करनी सो चतुर्विंशतिस्तव मूलगुण है।

१८ वन्दना आवश्यक मूलगुण ।

अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरूण रादीणं ।
किदिकम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥ २५ ॥

भावार्थ—अरहंत और सिद्धोंकी प्रतिमाओंको, तपस्वी गुरुओंको, गुणोंमें श्रेष्ठोंको, दीक्षा गुरुओंको व अपनेसे बड़े दीर्घकालके

दीक्षितोंको कृतिकर्म करके अर्थात् सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक अथवा मात्र सिर झुकाकर ही मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक जो प्रणाम करना सो वंदना आवश्यक मूलगुण है।

१६ प्रतिक्रमण आवश्यक मूलगुण।

दव्वे खेत्ते काले भावे य किदावराहसोहणयं।
णिंदणगहरणजुत्तो मणवचकायेण पडिकमणं ॥

भावार्थ--आहार शरीरादि द्रव्यके सम्बन्धमें, वस्तिका शयन आसन गमनादि क्षेत्रके सम्बन्धमें, पूर्वान्ह अपरान्ह रात्रि पक्ष मास आदि कालके सम्बन्धमें व मन सम्बन्धी भावोंके सम्बन्धमें जो कोई अपराध होगया हो उसको अपनी स्वयं निंदा करके व आचार्यादिके पास आलोचना करके, अपने मन वचन कायसे पछतावा करके दोषका दूर करना सो प्रतिक्रमण मूलगुण है।

२० प्रत्याख्यान आवश्यक मूलगुण।

णामादीणं छण्णं अजोगपरिवज्जणं तिकरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥ २८ ॥

भावार्थ—मन वचन काय शुद्ध करके अयोग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको नहीं सेवन करूँ, न कराऊँगा, न अनुमोदना करूंगा। इस तरह आगामी कालमें होनेवाले दोषोंका वर्तमानमें व आगामीके लिये त्यागना सो प्रत्याख्यान मूलगुण है।

२१ कायोत्सर्ग आवश्यक मूलगुण।

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो ॥ २८ ॥

भावार्थ—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सरिक आदि नियमोंमें शास्त्रमें कहे हुए काल प्रमाण २५ श्वास, २७

श्वास या १०८ श्वास तक शरीरका ममत्व त्याग जिनेन्द्रके गुणोंका चिन्तवन करना सो कायोत्सर्ग आवश्यक मूलगुण है।

२२ लोच मूलगुण ।

वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो ।
सपडिक्कमणे दिवसे उपवासेणेव कायव्वो ॥ २९ ॥

भावार्थ—दूसरे, तीसरे, चौथे मासमें उत्कृष्ठ, मध्यम, जघन्य रूपसे प्रतिक्रमण सहित व उस दिन उपवास सहित मस्तक डाढ़ी मूंछके केशोंका हाथोंसे उपाड़ डालना सो लोच मूलगुण है।

२३ अचेलकत्व मूलगुण ।

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असंवरणं ।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥ ३० ॥

भावार्थ—वस्त्र, चर्म मृगछाला, वक्कल व पत्तों आदिसे अपने शरीरको नहीं ढंकना, आभूषण नहीं पहनना, सर्व परिग्रहसे रहित रहना सो जगतमें पूज्य अचेलकपना या नग्नपना मूलगुण है।

२४ अस्नान मूलगुण ।

ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमल्लसेदसव्वंगं ।
अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो ॥ ३१ ॥

भावार्थ—स्नान, शृंगार, उवटन आदिको छोड़कर सर्व अंगमें मल हो व एक देशमें मल हो व पसीना निकले इसकी परवाह न करके जीवदयाके हेतुसे व उदासीन वैराग्यभावके कारणसे स्नान न करना सो इंद्रिय व प्राण संयमको पालनेवाला अस्नान मूलगुण है। मुनियोंके स्नान न करनेसे अशुचिपना नहीं होता है क्योंकि उनकी पवित्रता व्रतोंके पालनसे ही रहती है।

२५ क्षितिशयन मूलगुण ।

फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे ।
दंडंधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ॥ ३२ ॥

भावार्थः-प्राशुक भूमिके प्रदेशमें विना संथारेके व अपने शरीर प्रमाण संथारेमें स्त्री पशु नपुंसक रहित गुप्त स्थानमें धनुषके समान व लकडीके समान एक पखवाडेसे सोना सो क्षितिशयन मूलगुण है । अधोमुख या ऊपरको मुख करके नहीं सोना चाहिये, संथारा तृणमई, काष्ठमई, शिलामई या भूमिमात्र हो तथा उसमें गृहस्थ योग्य विछौना ओढ़ना आदि न हो । इंद्रिय सुखके छोड़ने व तपकी भावनाके लिये व शरीरके ममत्व त्यागके लिये ऐसा करना योग्य है ।

२६ अदन्तमन मूलगुण ।

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं ।
दंतमला सोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥ ३३ ॥

भावार्थ—अंगुली, नाखून, अवलेखनी ' जिससे दांतोंका मैल निकालते हैं ' अर्थात् दंतौन तृणादि, पाषाण, छाल आदिकोंसे जो दांतोके मलोंको नहीं साफ करना संयम तथा गुप्तिके लिये सो अदंतमण मूलगुण है । साधुओंके दांतोंकी शोभाका बिलकुल भाव नहीं होता है इससे गृहस्थोंके समान किसी वस्तुसे दांतोंको मलमल कर उजालते नहीं । भोजनके पीछे मुंह व दांत अवश्य धोते हैं जिसमें कोई अन्न मुंहमें न रह जावे, इसी क्रियासे ही उनके दांत आदि ठीक रहते हैं । उनको एक दफेके सिवाय भोजनपान नहीं है इससे उनको दंतौनकी जरूरत ही नहीं पड़ती है ।

२७-स्थिति भोजन ।

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादिविवज्जणेण समपायं ।
पडिसद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥ ३४ ॥

भावार्थ-अपने हाथोंको ही पात्र बनाकर, खड़े होकर, भीन आदिका सहारा न लेकर, चार अंगुलके अंतरसे दोनों पगोंको रखकर जीववधादिदोष रहित तीनों भूमियोंको देखकर-अर्थात् जहां आप भोजन करने खड़ा हो, जहां भोजनांश गिरे व जहां दातार खड़ा हो-जो भोजन करना सो स्थिति भोजन मूलगुण है। भोजन सम्बन्धी जो अंतराय कहे हैं उनमें प्रायः अधिकांश सिद्धभक्ति करनेके पीछे माने जाते हैं। भोजनका काल तीन महुर्त है। जबसे सिद्धभक्ति करले। इससे सिद्धभक्ति करनेके पीछे अन्य स्थानमें जासके हैं। जब जब भोजन लेंगे तब खड़े हो हाथोंमें ही लेंगे जिससे यदि अंतराय हो तो अधिक नष्ट न हो तथा खड़ भोजन करनेमें संयमके पालनेमें विशेष ध्यान रहता है प्रमाद नहीं आता।

२८-एक भक्त मूलगुण।

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुअ तिये वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥ ३५ ॥

भावार्थ-सूर्योदय तथा अस्तके कालमें तीन घड़ी अर्थात् १ घंटा १२ मिनट छोड़कर शेष मध्यके कालमें एक, दो या तीन महूर्तके भीतर भोजनपान करलेना सो एक भक्त मूलगुण है।

इन ऊपर कहे हुए २८ मूलगुणोंका अभ्यास करता हुआ साधु यदि कदाचित् किसी मूलगुणमें कुछ दोष लगा लेता है तो

उसका प्रायश्चित लेकर अपनी शुद्धि करके फिर मूलगुणोंके यथार्थ पालनमें सावधान होजाता है ऐसे साधुको छेदोपस्थापक कहते हैं।

वृत्तिकार श्री जयसेनआचार्यने ऐसा भाव झलकाया है कि निश्चय आत्मस्वरूपमें रमणरूप सामायिक ही निश्चय मूलगुण है, जब आत्मसमाधिसे च्युत हो जाता है तब वह इस २८ विकल्प रूप या भेदरूप चारित्रको पालता है जिसको पालते हुए निर्विकल्प समाधिमें पहुंचनेका उद्योग रहता है। निश्चय सामायिकका लाभ शुद्ध सुवर्ण द्रव्यके लाभके समान है। व्यवहार मूलगुणोंमें वर्तना अशुद्ध सुवर्णकी कुण्डलादि अनेक पर्यायोंके लाभके समान है। प्रयोजन यह है कि निश्चय चारित्र ही मोक्षका बीज है। यही साधुका भावलिंग है, अतएव जो अभेद रत्नत्रयमई स्वानुभवमें रमण करते हुए निजानंदका भोग करते हैं वे ही यथार्थ साधु हैं।

इस तरह मूल और उत्तर गुणोंको कहते हुए दूसरे स्थलमें दो सूत्र पूर्ण हुए ॥ ९ ॥

उत्थानिका—अब यह दिखलाते हैं कि इस तप ग्रहण करनेवाले साधुके लिये जैसे दीक्षादायक आचार्य या साधु होते हैं वैसे अन्य निर्यापक नामके गुरु भी होते हैं।

लिंगग्गहणं तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसुवट्ठगा सेसा णिज्जावया समणा ॥ १० ॥

लिंगग्रहणं तेषां गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति।
छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणाः ॥ १० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः—(लिंगग्गहणं) मुनिभेषके ग्रहण

करते समय (तेसिं गुरुः) उन साधुओंका जो गुरु होता है (इति) वह (पव्वज्जदायगो) दीक्षागुरु (होदि) होता है। (छेदेसूवट्ठगा) एक देश व्रतभंग या सर्वदेश व्रत भंग होनेपर जो फिर व्रतमें स्थापित करने वाले होते हैं (सेसा) वे सब शेष (णिज्जावया समणा) निर्यापक श्रमण या शिक्षागुरु होते हैं।

विशेषार्थः—निर्विकल्प समाधिरूप परम सामायिकरूप दीक्षाके जो दाता होते हैं उनको दीक्षा गुरु कहते हैं तथा छेद दो प्रकारका है। जहां निर्विकल्प समाधिरूप सामायिकका एक देश भङ्ग होता है उसको एक देश छेद व जहां सर्वथा भङ्ग होता है उसको सर्व देश छेद कहते हैं। इन दोनों प्रकार छेदोंके होनेपर जो साधु प्रायश्चित देकर संवेग वैराग्यको पैदा करनेवाले परमागमके वचनोंसे उन छेदोंका निवारण करते हैं वे निर्यापक या शिक्षागुरु या श्रुतगुरु कहे जाते हैं। दीक्षा देनेवालेको ही गुरु कहेंगे यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह भाव झलकाया है कि दीक्षादाता गुरुके सिवाय शिष्योंकी रक्षा करनेवाले निर्यापक या शिक्षागुरु भी होते हैं। जिनके पास शिष्य अपने दोषोंके निवारणकी शिक्षा लेता रहता है और अपने दोषोंको निकालता रहता है। वास्तवमें निर्मल चारित्र ही अंतरङ्ग भावोंकी शुद्धिका कारण है, अतएव अपने भावोंमें कोई भी विकार होनेपर साधु उसकी शुद्धि करते हैं जिससे सामायिकका लाभ यथायोग्य होवै। स्वात्मानन्दके प्रेमीको कोई अभिमान, भय, ग्लानि नहीं होती, वह बालकके समान अपने दोषोंको आचार्यसे कहकर उनके दिये हुए

दंडको बड़े आनन्दसे लेकर अपने भावोंकी निर्मलता करते हैं। तात्पर्य यह है कि साधुको अपने अंतरंग बहिरंग चारित्रकी शुद्धि-पर सदा ध्यान रखना योग्य है। जैसा मूलाचारमें अनगार भावना अधिकारमें कहा है:—

उवधिभरविप्पमुक्का वोसट्टंगा णिरंबरा धीरा।
णिक्किंचण परिसुद्धा साधू सिद्धिवि मग्गंति ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो परिग्रहके भारसे रहित होते हैं, शरीरकी मम-ताके त्यागी होते हैं, वस्त्र रहित, धीर और निर्लोभी होते हैं तथा मन वचन कायसे शुद्ध आचरण पालनेवाले होते हैं वे ही साधु अपनी आत्माकी सिद्धि अर्थात् कर्मोके क्षयको सदा चाहते हैं ॥१०

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्रमें कहे हुए दो प्रकार छेदके लिये प्रायश्चित्तका विधान क्या है सो कहते हैं?

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्मि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥ ११ ॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्मि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥ १२ ॥ युगलं

प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायाम्।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनापूर्विका क्रिया ॥ ११ ॥
छेदोपयुक्तः श्रमणः श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते।
आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम् ॥ १२ ॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(पयदम्हि समारद्धे) चारित्रका प्रयत्न प्रारम्भ किये जानेपर (जदि) यदि (समणस्स) साधुकी

(कायचेट्ठम्मि) कायकी चेष्ठामें (छेदो) छिद या भंग (जायदि) हो जावे (पुणो तस्स) तो फिर उस साधुकी (आलोयणपुव्विया किरिया) आलोचनपूर्वक क्रिया ही प्रायश्चित्त है । (छेदुवजुत्तो समणो) भंग या छेद सहित साधु (जिणमदम्मि) जिनमतमें (विव-हारिणं) व्यवहारके ज्ञाता (समणं) साधुको (आसेज्ज) प्राप्त होकर (आलोचित्ता) आलोचना करनेपर (तेण उवदिट्ठं) उस साधुके द्वारा जो शिक्षा मिले सो उसे (कायव्वं) करना चाहिये ।

विशेषार्थ–यदि साधुके आत्मामें स्थितिरूप सामायिकके प्रयत्नको करते हुए भोजन, शयन, चलने, खडे होने, बैठने आदि शरीरकी क्रियाओंमें कोई दोष होजावे, उस समय उस साधुके साम्य-भावके बाहरी सहकारी कारणरूप प्रतिक्रमण है लक्षण जिसका ऐसी आलोचना पूर्वक क्रिया ही प्रायश्चित अर्थात् दोषकी शुद्धिका उपाय है अधिक नही क्योकि वह साधु भीतरमें स्वस्थ आत्मीक भावसे चलायमान नहीं हुआ है । पहली गाथाका भाव यह है । तथा यदि साधु निर्विकार स्वसंवेदनकी भावनासे च्युत होजावे अर्थात् उसके सर्वथा स्वस्थ्यभाव न रहे । ऐसे भङ्गके होनेपर वह साधु उस आचार्य या निर्यापकके पास जायगा जो जिनमतमें वर्णित व्यवहार क्रियाओंके प्रायश्चित्तादि शास्त्रोके ज्ञाता होंगे और उनके सामने कपट रहित होकर अपना दोष निवेदन करेगा । तब वह प्रायश्चित्तका ज्ञाता आचार्य उस साधुके भीतर जिस तरह निर्विकार स्वसंवेदनकी भावना होजावे उसके अनुकूल प्रायश्चित या दंड बता-वेगा । जो कुछ उपदेश मिले उसके अनुकूल साधुको करना योग्य है ।

भावार्थ-यहां दो गाथाओंमें आचार्यने साधुके दोषोंको शुद्ध करनेका उपाय बताया है। यदि साधु अन्तरङ्ग चारित्रमें सावधान है और सावधानी रखते हुए भी अपनी भावनाके विना भी किसी कारणसे बाहरी शयन, आसन आदि शरीरकी क्रियाओंमें शास्त्रोक्त विधिमें कुछ त्रुटि होनेपर संयममें दोष लग जावे तो मात्र बहिरङ्ग भङ्ग हुआ। अतरङ्ग नहीं। ऐसी दशामें साधु स्वयं ही प्रतिक्रमण रूप आलोचना करके अपने दोषोंकी शुद्धि करले, परन्तु यदि साधुके अन्तरङ्गमें उपयोग पूर्वक संयमका भंग हुआ हो तो उसको उचित है कि प्रायश्चित्तके ज्ञाता आचार्यके पास जाकर जैसे बालक अपने दोषोंको विना किसी कपटभावके सरल रीतिसे अपनी माताको व अपने पिताको कह देता है इसी तरह आचार्य महाराजसे कह देवे। तब आचार्य विचार कर जो कुछ उस दोषकी निवृत्तिका उपाय बतावें उसको बडी भक्तिसे उसे अंगीकार करना चाहिये। यह सब छेदोपस्थापन चारित्र है।

प्रायश्चित्तके सम्बन्धमें पं० आशाधरकृत अनगारधर्मामृतमें इस तरह कथन है:—

यत्कृत्याकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोर्जितम्।
सोतिचारोत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत् ॥३४॥ अ. ७

भावार्थ—जो पाप करने योग्य कार्यके न करनेसे व न करने योग्य कार्यको न छोड़नेसे उत्पन्न होता हो उसको अतिचार कहते हैं उस अतिचारकी शुद्धि कर लेना सो प्रायश्चित्त है। उसके दश भेद हैं। श्री मूलाचार पंचाचार अधिकारमें भी दश भेद कहे हैं। जब कि श्री उमास्वामीकृत तत्वार्थसूत्रमें केवल ९ भेद ही कहे हैं।

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापना ॥ २२/८ ॥

यद्यपि इस सूत्रमें श्रद्धान नामका भेद नहीं है। तथापि उपस्थापनमें गर्भित है। इन १० का भाव यह है—

१ आलोचना—जो आचार्यके पास जाकर विनय सहित दश दोष रहित अपना अपराध निवेदन कर देना सो आलोचना है। साधु प्रातःकाल या तीसरे पहर आचार्यके पास अपना दोष कहे। वे दश दोष इस प्रकार हैं—

१ आकम्पित दोष—बहुत दंडके भयसे कांपता हुआ गुरुको कमंडल पुस्तकादि देकर अनुकूल वर्तन करे कि इससे गुरु प्रसन्न होकर अल्प दंड देवें सो आकम्पित दोष है।

२ अनुमापित दोष—गुरुके सामने अपना दोष कहते हुए अपनी अशक्ति भी प्रगट करना कि मैं महाअसमर्थ हूं, धन्य हैं वे वीर पुरुष जो तप करते हैं, इस भावसे कि गुरु कम दंड देवें सो अनुमापित दोष है।

३ यद्दृष्टदोष जिस दोषको दूसरेने देख लिया हो उसको तो गुरुसे कहे परन्तु जो किसीने देखा न हो उसको छिपा ले सो यद्दृष्ट दोष है।

४ बादरदोष—गुरुके सामने अपने मोटे २ दोषोंको कह देना किंतु सूक्ष्म दोषोंको छिपा लेना सो बादर दोष है।

५ सूक्ष्मदोष—गुरुके सामने अपने सूक्ष्म दोष प्रगट कर देना परन्तु स्थूल दोषोंको छिपा लेना सो सूक्ष्मदोष है।

६ छन्नदोष—गुरुके सामने अपना दोष न कहे किंतु उनसे

इस तरह पूंछ ले कि यदि कोई ऐसा दोष करे तो उसके लिये क्या प्रायश्चित्त होना चाहिये ऐसा कहकर व उत्तर मालूमकर उसी प्रमाण अपने दोषको दूर करनेके लिये प्रायश्चित्त करे सो छन्न दोष है। इसमें साधुके मानकी तीव्रता झलकती है।

७ शब्दाकुलदोष—जब बहुत जनोंका कोलाहल होरहा है तब गुरुके सामने अपना अतीचार कहना सो शब्दाकुल दोष है। इसमें भी शिष्यका अधिक दंड लेनेका भय झलकता है, क्योंकि कोल्हाहलके समय साधुका भाव संभव है आचार्यके ध्यानमें अच्छी तरह न आवे।

८ बहुजनदोष-जो एक दफे प्रायश्चित्त गुरुने किसीको दिया हो उसीको दूसरे अपने दोष दूर करनेके लिये लेलेवें। गुरुसे अलग २ अपना दोष न कहे सो बहुजन दोष है।

९ अव्यक्तदोष—जो कोई संयम या ज्ञानहीन गुरुसे प्रायश्चित्त लेलेना सो अव्यक्त दोष है।

१० तत्सेवित—जो कोई दोप सहित होकर दोष सहित पार्श्वस्थ साधुसे प्रायश्चित्त लेना सो तत्सेवित दोष है।

इन दोषोंको दूर करके सरल चित्तसे अपना दोष गुरुसे कहना सो आलोचना नाम प्रायश्चित्त है। बहुतसे दोष मात्र गुरुसे कहने मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं।

२ प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त-मिथ्या मे दुष्कृतम्—मेरा पाप मिथ्या होउ, ऐसा वचन वारवार कहकर अपने अल्पपापकी शुद्धि कर लेना सो प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। इसमें गुरुको कहनेकी जरूरत नहीं है। जैसा इस प्रवचन शास्त्रकी ११वीं गाथामें कहा है।

संयम विराधनाके भाव विना कायचेष्टासे कुछ दोष लग जाना सो प्रतिक्रमण मात्रसे शुद्ध होता है। प्रतिक्रमण सात प्रकार है—

१ दैवसिक–जो दिनमें भए अतीचारको शोधना।

२ रात्रिक–जो रात्रिमें भए अतीचारको शोधना।

३ ऐर्यापथिक–ईर्यापथ चलनेमें जो दोष होगया हो उसको शोधना।

४ पाक्षिक–जो पन्द्रह दिनके दोषोंको शुद्ध करना।

५ चातुर्मासिक–जो कार्तिकके अंतमें और फाल्गुणके अंतमें करना, चार चार मासके दोषोंको दूर करना।

६ सांवत्सरिक–जो एक वर्ष वीतनेपर आषाढ़के अंतमें करना १ वर्षके दोषोंको शोधना।

७ उत्तमार्थ–जन्मपर्यंत चार प्रकार आहारका त्याग करके सर्व जन्मके दोषोंको शोधना।

इस तरह सात अवसरोंपर प्रतिक्रमण किया जाता है। बैठने, लोच करने, गोचरी करने, मलमूत्र करने आदिके समयके प्रतिक्रमण यथासंभव इनहीमें गर्भित समझ लेना चाहिये।

३ प्रायश्चित्त तदुभय–दुष्टस्वप्न संक्लेशभावरूपी दोषके दूर करनेके लिये आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करने चाहिये सो तदुभय प्रायश्चित्त है।

४ विवेक–किसी अन्न आदि पदार्थमें आशक्ति हो जानेपर उस दोषके मेटनेके लिये उस अन्नपान स्थान उपकरणका त्याग कर देना सो विवेक है।

५ व्युत्सर्ग–मल मूत्र त्याग, दुःस्वप्न, दुश्चिन्ता, सूत्र संबंधी

अतीचार, नदी तरण, महावन गमन आदि कार्योंमें जो शरीरका ममत्व त्यागकर अन्तर्मूहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास आदि काल तक ध्यानमें खडे रहना सो कायोसर्ग या व्युत्सर्ग है। (नौ णामोकार मंत्रको सत्ताईस श्वासोछ्वासमें जपना ध्यान रखते हुए सो एक कायोत्सर्ग प्रसिद्ध है। प्रायश्चित्तमें यह भी होता है कि इतने ऐसे कायोत्सर्ग करो) अनगार धर्मामृतमें अ० ८ में है:—

सप्तविंशतिरुछ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे।
संति पंचनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति॥

भावार्थ-९ दफे संसारछेदक णमोकारमन्त्रको पढ़नेमें २७ श्वासोश्वास लगाना चाहिये। इसी श्लोकके पूर्व है कि एक उछ्वासमें णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं पढ़े, दूसरेमें णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं पढ़े, तीसरेमें णमो लोए सव्वसाहूण पढ़े। कितने उछ्वासोंका कायोत्सर्ग कबकब करना चाहिये उसका प्रमाण इस तरह है। दैवसिक प्रतिक्रमणके समय १०८ उछ्वास, रात्रिकमें ५४, पाक्षिकमें तीन सौ ३००, चातुर्मासिकमें ४००, सांवत्सरिकमें ५०० जानने। २५ पचीस उछ्वास कायोत्सर्ग नीचेके कार्योंके समय करें मूत्र करके, पुरीष करके, ग्रामान्तर जाकर, भोजन करके, तीर्थंकरकी पंचकल्याणक भूमि व साधुकी निषिद्धिकाकी वन्दना करनेमें। तथा २७ सत्ताईस उछ्वास कायोत्सर्ग करे, शास्त्र स्वाध्याय प्रारम्भमें व उसकी समाप्तिमें तथा नित्य वंदनाके समय तथा मनके विकार होनेपर उसकी शांतिके लिये। यदि मनमें जन्तुघात, असत्य, अदत्त ग्रहण, मैथुन व परिग्रहका विकार हो तो १०८ उछ्वास कायोत्सर्ग है।

५ तप–जो दोषकी शुद्धिके लिये उपवास, रसत्याग आदि तप किया जाय सो तप प्रायश्चित्त है।

६ छेद–बहुतकालके दीक्षित साधुका दीक्षाकाल पक्ष, मास, वर्ष, दोवर्ष घटा देना सो छेद प्रायश्चित्त है। इससे साधु अपनेसे नीचेवालोंसे भी नीचा होजाता है।

७ मूल–पार्श्वस्थादि साधुओंको जो बहुत अपराध करते हैं उनकी दीक्षा छेदकर फिरसे मुनि दीक्षा देना सो मूल प्रायश्चित्त है। जो साधु स्थान, उपकरण आदिमें आशक्त होकर उपकरण करावे, सो पार्श्वस्थ साधु है।

जो वैद्यक, मंत्र, ज्योतिष व राजाकी सेवा करके समय गमाकर भोजन प्राप्त करे सो संसक्त साधु है। जो आचार्यके कुलको छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द विहारी, जिन वचनको दूषित करता हुआ फिरे सो मृगचारी साधु है। जो जिन वचनको न जानकर ज्ञान चारित्रसे भृष्ट चारित्रमें आलसी हो सो अवसन्न साधु है। जो क्रोधादि कषायोंसे कलुषित हो व्रतशील गुणसे रहित हो, संघका अविनय करानेवाला हो सो कुशील साधु है। इन पांच प्रकारके साधुओंकी शुद्धि फिरसे दीक्षा लेनेपर होती है।

परिहार–विधि सहित अपने संघसे कुछ कालके लिये दूर कर देना सो परिहार प्रायश्चित्त है। ये तीन प्रकार होता है–(१) गणप्रतिबद्ध या निजगणानुपस्थान–जो कोई साधु किसी शिष्यको किसी संघसे बहकावे, शास्त्र चोरी करे व मुनिको मारे आदि पाप करे तो उसको कुछ कालके लिये अपने ही संघमें रखकर यह आज्ञा देना कि वह संघसे ३२ बत्तीस दंड (हाथ) दूर रहकर बैठे चले,

पीछीको आगे करके आप सर्व बाल वृद्ध मुनियोंको नमस्कार करे, परंतु बदलेमें कोई मुनि उसको नमन न करें, पीछीको उल्टी रक्खे, मौनव्रतसे रहे, जघन्य पांच पांच दिन तथा उत्कृष्ठ छः छः मासका उपवास करे। ऐसा परिहार बारह वर्ष तकके लिये हो सक्ता है।

यदि वही मुनि मानादि कषाय वश फिर वैसा अपराध करे तो उसको आचार्य दूसरे संघमें भेजें, वहां अपनी आलोचना करे वे फिर तीसरे संघमें भेजें। इसतरह सात संघके आचार्योंके पास वह अपना दोष कहे तब वह सातमा आचार्य फिर जिसने शुरुमें भेजा था उसके पास भेज दे। तब वही आचार्य जो प्रायश्चित दें सो ग्रहण करें। यह सहपरगणअनुपस्थापन नामका भेद है।

फिर वही मुनि यदि और भी बड़े दोषोंसे दूषित हों तब चार प्रकार संघके सामने उसको कहें यह महापापी, आगम बाहर है, वंदनेयोग्य नहीं, तब उसे प्रायश्चित्त देकर देशसे निकाल दें वह अन्य क्षेत्रमें आचार्यद्वारा दिये हुए प्रायश्चित्तको आचरण करे। (नोट–इसमें भी कुछ कालका नियम होता है, क्योंकि परिहारकी विधि यही है कि कुछ कालके लिये ही वह साधु त्यागा जाता है।) जैसा श्री तत्वार्थसारमें अमृतचंद्रस्वामी लिखते हैं–

"परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम् ॥ २६-७"

१० श्रद्धान–जो साधु श्रद्धानभ्रष्ट होकर अन्यमती हो गया हो उसका श्रद्धान ठीक करके फिर दीक्षा देना सो श्रद्धान प्रायश्चित्त है। अनगार धर्मामृत सातवें अध्यायके ५२ वें श्लोककी व्याख्यामें यह कथन है कि जो कोई आचार्यको विना पूछे आता-

पनादि योग करे, उनकी पुस्तक पीछी आदि उपकरण विना पृछे लेलेवे, प्रमादसे आचार्यके वचनको न पाले, संघनाथको विना पृछे संघनाथके प्रयोजनसे जावे आवे, परसंघसे विना पूछे अपने संघमें आवे, देशकालके नियमसे अवश्य कर्तव्य व्रत विशेपको धर्मकथादिमें लगकर भूल जावे, तथा फिर याद आनेपर करे तो मात्र गुरुसे विनयसे कहनेरूप आलोचना ही प्रायश्चित है। पांच इंद्रिय व मन सम्बन्धी दुर्भाव होनेपर, आचार्यादिके हाथ पग आदि मर्दनमें व्रत समिति गुप्तिमें अल्प आचार करनेपर, चुगली व कलह आदि करनेपर, वैयावृत्य स्वाध्यायादिमें प्रमाद करनेपर, गोचरीको जाते हुए स्पर्श लिंगके विकारी होनेपर आदि अन्य संक्लेश कारणोंपर दैवसिक व रात्रिक व भोजन गमनादिमें स्वयं प्रतिक्रमण करना ही प्रायश्चित्त है।

लोच, नख छेद, स्वप्नदोष, इंद्रियदोष व रात्रि भोजन सम्बन्धी कोई सूक्ष्म दोप होनेपर प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों प्रायश्चित्त होते हैं। मौनादि विना आलोचना करने, उदरसे कृमि निकलने, शर्दी, दंशमशक आदि महावायुके संघर्ष सम्बन्धी दोष होने, चिकनी जमीन हरेतृणकी चड़पर चलने, जंघामात्र जलमें प्रवेश होने, अन्यके निमित्तकी वस्तुको अपने उपयोगमें करने, नदी पार करने, पुस्तक व प्रतिमाके गिर जाने, पांच स्थावरोंका घात होने, विना देखे स्थानमें शरीर मल छोड़ने आदि दोषोंमें अथवा पक्ष मास आदि प्रतिक्रमणके अंतकी क्रियामें व व्याख्यान देनेके अंतमें कायोत्सर्ग करना ही प्रायश्चित्त है। मूत्र व मल छोड़नेपर भी कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

जैसे वैद्य रोगीकी शक्ति आदि देखकर उसका रोग जिस तरह मिटे वैसी उसके अनुकूल औषधि देता है वैसे आचार्य शिष्यका अपराध व उसकी शक्ति, देश, काल आदि देखकर जिससे उसका अपराध शुद्ध हो जावे ऐसा प्रायश्चित्त देते हैं।

जबतक निर्विकल्प समाधिमें पहुंच नहीं हुई अर्थात् शुद्धोपयोगी हो श्रेणीपर आरूढ़ नहीं हुआ तबतक सविकल्प ध्यान होने व आहार विहारादि क्रियाओंके होनेपर यह बिलकुल असंभव है मन, वचन, काय सम्बन्धी दोष ही न लगें। जो साधु अपने लगे दोषोंको ध्यानमें लेता हुआ उनके लिये आलोचना प्रतिक्रमण करके प्रायश्चित्त लेता रहता है उसके दोषोंकी मात्रा दिन पर दिन घटती जाती है। इसी क्रमसे वह निर्दोषताकी सीढ़ीपर चढ़कर निर्मल सामायिकभावमें स्थिर होजाता है।

इस तरह गुरुकी अवस्थाको कहते हुए प्रथम गाथा तथा प्रायश्चित्तको कहते हुए दो गाथाएं इस तरह समुदायसे तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥ १२ ॥

उत्थानिका—आगे निर्विकार मुनिपनेके भङ्गके उत्पन्न करनेवाले निमित्त कारणरूप परद्रव्यके सम्बन्धोंका निषेध करते हैं:—

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबन्धाणि ॥१३॥
अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये ।
श्रमणो विहरतु नित्यं परिहरमाणो निबन्धान् ॥ १३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(समणो) शत्रु मित्रमें समान भावधारी साधु (णिबन्धाणि परिहरमाणो) चेतन अचेतन मिश्र

पदार्थोंमें अपने रागद्वेष रूप सम्बन्धोंको छोड़ता हुआ (सामण्णे छेदविहूणो भवीय) अपने शुद्धात्मानुभवरूपी मुनिपदमें छेद रहित होकर अर्थात् निज शुद्धात्माका अनुभवनरूप निश्चय चारित्रमें भङ्ग न करते हुए (अधिवासे) व्यवहारसे अपने अधिकृत आचार्यके संघमें तथा निश्चयसे अपने ही शुद्धात्मारूपी घरमें (व विवासे) अथवा गुरु रहित स्थानमें (णिच्चं विहरतु) नित्य विहार करे।

विशेषार्थ–साधु अपने गुरुके पास जितने शास्त्रोंको पढ़ता हो उतने शास्त्रोंको पढ़कर पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर अपने समान शील और तपके धारी साधुओंके साथ निश्चय और व्यवहार रत्न-त्रयकी भावनासे भव्य जीवोंको आनन्द पैदा कराता हुआ तथा तप, शास्त्र, वीर्य, एकत्व और संतोष इन पांच प्रकारकी भावनाओंको भाता हुआ तथा तीर्थंकर परमदेव, गणधर देव आदि महान् पुरुषोंके चरित्रोंको स्वयं विचारता हुआ और दूसरोंको प्रकाश करता हुआ विहार करता है यह भाव है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने विहार करनेकी रीति बताई है। जब साधु दीक्षा ले तब कुछ काल तक अपने गुरुके साथ घूमें उस समय उनसे उपयोगी ग्रन्थोंकी शिक्षा ग्रहण करे तथा तथा परद्रव्य जितने हैं उन सबसे अपना रागद्वेष छोड देवे। स्त्री पुत्र मित्र अन्य मनुष्य व रागद्वेष ये सब चेतन परद्रव्य हैं। भूमि मकान, वस्त्र, आभूषण, ज्ञानावरणादि आठ कर्म व शरीरादि नोकर्म अचेतन परद्रव्य हैं तथा कुटुम्ब सहित घर, प्रजासहित नगर देश व रागद्वेष विशिष्ट सवस्त्राभूषण मनुष्यादि मिश्र परद्रव्य हैं। इन सबको अपने शुद्धात्माके स्वभावसे भिन्न जानकर इनसे अपने राग-

द्वेषमई सम्बन्धोंका त्याग करे तथा अपने स्वरूपाचरण रूप निश्चय चारित्रमें व उसके सहकारी व्यवहार चारित्रमें भंग या दोष न लगावे। यदि कोई प्रमादसे दोप होजावे तो उसके लिये प्रायश्चित्त लेकर अपना दोप दूर करता रहे। जब निश्चय व्यवहार चारित्रमें परिपक्व होजावे तब अन्य अपने समान चारित्रके धारी साधुओंके संगमें अपने गुरुकी आज्ञा लेकर पहलेकी तरह निर्दोष चारित्रकी सम्हाल रखता हुआ विहार करे। तथा जब एकाविहरी होने योग्य होजावे तब गुरुकी आज्ञा लेकर अकेला विहार करते हुए साधुका यह कर्तव्य है कि स्वयं निश्चय चारित्रको पाले और शास्त्रोक्त व्यवहार चारित्रमें दोष न लगावे। इस तरह मुनि पदकी महिमाको प्रगट करता हुआ भक्तजन अनेक श्रावकादिकोंके मनमें आनन्द पैदा करावे और निरन्तर अपने चारित्रकी सहकारिणी इन पांच भावनाओंको इस तरह भावे--

(१) तप ही एक सार वस्तु है जैसा सुवर्ण अग्निसे तपाए जानेपर शुद्ध होता है वैसे आत्मा इच्छा रहित होता हुआ आत्मज्ञानरूपी अग्निसे ही शुद्ध होता है। (२) शास्त्रज्ञान विना तत्वका विचार व उपयोगका रमण नहीं होसक्ता है इसलिये मुझे शास्त्रज्ञानकी वृद्धि व निःसंशयपनेमें सदा सावधान रहना चाहिये (३) आत्मवीर्यसे ही कठिन २ तपस्या होती व उपसर्ग और परीषहोंका सहन किया जाता इससे मुझे आत्मबलकी वृद्धि करना चाहिये तथा आत्मबलको कभी न छिपाकर कर्म शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये वीर योद्धाके समान अभेद रत्नत्रयरूपी खड़गको चमकाते व उससे उन कर्मोंका नाश करते रहना चाहिये। (४) एकत्व ही सार

है, मैं अकेला ही अनादिकालसे इस संसारके चक्रमें अनेक जन्म मरणोंको भोगता हुआ फिरा हूं, मैं अकेला ही अपने भावोंका अधिकारी हूं, मैं अकेला ही अपने कर्तव्यसे पुण्य पापका बांधनेवाला हूं, मैं अकेला ही अपने शुद्ध ध्यानसे कर्म बंधनोंको काटकर केवलज्ञान प्राप्त कर अरहंत होता हुआ फिर सदाके लिये कृतकृत्य और सिद्ध हो सक्ता हूं-मेरा सम्बन्ध न किसी जीवसे है न किसी पुद्गलादि पर द्रव्यसे है। (५) संतोष ही परमामृत है। मुझे लाभ अलाभ, सुख दुःख में सदा संतोष रखना चाहिये। संसारके सर्व पदार्थोंके संयोग होनेपर भी जो लोभी हैं उनको कभी सुख शांति नहीं प्राप्त होसक्ती है। मैंने परिग्रह व आरंभका त्याग कर दिया है, मुझे इष्ट अनिष्ट भोजन वस्तिका आदिमें राग द्वेष न करके कर्मोदयके अनुसार जो कुछ भोजन सरस नीरस प्राप्त हो उसमें हर्ष विषाद न करते हुए परम संतोषरूपी सुधाका पान करना चाहिये। इस तरह इन पांच भावनाओंको भावे तथा निरन्तर २४ तीर्थंकर, वृषभसेनादि गौतम गणधर, श्री बाहुबलि आदि महामुनियोंके चरित्रोंको याद करके उन समान मोक्ष पुरुषार्थके साधनमें उत्साही बना रहे। आचार्य गाथामें कहते हैं कि जो साधु अपने चारित्र पालनमें सावधान है और निजानंदरूपी घरमें निवास करनेवाला है वह चाहे जहां विहार करो, चाहे गुरुकुलमें रहो चाहे उसके बाहर रहो-शत्रु मित्रमें समानभाव रखनेवाला सच्चा श्रमण या साधु है। वह साधु विहार करते हुए अवसर पाकर जैन धर्मका विस्तार करता है। अनेक अज्ञानी जीवोंको ज्ञान दान करता है, कुमार्गगामी जीवोंको सुमार्गमें दृढ़ करता है

तथा मोक्षमार्गका सच्चा स्वरूप प्रगटकर रत्नत्रय धर्मकी प्रभावना करता है।

श्रीमूलाचारजी अनगारभावना अधिकारमें साधुओंके विहार सम्बन्धमें जो कथन है उसका कुछ अंश यह है।

गामेयरादिवासो णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारो विवित्तएगंतवासीय ॥ ७८५ ॥

साधु महाराज जो परम धीरवीर, जन्तु रहित मार्गमें चलनेवाले व स्त्री पशु नपुंसक रहित एकांत गुप्त स्थानमें वसनेवाले होते हैं। किसी ग्राममें एक रात्रि व कोट सहित नगरमें ५ दिन ठहरने हैं जिससे ममत्व न बढ़े व तीर्थयात्राकी प्राप्ति हो।

सज्झायझाणजुत्ता रत्ति ण सुवंति ते पयामं तु।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाय वसं ण गच्छंति ॥ ७९४ ॥

भावार्थ—साधु महाराज शास्त्र स्वाध्याय और ध्यानमें लीन रहते हुए रात्रिको बहुत नहीं सोते हैं। पिछला व पहला पहर रात्रिका छोड़कर बीचमें कुछ आराम करते हैं तो भी शास्त्रके अर्थको विचारते रहते हैं। निद्राके वश नहीं होते हैं।

वसुधम्मिवि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥ ७९८ ॥

भावार्थ—पृथ्वीमें भी विहार करते हुए साधु महाराज किसी जीवको कभी भी कष्ट नहीं देते हैं—वे जीवोंपर इसी तरह दया रखते हैं जैसे माता अपने पुत्र पुत्रियोंपर दया रखती है।

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु।
अप्पट्ठं चिंतंता हवन्ति अव्वावडा साहू ॥ ८०३ ॥
उवसंतादीणमणा उवेक्खसीला हवंति मज्झत्था।
णिहुदा अलोलमसठा अविंभिया कामभोगेसु ॥ ८०४ ॥

भावेंति भावणरदा वइरग्गं वीदरागयाणं च ।
णाणेण दंसणेण य चरित्तजोएण विरिएण ॥ ८०८ ॥

भावार्थ—साधु महाराज विहार करते हुए शस्त्र लकड़ी आदि नहीं रखते व सर्व प्राणिमात्रपर समताभाव रखते हैं तथा सर्व लौकिक व्यापारसे रहित होकर आत्माके प्रयोजनको विचारते रहते हैं। वे साधु परम शांत कषाय रहित होते हैं, दीनता कभी नहीं करते, भूख प्यासादिकी बाधा होनेपर भी याचना आदिके भाव नहीं करते, उपसर्ग परिसह सहनेमें उत्साही रहते, समदर्शी होते, कछुवेके समान अपने हाथ पगोंको संकुचित रखते हैं, लोभी नहीं होते, मायाजाल रहित होते हैं तथा काम भोगादिके पदार्थोंमें आदरभाव नहीं रखते हैं। वे निग्रन्थ साधु बारह भावनाओंमें रत रहकर अपने ज्ञान दर्शन चारित्रमई योग तथा वीर्यसे वीतराग जिनेन्द्रोंके वैराग्यकी भावना करते रहते हैं ॥ १३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मुनिपदकी पूर्णताके हेतुसे साधुको अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें सदा लीन होना योग्य है।

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ १४ ॥

चरति निबद्धो नित्यं श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे ।
प्रयतो मूलगुणेषु च यः स परिपूर्णश्रामण्यः ॥ १४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो समणो) जो मुनि (दंसणमुहम्मि णाणम्मि) सम्यग्दर्शनको मुख्य लेकर सम्यग्ज्ञानमें (णिच्चं णिबद्धो) नित्य उनके आधीन होता हुआ (य मूलगुणेसु पयदो) और मूलगुणोंमें प्रयत्न करता हुआ (चरदि) आचरण करता है (सो पडिपुण्णसामण्णो) वह पूर्ण यति होजाता है।

विशेषार्थ—जो लाभ अलाभ आदिमें समान चित्तको रखनेवाला श्रमण तत्त्वार्थश्रद्धान और उसके फलरूप निश्चय सम्यग्दर्शनमें 'जहां एक निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि होती है' तथा वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए परमागमके ज्ञानमें और उसके फलरूप स्वसंवेदन ज्ञानमें और दूसरे आत्मीक अनन्त सुख आदि गुणोंमें सर्व काल तल्लीन रहता हुआ तथा अठाईस मूलगुणोंमें अथवा निश्चय मूलगुणके आधाररूप परमात्मद्रव्यमें उद्योग रखता हुआ आचरण करता है सो मुनि पूर्ण मुनिपनेका लाभ करता है। यहां यह भाव है कि जो निज शुद्धात्माकी भावनामें रत होते हैं उन हीके पूर्ण मुनिपना होसक्ता है।

भावार्थ—यहां यह भाव है कि जो अपनी शुद्ध मुक्त अवस्थाके लाभके लिये मुनि पदवीमें आरूढ़ होता है उसका उपयोग व्यवहार सम्यक्त और व्यवहार सम्यग्ज्ञानके द्वारा निश्चय सम्यक्त तथा निश्चय सम्यग्ज्ञानमें तल्लीन रहता है—रागद्वेषकी कल्लोलोंसे उपयोग आत्माकी निर्मल भूमिकाको छोड़कर अन्य स्थानमें न जावे इसलिये ऐसे भावलिंगी सम्यग्ज्ञानी साधुको व्यवहारमें साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंको पालकर निश्चय सम्यक्चारित्ररूपी साम्यभावमें तिष्ठना हितकारी है। इसीलिये मोक्षार्थी श्रमण अभेद रत्नत्रयरूपी साम्यभावमें तिष्ठनेका उद्यम रखता है। धर्मध्यानमें व शुक्लध्यानमें चेष्टित रहता है जिस ध्यानके प्रभावसे बिलकुल वीतरागी होकर पूर्ण निर्ग्रन्थ मुनि होजाता है। फिर केवली होकर स्नातक पदको उल्लंघनकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। अनंत कालके लिये अपनी परम शुद्ध अभेद नगरीमें वास प्राप्त कर लेता है।

इसलिये साधुको योग्य है कि व्यवहारमें मग्न न होकर निरन्तर शुद्धात्म द्रव्यका भजन, मनन व अनुभव करे । यही मोक्ष-लाभका मार्ग है । जो व्यवहार ध्यान व भजन व क्रियाकांड जीव रक्षा आदिमें ही उपयुक्त हैं परन्तु शुद्ध आत्मानुभवके उद्योगमें आलसी हैं वे कभी भी मुनिपदसे अपना स्वरूप प्राप्त नहीं कर सक्के, क्योंकि भाव ही प्रधान कारण है । मुनिकी ध्यानावस्थाकी महिमा मूलाचारके अनगारभावना नामके अधिकारमें इसतरह वताई है ।

धिदिधणिदणिच्छिदमतो चारत्तपायार गोउरं तुंगं ।
खंती सुकद कवाडं तवणयरं संजमारक्खं ॥ ८७७ ॥
रागो दोसो मोहो इंदिय चोरा य उज्जदा णिच्चं ।
ण च एंति पहं सेदुं सप्पुरिससुरक्खियं णयरं । ८७८ ।

भावार्थ—साधुका तपरूपी नगर ऐसा दृढ़ होता है कि धैर्य संतोष आदिमें परम निश्चित जो बुद्धि सो उस तप नगरका दृढ़ कोट है । तेरह प्रकार चारित्र उसका वड़ा ऊंचा द्वार है । क्षमा भाव उसके बड़े दृढ़ कपाट हैं, इंद्रिय और प्राणसंयम उस नगरके रक्षक कोटपाल हैं । सम्यग्दृष्टी आत्माद्वारा तपरूपी नगर अच्छी तरह रक्षित किये जानेपर राग द्वेष मोह तथा इंद्रियोंकी इच्छारूपी चोर उस नगरमें अपना प्रवेश नहीं पासक्के हैं ।

जंह ण चलइ गिरिरायो अवरूत्तरपुव्वदक्खिणेवाए ।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ॥ ८८४ ॥

भावार्थ—जैसे सुमेरु पर्वत पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तरकी पवनोंसे जरा भी चलायमान नहीं होता उसी तरह योगी सर्व परीषह व उपसर्गोंसे व रागद्वेषादि भावोंसे चलायमान न होता हुआ निरंतर ध्यानका ध्यानेवाला होता है ॥ १४ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि प्रासुक आहार आदिमें भी जो ममत्व है वह मुनिपदके भंगका कारण है इसलिये आहारादिमें भी ममत्व न करना चाहिये–

भत्ते वा खवणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधम्मि वा णिवद्धं णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि ॥१५॥

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा।
उपधौ वा निवद्धं नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥ १५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–साधु (भत्ते) भोजनमें (वा) अथवा (खवणे) उपवास करनेमें (वा आवसधे) अथवा वस्तिकामें (वा विहारे) अथवा विहार करनेमें, (वा उवधम्मि) अथवा शरीर मात्र परिग्रहमें (वा समणम्मि) अथवा मुनियोंमें (पुणो विकधम्मि) या विकथाओंमें (णिवद्धं) ममतारूप सम्वन्धको (णेच्छदि) नहीं चाहता है।

विशेषार्थः–साधु महाराज शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी शरीरकी स्थितिके हेतुसे प्रासुक आहार लेते हैं सो भक्त हैं, इन्द्रियोंके अभिमानको विनाश करनेके प्रयोजनसे तथा निर्विकल्प समाधिमें प्राप्त होनेके लिये उपवास करते हैं सो क्षपण है, परमात्म तत्वकी प्राप्तिके लिये सहकारी कारण पर्वतकी गुफा आदि वसनेका स्थान सो आवसथ है। शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी कारण आहार नीहार आदिक व्यवहारके लिये व देशान्तरके लिये विहार करना सो विहार है, शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी कारण रूप शरीरको धारण करना व ज्ञानका उपकरण शास्त्र, शौचोपकरण कमंडल, दयाका उपकरण पिच्छिका इनमें ममताभाव सो उपधि है,

परमात्म पदार्थके विचारमें सहकारी कारण समता और शीलके समूह तपोधन सो श्रमण हैं, परम समाधिके घातक शृंगार, वीर व राग-द्वेषादि कथा करना सो विकथा है । इन भक्त, क्षपण, आवसथ, विहार, उपधि, श्रमण तथा विकथाओंमें साधु महाराज अपना ममताभाव नहीं रखते हैं । भाव यह यह है कि आगमसे विरुद्ध आहार विहार आदिमें वर्तनेका तो पहले ही निषेध है अतः अत्र साधुकी अवस्थामें योग्य आहार, विहार आदिमें भी साधुको ममता न करना चाहिये ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि जिन कार्योंको साधुको प्रमत्त गुणस्थानमें करना पड़ता है उन कार्योंमें भी साधुको मोह या ममत्व न रखना चाहिये—उदासीन भावसे उनकी अत्यन्त आवश्यक्ता समझकर उन कामोंको करलेना चाहिये परन्तु अतरंगमें उनसे भी वैरागी रहकर मात्र अपने शुद्धात्मानुभवका प्रेमालु रहना चाहिये । शरीररक्षाके हेतु भोजन करना ही पड़ता है परन्तु आहार लेनेमें बड़े धनवान घरका व निर्धनका, सरस नीरसका कोई ममत्व न रखना चाहिये—शास्त्रोक्त विधिसे शुद्ध भोजन गाय गोचरीके समान ले लेना चाहिये। जैसे गौ भोजन करते हुए संतोषसे अन्य विकल्प न करके जो चारा मिले खा लेती है वैसे साधुको जो मिले उसीमें ही परम संतोषी रहना चाहिये । उपवासोंके करनेका भी मोह ममत्व व अभिमान न करना चाहिये । जब देखे कि इंद्रियोंमें विकार होनेकी संभावना है व शरीर सुखिया स्वभावमें जारहा है तब ही उपवासरूपी तपको परम उदासीन भावसे कर लेना चाहिये। जिससे कि ध्यानकी सिद्धि हो यही मुख्य

उपाय साधुको करना है। ध्यान व तत्व विचारके लिये जो स्थान उपयोगी हो व जहां ब्रह्मचर्यको दोषित करनेवाले स्त्री पुरुषोंका समागम न हो व पशु पक्षी विकलत्रयोंका अधिक संचार न हो व जहां न अधिक शीत न अधिक उष्णता हो ऐसे सम प्रदेशमें ठह-रते हुए भी साधु उसमें मोह नहीं करते। वर्षाकालके सिवाय अधिक दिन नहीं ठहरते। ममता छोड़नेके लिये व ध्यानकी सिद्धिके लिये व धर्म प्रचारके लिये साधुओंको विहार करना उचित है। इस विहार करनेके काममें भी ऐसा राग नहीं करते कि विहा-रमें नए नए स्थलोंके देखनेसे आनन्द आता है। साधु महा-राज मात्र ध्यानकी सिद्धिके मुख्य हेतुसे ही परम वैराग्यभावसे विहार करते रहते हैं। यद्यपि शरीर सिवाय अन्य वस्त्रादि परिग्र-हको साधुने त्याग दिया है तथापि शरीर, कमंडल, पीछी, शास्त्रकी परिग्रह रखनी पड़ती है क्योंकि ये ध्यानके लिये सहकारी कारण हैं तथापि साधु इनमें भी ममता नहीं करते। यदि कोई शरीरको कष्ट देवें, पीछी आदि लेलेवे तो समताभाव रखकर स्वयं सब कुछ सहलेते परन्तु अपने साथ कष्ठ देनेवालेपर कुछ भी रोष नहीं करते। धर्मचर्चाके लिये दूसरे साधुओंकी संगति मिलाते हैं तौ भी उनमें वे रागभाव नहीं बढ़ाते, केवल शुद्धात्माकी भावनाके अनुकूल वार्तालाप करके फिर अलग२ अपने२ नियत स्थानपर जा ध्यानस्थ व तत्वविचारस्थ हो जाते हैं। यदि कदाचित् कहीं शृंगार, व वीर रस आदिकी कथाएं सुन पड़ें व प्रथमानुयोगके साहित्यमें काव्योंमें ये कथाएं मिलें व स्वयं काव्य या पुराण लिखते हुए इन कथा-ओंको लिखें तौ भी साधु इन सबमें रागी नहीं होते वे इनको वस्तु

स्वभाव मात्र जानते तथा संसार-नाटकके द्रष्टाके समान उनमें ममत्व नहीं करते। इस तरह साधुका व्यवहार बहुत ही पवित्र परम वैराग्यमय, जीवदया पूर्ण व जगत हितकारी होता है। साधुका मुख्य कर्तव्य निज शुद्धात्माका अनुभव है क्योंकि यही साधुका मुख्य साधन है जो आत्मसिद्धिका साक्षात् उपाय है।

श्री मूलाचार अनगारभावना अधिकारमें साधुओंका ऐसा कर्तव्य बताया है:—

ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी ।
णियमेसु दढव्वदिणो पारत्तविमग्गया समणा ॥ ८५९ ॥
जिणवयणभासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं ।
समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कधं करेंति ॥ ८६० ॥

भावार्थ—वे मुनि विकार रहित होते हैं, उनकी चेष्टा उद्धततासे रहित थिर होती है, वे निश्चल समुद्रके समान क्षोभ रहित होते हैं, अपने छः आवश्यक आदि नियमोंमें दृढ़ प्रतिज्ञावान होते हैं तथा इस लोक व परलोक सम्बन्धी समस्त कार्योंको अच्छी तरह विचारते व दूसरोंको कहते हैं। ऐसे साधु ऐसी कथा करते हैं जो जिनेन्द्र कथित पदार्थोंको कथन करनेवाली हो, जो श्रोताओंके ध्यानमें आसके व उनको गुणकारी हो इसलिये पथ्य हो, व जो हितकारिणी हो व धर्म संयुक्त हो, जो आगमके विनय सहित हो व इसलोक परलोकमें कल्याणकारिणी हो। वास्तवमें जैन श्रमणोंका सर्व व्यवहार अत्यन्त उदासीन व मोक्षमार्गका साधक होता है।

इस तरह संक्षेपसे आचारकी आराधना आदिको कहते हुए साधु महाराजके विहारके व्याख्यानकी मुख्यतासे चौथे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई ॥ १९ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि छेद या भंग शुद्धात्माकी भावनाका निरोध करनेवाला है।

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्ति मदा ॥ १६ ॥

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु।
श्रमणस्य सर्वकालं हिंसा सा सन्ततेति मता ॥ १६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(वा) अथवा (समणस्स) साधुकी (सयणासणठाणचंकमादीसु) शयन, आसन, खडा होना, चलना, स्वाध्याय, तपश्चरण आदि कार्योंमें (अपयत्ता चरिया) प्रयत्नरहित चेष्टा अर्थात् कषायरहित स्वसंवेदन ज्ञानसे छूटकर जीवदयाकी रक्षासे रहित संक्लेश भाव सहित जो व्यवहारका वर्तना है (सा) वह (सव्वकालं) सर्वकालमें (संमतत्ति हिंसा) निरन्तर होनेवाली हिंसा अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षणमई मुनिपदको छेद करनेवाली हिंसा (मदा) मानी गई है ॥

विशेषार्थ-यहां यह अर्थ है कि बाहरी व्यापाररूप शत्रुओंको तो पहले ही मुनियोंने त्याग दिया था परन्तु बैठना, चलना, सोना आदि व्यापारका त्याग हो नहीं सक्ता-इस लिये इनके निमित्तसे अन्तरङ्गमें क्रोध आदि शत्रुओंकी उत्पत्ति न हो-साधुको उन कार्योंमें सावधानी रखनी चाहिये। परिणाममें संक्लेश न करना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने व्रतभंगका स्वरूप बताया है। निश्चयसे साधुका शुद्धोपयोगरूपी सामायिकमें वर्तना ही व्रत है। व्यवहारसे अठाईस मूलगुणोंका साधन है। जो मुनि अपने उप-

योगकी शुद्धता या वीतराग परिणतिमें सावधान हैं उनके भावोंमें प्रमाद नहीं आता। वे प्रयत्न करके ध्यानस्थ रहते हैं और जब शरीरकी आवश्यक्तासे बैठना, चलना, खडे होना, शास्त्र, पीछी, कमण्डलु उठाना आदि कायकी तथा व्याख्यान देना आदि वचनकी क्रियाएं करनी होती हैं तब भी अपने भावोंमें कोई संक्लेशभाव या अशुद्ध भाव या असावधानीका भाव नहीं लाते हैं। जो साधु अपने वीतराग भावकी सम्हाल नहीं रखते और उठना, बैठना, चलना आदि कार्योंको करते हुए क्रोध, मान, माया, लोभके वशी-भूत हो दोष लगाते अथवा रागद्वेष या अहंकार ममकार करते वे साधु निरन्तर हिंसा करनेवाले होजाते हैं, क्योंकि वीतराग भाव ही अहिंसक भाव है उसका भंग सो ही हिंसा है। हिंसा दो प्रकारकी होती है एक भाव हिंसा दूसरी द्रव्यहिंसा। आत्माके शुद्ध भावोंका जहां घात होता हुआ रागद्वेष आदि विकारभावोंका उत्पन्न हो जाना सो भाव हिंसा है। स्पर्शादि पांच इंद्रिय, मन वचन काय तीन बल, आयु, श्वासोश्वास इन दस प्राणोंका सबका व किसी एक दो चारका भाव हिंसाके वश हो नाश करना व उनको पीड़ित करना सो द्रव्यहिंसा है। भाव प्राण आत्माकी ज्ञान चेतना है, द्रव्य प्राण स्पर्शनादि दश हैं। इन प्राणोंके घातका नाम हिंसा है। कहा है:—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

(तत्वार्थसूत्र उमा० अ० ७ सू० १३)

भावार्थः—कषाय सहित मनवचनकाय योगके द्वारा प्राणोंको पीड़ित करना सो हिंसा है। जो साधु भावोंमें प्रमादी या

असावधान हो जायगा वह निरन्तर हिंसाका भागी होगा। क्योंकि उसका मन कषायके आधीन हो गया, उसके भावप्राणोंकी हिंसा होचुकी. परन्तु जो कोई भावोंमें वीतरागी है—अपने चलने बैठने आदिक कार्योंमें सवधानीसे वर्तता है, फिर भी अकस्मात् कोई दूसरा जंतु मरणकर जावे तो वह अप्रमादी जीवहिंसाका भागी नहीं होता है क्योंकि उसने हिंसाके भाव नहीं किये थे किन्तु अहिंसा व मानवधर्मके भाव किये थे। बाह्य किसी जंतुके प्राण न भी घाते जावें परन्तु जहां अपने भावोंमें रागद्वेषादि विकार होगा वहां अवश्य हिंसा है। वीतरागता होते हुए यदि शरीरकी सावधान चेष्टापर भी कोई जंतुके प्राण पीड़ित हों तो वह वीतरागी हिंसा करनेवाला नहीं है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंन्थमें श्री अमृतचंद्र आचार्यने हिंसा व अहिंसाका स्वरूप बहुत स्पष्ट बता दिया है:—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥
यत्खलु कपाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥
अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जहां आत्माके परिणामोंकी हिंसा है वहीं हिंसा है। अनृत, चोरी, कुशील, परिग्रह ये चार पाप हिंसाहीके उदाहरण हैं। वास्तवमें क्रोधादि कषाय सहित मन, वचन, कायके द्वारा जो

भाव प्राणों और द्रव्य प्राणोंका पीड़ित करना यही असली हिंसा है। निश्चयसे रागद्वेषादि भावोंका न उपजना अहिंसा है और उन्हींका होजाना हिंसा है यह जैन शास्त्रोंका संक्षेपमें कथन है। रागादिके वश न होकर योग्य सावधानीसे आचरण करते हुए यदि किसीके द्रव्य प्राणोंका पीड़न हो भी तौभी हिंसा नहीं है। अभिप्राय यही है कि मूल कारण हिंसा होनेका प्रमादभाव है। अप्रमादी हिंसक नहीं है, प्रमादी सदा हिंसक है।

पंडित आशाधरने अनागारधर्मामृतमें इसतरह कहा है:—

रागाद्यसंगतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः।
स्यात्तदव्यपरोपेपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः ॥ २३/४ ॥

भावार्थ—रागादिके न होते हुए मात्र प्राणोंके घातसे जीव हिंसक नहीं होता, परन्तु यदि रागादिके वश है तो बाह्य प्राणोंके घात न होते हुए भी हिंसा होती है। और भी—

प्रमत्तो हि हिनस्ति स्वं प्रागात्माऽऽतङ्कतायनात्।
परोनु म्रियतां मा वा रागाद्या ह्यरयोऽङ्गिनः ॥ २४ ॥

भावार्थ—प्रमादी जीव व्याकुलताके रोगसे संतापित होकर पहले ही अपनी हिंसा कर लेता है, पीछे दूसरे प्राणीकी हिंसा हो व मत हो। जैसे किसीने किसीको कष्ट देनेका भाव किया तब वह तो भावके होते ही हिंसक होगया। भाव करके जब वह मारनेका यत्न करे वह यत्न सफल हो व न हो कोई नियम नहीं है। वास्तवमें रागादि शत्रु ही इस जीवके शत्रु हैं। इन्हींसे अपनी शांति नष्ट होती व कर्मका बन्ध होता है। और भी—

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम्।
हिंसारागाद्युद्भूतिरहिंसा तदनुद्भवः ॥ २६ ॥

भावार्थ-यह जिनआगमका बढ़िया रहस्य चित्तमें धारलो कि जहां रागादिकी उत्पत्ति है वहां हिंसा है तथा जहां २ इनकी प्रगटता नहीं है वहां अहिंसा है॥ १६ ॥

उत्थानिका-आगे हिंसाके दो भेद हैं अन्तरङ्ग हिंसा और बहिरङ्ग हिंसा। इसलिये छेद या भङ्ग भी दो प्रकार है ऐसा व्याख्यान करते हैं:—

मरदु व जिवदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥ १७ ॥

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितिषु ॥ १७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जीवो मरदु व जियदु) जीव मरो या जीता रहो (अयदाचारस्स) जो यत्न पूर्वक आचरणसे रहित है उसके (णिच्छिदा हिंसा) निश्चय हिंसा है (समिदीसु) समिति-योंमें (पयदस्स) जो प्रयत्नवान है उसके (हिंसामेत्तेण) द्रव्य प्राणोंकी हिंसा मात्रसे (बन्धो णत्थि) बन्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ-बाह्यमें दूसरे जीवका मरण हो या मरण न हो जब कोई निर्विकार स्वसंवेदन रूप प्रयत्नसे रहित है तब उसके निश्चय शुद्ध चैतन्य प्राणका घात होनेसे निश्चय हिंसा होती है। जो कोई भले प्रकार अपने शुद्धात्मस्वभावमें लीन है, अर्थात् निश्चय समितिको पाल रहा है तथा व्यवहारमें ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, प्रतिष्ठापना इन पांच समितियोंमें सावधान है, अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग प्रयत्नवान है, प्रमादी नहीं है उसके द्रव्यहिंसा

मात्रसे बन्ध नहीं होता है। यहां यह भाव है कि अपने आत्म-स्वभावरूप निश्चय प्राणको विनाश करनेवाली परिणति निश्चयहिंसा कही जाती है। रागादिके उत्पन्न करनेके लिये बाहरी निमित्तरूप जो परजीवका घात है सो व्यवहार हिंसा है, ऐसे दो प्रकार हिंसा जाननी चाहिये। किन्तु विशेष यह है कि बाहरी हिंसा हो वा न हो जब आत्मस्वभावरूप निश्चय प्राणका घात होगा तब निश्चय हिंसा नियमसे होगी इसलिये इन दोनोंमें निश्चय हिंसा ही मुख्य है।

भावार्थ–इस गाथामें भी आचार्यने मुख्यतासे अप्रमादभावकी पुष्टि की है तथा यह बताया है कि जो परिणामोंमें हिंसक है अर्थात् रागद्वेषादि आकुलित भावोंसे वर्तन कररहा है वह निश्चय हिंसाको कररहा है क्योंकि उसका अन्तरंग भाव हिंसक होगया। इसीको अन्तरंग हिंसा या अन्तरंग चारित्रछेद या भंग कहते हैं। इस भाव हिंसाके होते हुए अपने तथा दूसरेके द्रव्य या बाहरी शरीराश्रित प्राणोंका घात हो जाना सो बहिरंग हिंसा या छेद या भंग है। विना अंतरंग छेदके बहिरंग छेद हो नहीं सक्ता, क्योंकि जो साधु सावधानीसे ईर्यासमिति आदि पाल रहा है और बाह्य जन्तुओंकी रक्षामें सावधान है, परन्तु यदि कोई प्राणीका घात भी होजावे तौ भी वह हिंसक नहीं है। तथा यदि साधुमें सावधानीका भाव नहीं है और कषायभावसे वर्तन है तो चाहे कोई मरो वा न मरो वह साधु हिंसाका भागी होकर बंधको प्राप्त होगा, किन्तु प्रयत्नवान बन्धको प्राप्त न होगा।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है:—

व्युत्थानावस्थायाम् रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥
यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु ॥ ४७ ॥

भावार्थ-जब रागादिके वश प्रवृत्ति करनेमें प्रमाद अवस्था होगी तब कोई जीव मरो वा न मरो निश्चयसे हिंसा आगे २ दौड़ती है क्योंकि कषाय सहित होता हुआ यह आत्मा पहले अपने हीसे अपना घात कर देता है, पीछे अन्य प्राणियोंकी हिंसा हो अथवा न हो ॥ १७ ॥

उत्थानिका-आगे इसी ही अर्थको दृष्टांत दार्ष्टांतसे दृढ़ करते हैं ।

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ १८ ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो य देसिदो समये ।
मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥ १९ ॥

उच्चालिते पादे ईर्यासमितस्य निर्गमस्थाने ।
आवाध्येत कुलिंगं म्रियतां वा तं योगमाश्रित्य ॥ १८ ॥
नहि तस्य तन्निमित्तो बंधः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये ।
मूर्छापरिग्रहश्चैव अध्यात्मप्रमाणतः दृष्टः ॥१९॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(इरियासमिदस्स) ईर्या समितिसे चलनेवाले मुनिके (णिग्गमत्थाए) किसी स्थानसे जाते हुए (उच्चालियम्हि पाए) अपने पगको उठाते हुए (तं जोगमासेज्ज) उस पगके संघट्टनके निमित्तसे (कुलिंगं) कोई छोटा जंतु (आवाधेज्ज) बाधाको पावे (मरिज्ज) वा मर जावे (तस्स) उस साधुके (तण्णिमित्तो

सुहमो य वंधो) इस क्रियाके निमित्तसे जरासा भी कर्मका वन्ध (समये) आगममें (णहि देसिदो) नहीं कहा गया है। जैसे (मुच्छा परिग्गहोच्चिय) मूर्छाको परिग्रह कहते हैं सो (अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो) अन्तरङ्ग भावके अनुसार मूर्छा देखी गई है ।

विशेषार्थ–मूर्छारूप रागादि परिणामोंके अनुसार परिग्रह होती है, वाहरी परिग्रहके अनुसार मूर्छा नहीं होती है तैसे यहां सूक्ष्म जन्तुके घात होनेपर जितने अंशमें अपने स्वभावसे चलन-रूप रागादि परिणति रूप भाव हिंसा है उतने ही अंशमें वन्ध होगा, केवल पगके संघट्टनसे मरते हुए जीवके उस तपोधनके रागादि परिणतिरूप भाव हिंसा नहीं होती है–इसलिये वंध भी नहीं होता है ।

भावार्थ–इन दो गाथाओंमें आचार्यने वताया है कि जवतक भाव हिंसा न होगी तवतक हिंसा सम्बन्धी वन्ध न होगा। एक साधु शास्त्रोक्त विधिसे ४ हाथ भूमि आगे देखकर वीतरागभावसे चल रहा है–उसने तो पग सम्हालके उठाया या रक्खा–यदि उसके पगकी रगड़से कोई अचानक वीचमें आजानेवाला छोटा जंतु पीड़ित हो जावे अथवा मरजावे तौभी उसके परिणामोंमें भावहिंसाके न होनेसे वन्ध न होगा। बन्धका कारण वाहरी क्रिया नहीं है किन्तु राग द्वेष मोह भाव है, जितने अंशमें रागादिभाव होगा उतने ही अंशमें वन्ध होगा। रागादिके विना वन्ध नहीं होसक्ता है। इस-पर आचार्यने परिग्रहका दृष्टांत दिया है कि मूर्छा या अन्तरंग ममत्त्व परिणामको मूर्छा कहा है। वाहरी पदार्थ अधिक होनेसे अधिक मूर्छा व कम होनेसे कम मूर्छा होगी ऐसा नियम नहीं है।

किसीके बांहरी पदार्थ बहुत अल्प होनेपर भी तीव्र मूर्छा है। किसीके बाहरी पदार्थ बहुत अधिक होनेपर भी अल्प मूर्छा है--जितना ममत्व होगा उतना परिग्रह जानना चाहिये। इसी तरह जैसा हिंसात्मक भाव होगा वैसा बन्ध पड़ेगा। अहिंसामई भावोंसे कभी बन्ध नहीं हो सक्ता। श्री अमृतचन्द्र आचार्यने समयसारकलशमें कहा है--

लोकः कर्म्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म्मत-
त्तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयद् ज्ञानं भवेत् केवलं,
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवं ॥ ३ ॥

भावार्थ--लोक कार्मणवर्गणाओंसे भरा रहो, हलनचलनरूप योगोंका कर्म भी होता रहो, हाथपग आदि कारणोंका भी व्यापार हो व चैतन्य व अचेतन्य प्राणीका घात भी चाहे हो परन्तु यदि ज्ञान रागद्वेषादिको अपनी उपयोगकी भूमिमें न लावे तो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी निश्चयसे कभी भी बन्धको प्राप्त न होगा।

भाव यही है कि बाहरी क्रियासे बन्ध नहीं होता, बन्ध तो अपने भीतरी भावोंसे होता है।

श्री समयसारजीमें भी कहा है--

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदोदु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति ॥ २७७ ॥

भावार्थ--यद्यपि बाहरी वस्तुओंका आश्रय लेकर जीवोंके रागादि अध्यवसान या भाव होता है तथापि बन्ध वस्तुओंके अधिक या कम सम्बंधसे नहीं, किन्तु रागादि भावोंसे ही बन्ध होता है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्री अमृतचंदजी कहते हैं:--

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्यबंधनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति ॥ २१४ ॥

भावार्थ–जितने अन्शमें कषायरहित चारित्रभाव होगा उतने अंशमें इस जीवके बंध नहीं होता है, परन्तु जितना अन्श राग है उसी अंशसे बंध होगा। तात्पर्य यही है कि रागादिरूप परिणति भाव हिंसा है इसीके द्वारा द्रव्यहिंसा होसक्ती है ॥१९॥

उत्थानिका–आगे आचार्य निश्चय हिंसारूप जो अन्तरङ्ग छेद है उसका सर्वथा निषेध करते हैं:—

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु वधकरोत्ति मदो ।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥२०॥

अयताचारः श्रमणः षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मतः ।
चरति यतं यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेपः ॥ २० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(अयदाचारो समणो) निर्मल आत्माके अनुभव करनेकी भावनारूप चेष्टाके विना साधु (छस्सुवि कायेसु) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन छहों ही कायोंका (वधकरोत्ति मदो) हिंसा करनेवाला माना गया है। (जदि) यदि (णिच्चं) सदा (जदं) यत्नपूर्वक (चरदि) आचरण करता है तो (जले कमलं व णिरुवलेवो) जलमें कमलके समान कर्म बन्धके लेप रहित होता है। यदि गाथामें (वंधगोत्ति) पाठ लेवें तो यह अर्थ होगा कि अयत्न शील कर्म बन्ध करनेवाला है।

विशेषार्थ–यहां यह भाव बताया गया है कि जो साधु शुद्धात्माका अनुभवरूप शुद्धोपयोगमें परिणमन कर रहा है वह पृथ्वी आदि छहः कायरूप जन्तुओंसे भरे हुए इस लोकमें विच-

रता हुआ भी यद्यपि वाहरमें कुछ द्रव्य हिंसा है तौ भी उसके निश्चय हिंसा नहीं है। इस कारण सर्व तरहसे प्रयत्न करके शुद्ध परमात्माकी भावनाके वलसे निश्चय हिंसा ही छोड़नेयोग्य है।

भावार्थ—यहां आचार्यने अन्तरंग हिंसाकी प्रधानतासे उपदेश किया है कि शुद्धोपयोग या शुद्धात्मानुभूति या वीतरागता अहिंसक भाव है और इस भावमें रागद्वेषकी परिणति होना ही हिंसा है। जो साधु वीतरागी होते हैं वे चलने, वैठने, उठने, सोने, भोजन करने आदि क्रियाओंमें वहुत ही यत्नसे वर्तते हैं—सर्व जंतुओंको अपने समान जानते हुए उनकी रक्षामें सदा प्रयत्नशील रहते हैं उन साधुओंके भावोंमें छेद या भंग नहीं होता। अर्थात् उनके हिंसक भाव न होनेसे वे हिंसा सम्वन्धी कर्मवंधसे लिप्त नहीं होते हैं उसी तरह जिस तरह कमल जलके भीतर रहता हुआ भी जलसे स्पर्श नहीं किया जाता। यद्यपि इस सूक्ष्म, वादर छः कायोंसे भरे हुए लोकमें विहार व आचरण करते हुए कुछ वाहरी प्राणियोंका घात भी हो जाता है तौभी जिसका उपयोग हिंसकभावसे रहित है वह हिंसाके पापको नहीं वांधता, परन्तु जो साधु प्रयत्न रहित होते हैं, प्रमादी होते हैं उनके वाहरी हिंसा हो व न हो वे छह कायोंकी हिंसाके कर्त्ता होते हुए हिंसा सम्वन्धी वंधसे लिप्त होते हैं। यहां यह भाव झलकता है कि मात्र परप्राणीके घात होजानेसे वन्ध नहीं होता। एक दयावान प्राणी दयाभावसे भूमिको देखते हुए चल रहा है। उसके परिणामोंमें यह है कि मेरे द्वारा किसी जीवका घात न हो ऐसी दशामें वादर पृथ्वी, वायु आदि प्राणियोंका घात शरीरकी चेष्टासे हो भी जावे तौ भी वह भाव हिंसाके

अभावसे कर्मबंध करनेवाला न होगा और यदि प्रमादी होकर हिंसकभाव रखता हुआ विचरेगा तो बाहरी हिंसा हो व कदाचित न भी हो तौ भी वह हिंसा सम्बन्धी बंधको प्राप्त करलेगा। कर्मका बंध परिणामोंके ऊपर है बाहरी व्यवहार मात्रपर नहीं है। कहा है, श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥ ४६॥

भावार्थ—यद्यपि परपदार्थके कारणसे जरासी भी हिंसाका पाप इस जीवके नहीं बन्धता है तथापि उचित है कि भावोंकी शुद्धिके लिये उन निमित्तोंको बचावे जो हिंसाके कारण हैं।

अनगारधर्मामृतमें कहा है:—

जइ सुद्धस्स य बंधो होहिदि बहिरंगवत्थुजोएण।
णत्थि दु अहिंसगो णाम वाउकायादि वधहेदू॥ (अ० ४)

भावार्थ—यदि बाहरी वस्तुके योगसे शुद्ध वीतरागीके भी बंध होता हो तो वायुकाय आदिका वध होते हुए कोई भी प्राणी अहिंसक नहीं होसक्ता है।

पंडित आशाधरजी लिखते हैं:—

"यदि पुनः शुद्धपरिणामवतोपि जीवस्य स्वशरीरनिमित्तान्य प्राणिप्राणवियोगमात्रेण बंधः स्यान्न कस्यचिन्मुक्तिः स्यात्, योगिनामपि वायुकायिकादिवधनिमित्तसद्भावात्।"

यदि शुद्ध परिणामधारी जीवके भी अपने शरीरके निमित्तसे होनेवाले अन्य प्राणियोंके प्राण वियोगमात्रसे कर्म बन्ध हो जाता हो तो किसीको भी मुक्ति नहीं हो सक्ती है, क्योंकि योगियोंके द्वारा भी वायु काय आदिका वध होजानेका निमित्त मौजूद है।

जैन सिद्धांतमें कर्मका बन्ध प्राकृतिक रूपसे होता है। क्रोध-मान माया लोभ कषाय हैं इनकी तीव्रतामें अशुभ उपयोग होता है। यही हिंसक भाव है। वश यह भाव पाप कर्मका बन्ध करनेवाला है।

जब इस जीवके रक्षा करनेका भाव होता है तब उसके पुण्य कर्मका बन्ध होता है तथा जब शुभ अशुभ विकल्प छोड़कर शुद्ध भाव होता है तब पुर्व बद्ध कर्मकी निर्जरा होती है। कषाय विना स्थिति व अनुभाग बन्ध नहीं होता है इसलिये पाप पुण्यका बन्ध बाहरी पदार्थोंपर व क्रियापर अवलंबित नहीं है। यदि कोई यत्नाचार पूर्वक जीवदयासे कोई आरम्भ कर रहा है तब उसके परिणामोंमें जो रक्षा करनेका शुभ भाव है वह पुण्य कर्मको बन्ध करेगा। यद्यपि उस आरम्भमें कुछ जन्तुओंका वध भी हो जावे तो भी उस दयावानके वध करनेके भाव न होनेसे हिंसा सम्बन्धी पापका वन्ध न होगा।

यदि कोई वैद्य किसी रोगीको रोग दूर करनेके लिये उसके मनके अनुकूल न चलकर उसको कष्ट दे करके भी उसकी भलाईके प्रयत्नमें लगा है, उसकी चीर फाड़ भी करता है तो भी वह वैद्य अपने भावोंमें रोगीके अच्छा होनेका भाव रखते हुए पुण्य कर्म्म तो बांधेगा परन्तु पाप नहीं बांधेगा। यद्यपि बाहरमें उस रोगीके प्राणपीडन रूप हिंसा हुई तौ भी वह हिंसा नहीं है।

यदि एक राजा अपने दयावान चाकरोंको हिंसा करनेकी आज्ञा देता है और चाकरगण अपनी निन्दा करते हुए हिंसा कर रहे हैं, परन्तु राजा मनमें हिंसाका संकल्प मात्र करता है तौ भी

जितना पाप बन्ध राजाको होगा उसके कई गुणा कम पाप चाक-रोंको होगा ।

परिणामोंसे ही हिंसाका दोष लगता है इसके कुछ दृष्टांत पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इस तरहपर हैं:—

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

भावार्थ—किसीने स्वयं हिंसा नहीं की परन्तु वह हिंसाके परिणाम कर रहा है इससे हिंसाके फलका भागी होता है। जैसे सेनाको युद्धार्थ भेजनेवाला राजा। दूसरा कोई हिंसा करके भी उस हिंसाके फलका भागी नहीं होता। जैसे विद्या शिक्षक शिष्यको कष्ट देता है व राजा अपराधीको दण्ड देता है व वैद्य रोगीको चीड़ फाड़ करता है। इन तीनोंके द्वारा हिंसा हो रही है तथापि परि-णाममें हिंसाका भाव नहीं है किन्तु उसके सुधारका भाव है, इससे ये तीनों पापके भागी नहीं किन्तु पुन्यके भागी हैं।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥

भावार्थ—एक कोई थोड़ी हिंसा करे तौ भी वह हिंसा अपने विपाकमें बहुत फल देती है। जैसे किसीने बड़े ही कठोर भावसे एक मक्खीको मार डाला, इसके तीव्र कषाय होनेसे बहुत पापका बंध होगा। दूसरे किसीने युद्धमें अपनी निन्दा करते हुए उस युद्धमें अहं मन्यता न रखते हुए बहुत शत्रुओंका विध्वंश किया तो भी कषाय मंद होनेसे कम पाप कर्मका बंध होगा।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

भावार्थ-दो आदमियोंने साथ साथ किसी हिंसाको किया है। एकको वह तीव्र फलको देती है दूसरेको वही हिंसा अल्प फल देती है। जैसे दो आदमियोंने मिलकर एक पशुका वध किया। इनमेंसे एकके बहुत कठोर भाव थे। इससे उसने तीव्र पाप बांधा। दूसरेके भावोंमें इतनी कठोरता न थी, वह जीवदयाको अच्छा समझता था, परंतु उस समय उस मनुष्यकी बातोंमें आकर उसके साथ शामिल हो गया इसलिए दूसरा पहलेकी अपेक्षा कम कर्मबंध करेगा।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥ ५६ ॥

भावार्थ-किसी जीवने एक पशुकी रक्षा की। दूसरा देखकर यह विचारता है कि मैं तो कभी नहीं छोडता—अवश्य मार डालता। बश ऐसा जीव अहिंसासे हिंसाके फलका भागी हो जाता है। कोई जीवकी हिंसाके द्वारा अहिंसाके फलका भागी हो जाता है जैसे कोई किसीको सता रहा है दूसरा देखकर करुणाबुद्धि ला रहा है बस इसके अहिंसाका फल प्राप्त होगा अथवा दोनोंके दो दृष्टांत यह भी हो सक्ते हैं कि किसीने किसीको कालान्तरमें भारी कष्ट देनेके लिये अभी किसी दूसरेके आक्रमणसे उसको बचालिया। यद्यपि वर्तमानमें अहिंसा की परंतु हिंसात्मक भावोंसे वह हिंसाके फलका भागी ही होगा। तथा कोई किसीको किसी अपराधके कारण इसलिये दंड देरहा है कि यह सुधर जावे व धर्म मार्गपर चले। ऐसी स्थितिमें हिंसा करते हुए भी वह अहिंसाके फलका भागी होगा।

ये सब कथन इसी बातको पुष्ट करते हैं कि परिणामोंसे ही पाप या पुण्यका बन्ध होता है ।

श्री समयसारजीमें श्री कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं:—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारे हि मा व मारेहिं ।
एसो बंधसमासो जोवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २७४

भावार्थ—जीवोंको मारो व न मारो, हिंसा रूप भावसे ही बन्ध होगा । ऐसा वास्तवमें जीवोंमें कर्म बन्धका संक्षेप कथन है । और भी—

मारेमि जीवावेमि य सत्ते जं एव मज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स य बंधगं होदि ॥ २७३

भावार्थ—जो तेरे भावमें यह विकल्प है कि मैं जीवोंको मारूँ सो तो पापबंध करनेवाला है तथा जो यह विकल्प है कि मैं उनकी रक्षा करूँ व जिलाऊं सो पुण्यबंध करनेवाला है । जहां हिंसामें उपयोगकी तन्मयता है वहां पाप बंध है, परंतु जहां दयामें उपयोगकी तन्मयता होनेसे शुभ भाव हैं वहां पुण्यबंध है ।

श्री शिवकोटी आचार्यकृत भगवतीआराधनामें अहिंसाके प्रकरणमें कहा है—

जीवो कसायबहुलो, संतो जीवाण घायणं कुणइ ।
सो जीव वहं परिहरइ, सया जो णिज्जिय कसाऊ ॥ १६

भावार्थ—जो जीव क्रोधादि कषायोंकी तीव्रता रखते हैं वे जीव प्राणियोंका घात करनेवाले हैं तथा जो जीव इन कषायोंको जीतनेवाले हैं वे सदा ही जीव हिंसाके त्यागी हैं ।

आदाणे णिक्खेवे वोसरणे ठाणगमणसयणेसु ।
सव्वत्थ अप्पमत्तो, दयावरो होइ हु अहिंसा ॥ १७

भावार्थ-जो साधु वस्तु ग्रहण करने, रखने, बेठने, खड़े होने, चलने, शयन करने आदिमें सर्वत्र प्रमाद रहित सावधान है वह दयावान हिंसाका कर्ता नहीं होता है।

श्री मूलाचारके पंचाचार अधिकारमें कहते हैं-

सरवासेहिं पडंतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो॥ १३१

भावार्थ-जैसे संग्राममें वह वीर जिसके-पास दृढ़ लोहेका कवच है-सैकड़ों बाणोंकी मार खानेपर भी बाणोंसे नहीं भिदता है तैसे छः प्रकारके कायोंसे भरे हुए लोकमें समितियोंको पालता हुआ साधु विहार करता हुआ पापोंसे नहीं लिप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अन्तरङ्ग भंग ही भाव हिंसा है। इसके निरोधके लिये निरन्तर स्वात्मसमाधिमें उपयुक्त होना योग्य है॥ २०॥

उत्थानिका-आगे आचार्य कहते हैं कि बाहरी जीवका घात होनेपर बन्ध होता है तथा नहीं भी होता है, किन्तु परिग्रहके होते हुए तो नियमसे बन्ध होता है।

हवदि व ण हवदि बन्धो मदे हि जीवेऽध कायचेट्ठम्मि।
बन्धो धुवमुवधीदो इदि समणा छंडिया सव्वं॥ २१॥
भवति वा न भवति बंधो मृतेहि जीवेऽथ कायचेष्टायाम्।
बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्तः सर्वम्॥ २१

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(कायचेट्ठम्मि) शरीरसे हलन चलन आदि क्रियाके होते हुए (जीवे मदे) किसी जंतुके मरजाने पर (हि) निश्चयसे (बंधो हवदि) कर्मबंध होता है (वा ण हवदि) अथवा नहीं होता है (अध) परंतु (उवधीदो) परिग्रहके निमित्तसे

(बंधो ध्रुवं) वंध निश्चयसे होता ही है (इदि) इसी लिये (समणा) साधुओंने (सव्वं) सर्व परिग्रहको (छंडिया) छोड़ दिया ।

विशेषार्थ–साधुओंने व महाश्रमण सर्वज्ञोंने पहले दीक्षा-कालमें शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव मई अपने आत्माको ही परिग्रह जानके शेष सर्व बाह्य अभ्यंतर परिग्रहको छोड दिया। ऐसा जान कर, अन्य साधुओंको भी अपने परमात्मस्वभावको ही अपनी परिग्रह स्वीकार करके शेष सर्व ही परिग्रहको मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग देना चाहिये। यहां यह कहा गया है कि शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राणका घात जब राग द्वेष आदि परिणामरूप निश्चयहिंसासे किया जाता है तब नियमसे बन्ध होता है। पर जीवके घात होजाने पर बंध हो वा न भी हो, नियम नहीं है, किन्तु परद्रव्यमें ममतारूप मूर्छा–परिग्रहसे तो नियमसे बंध होता ही है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बात स्पष्ट खोल दी है कि मात्र शरीरकी क्रिया होनेसे यदि किसी जंतुका वध होजावे तो बंध होय ही गा यह नियम नहीं है अर्थात् बाहरी प्राणियोंके घात होने मात्रसे कोई हिंसाके पापका भागी नहीं होता है। जिसके अप्रमाद भाव है, जीवरक्षाकी सावधानता है या शुद्ध वीतराग भाव है उसके बाहरी हिंसा शरीरद्वारा होनेपर भी कर्म बंध नहीं होगा। तथा जिस साधुके उपयोगमें रागादि प्रवेश हो जायंगे और वह जीव रक्षासे असावधान या प्रमादी हो जायगा तो उसके अवश्य पापबंध होगा, क्योंकि बन्ध अन्तरङ्ग कषायके निमित्तसे होता है।

परिग्रहका त्याग साधु क्यों करते हैं इसका हेतु यह बताया है कि विना इच्छाके बाहरी क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, वस्त्रादि वस्तुओंको कौन रख सक्ता है, उठा सक्ता है व लिये २ फिर सक्ता है। अर्थात् इच्छाके विना परद्रव्यका सम्बन्ध हो ही नहीं सक्ता। इसलिये इच्छाका कारण होनेसे साधुओंने दीक्षा लेते समय सर्व ही बाह्य दस प्रकार परिग्रहका त्याग कर दिया। तथा अन्तरङ्ग चौदह प्रकार भाव परिग्रहसे भी ममत्व छोड़ दिया अर्थात् मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसकवेदसे भी अत्यन्त उदासीन होगए। जहां इन २४ प्रकारकी परिग्रहका सम्बन्ध है वहां अवश्य बन्ध होगा।

यद्यपि शरीर भी परिग्रह है परन्तु शरीरका त्याग हो नहीं सक्ता। शरीर आत्माके रहनेका निवासस्थान है तथा शरीर संयम व तपका सहकारी है। मनुष्य देहकी सहाय विना चारित्र व ध्यानका पालन हो नहीं सक्ता इसलिये उसके सिवाय जिन जिन पदार्थोंको जन्मनेके पीछे माता पिता व जनसमूहके द्वारा पाकर उनको अपना मानकर ममत्त्व किया था उनका त्याग देना शक्य है इसीलिये साधु वस्त्रमात्रका भी त्याग कर देते हैं। क्योंकि एक लंगोटीकी रक्षा भी परिणामोंमें ममता उत्पन्न कर बन्धका कारण होती है।

अन्तरङ्ग भावोंका त्यागना यही है कि मैं इन मिथ्यात्त्व व क्रोधादिकोंको परभाव मानता हूं-इनसे भिन्न अपना शुद्ध चैतन्य भाव है ऐसा निश्चय करता हूं। तथा साधु अंतरंगमें क्रोधादि न उपज आवें इस बातकी पूर्ण सम्हाल रखता है।

शुद्धोपयोग रूप अंतरंग संयमका घात परिग्रहरूप मूर्छा भावसे होता है इसलिये परिग्रह नियमसे बंधका कारण है। इसीलिये चक्रवर्ती व तीर्थंकरोंने सर्व गृहस्थ अवस्थाकी परिग्रहको त्यागकर ही मुनिपदको धारण किया। जिस बंधके छेदके लिये ध्यानरूपी खडग लेकर साधुपद धारण किया उस बन्धरूपी शत्रुके आगमनके कारण परिग्रहका त्याग अवश्य करना ही योग्य है।

वास्तवमें परिग्रहरूप ममत्वभाव ही बंधका कारण है। वीतराग भाव होते हुए बाहरी किसी प्राणीकी हिंसा होते हुए भी भाव हिंसाके विना हिंसाका पाप बन्ध नहीं होगा। इसलिये आचार्यने दृढ़तासे यह बताया है कि सर्व परिग्रहका त्याग करना साधुके लिये प्रथम कर्तव्य है। पुरुषार्थ सिद्धचुपायमें कहा है:-

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयत्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥ ११८ ॥
हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसंगेषु ।
वहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ॥ ११९ ॥

भावार्थ—जिनवाणीके ज्ञाता आचार्योंने यह सूचित किया है कि अंतरङ्ग बहिरंग परिग्रहका त्याग अहिंसा है तथा इन दोनों तरहकी परिग्रहका ढोना हिंसा है। अंतरंगके परिग्रहोंमें हिंसाकी ही पर्यायें हैं अर्थात् भाव हिंसाकी ही अवस्थाएं हैं तथा बाहरी परिग्रहोंमें नियमसे मूर्छा आती ही है सो ही हिंसापना है। मूर्छाका कारण होनेसे बाहरी परिग्रह भी त्यागने योग्य है।

पं० आशाधरजी अनगारधर्मामृतमें कहते हैं-

परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः ।
त्याज्यं ग्रन्थमशेषं त्यक्त्वा परनिर्ममः स्वशर्म भजेत् ॥ १०६ ॥

भावार्थ—साधुका कर्तव्य है कि वह इंद्रियसुखको मृगतृष्णाके समान जानके छोड़दे व सर्व प्रकार आरम्भका त्याग करदे और सर्व धनधान्यादि परिग्रहको छोड़कर जिस शरीरको छोड़ नहीं सक्ता उसमें ममता रहित होकर आत्मीकसुखका भोग करे। वास्तवमें शुद्धोपयोगकी परिणतिके लिये परकी अभिलाषाका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि निज भावोंकी भूमिकाको परम शुद्ध रखना ही बन्धके अभावका हेतु है ॥ २१ ॥

इस तरह भाव हिंसाके व्याख्यानकी मुख्यतासे पांचवें स्थलमें छः गाथाएं पूर्ण हुईं। इस तरह पहले कहे हुए क्रमसे-"एवं पणमिय सिद्धे" इत्यादि २१ इक्कीश गाथाओंसे ५ स्थलोंके द्वारा उत्सर्गचारित्रका व्याख्याननामा प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब आगे चारित्रका देशकालकी अपेक्षासे अपहृत संयमरूप अपवादपना समझानेके लिये पाठके क्रमसे ३० तीस गाथाओंसे दूसरा अन्तराधिकार प्रारम्भ करते हैं। इसमें चार स्थल हैं।

पहले स्थलमें निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गकी स्थापनाकी मुख्यतासे "णहि णिरवेक्खो चाओ" इत्यादि गाथाएं पांच हैं। इनमेंसे तीन गाथाएं श्री अमृतचन्द्रकृत टीकामें नहीं हैं। फिर सर्व पापके त्यागरूप सामायिक नामके संयमके पालनेमें असमर्थ यतियोंके लिये संयम, शौच व ज्ञानका उपकरण होता है। उसके निमित्त अपवाद व्याख्यानकी मुख्यतासे "छेदो जेण ण विज्जदि" इत्यादि सूत्र

तीन हैं। फिर स्त्रीको तद्भव मोक्ष होती है इसके निराकरणकी प्रधानतासे 'पेच्छदि णहि इह लोगं' इत्यादि ग्यारह गाथाएं हैं। ये गाथाएं श्री अमृतचन्द्रकी टीकामें नहीं हैं। इसके पीछे सर्व उपेक्षा संयमके लिये जो साधु असमर्थ है उसके लिये देश व कालकी अपेक्षासे इस संयमके साधक शरीरके लिये कुछ दोष रहित आहार आदि सहकारी कारण ग्रहण योग्य है। इससे फिर भी अपवादके विशेष व्याख्यानकी मुख्यतासे "उवयरणं जिणमग्गे" इत्यादि ग्यारह गाथाएं हैं, इनमेंसे भी उस टीकामें ४ गाथाएं नहीं हैं। इस तरह मूल सूत्रोंके अभिप्रायसे तीस गाथाओंसे तथा अमृतचन्द्र कृत टीकाकी अपेक्षासे बारह गाथा-ओंसे दूसरे अंतर अधिकारमें समुदाय पातनिका है।

अब कहते हैं कि जो भावोंकी शुद्धिपूर्वक बाहरी परिग्रहका त्याग किया जावे तो अभ्यंतर परिग्रहका ही त्याग किया गया।

णहि णिरवेक्खो चाओ ण हवदि भिक्खुस्स आसवविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ॥ २२॥

नहि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथं नु कर्मक्षयो विहितः॥ २२॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(णिरवेक्खो) अपेक्षा रहित (चाओ) त्याग (नहि) यदि न होवे तो (भिक्खुस्स) साधुके (आसवविसुद्धी ण हवदि) आशय या चित्तकी विशुद्धि नहीं होवे। (य) तथा (अविसुद्धस्स चित्ते) अशुद्ध मनके होनेपर (कहं णु) किस तरह (कम्मक्खओ) कर्मोंका क्षय (विहिओ) उचित हो अर्थात् न हो।

विशेषार्थ--यदि साधु सर्वथा ममता या इच्छा त्यागकर सर्व परिग्रहका त्याग न करे किन्तु यह इच्छा रक्खे कि कुछ भी वस्त्र या पात्र आदि रख लेने चाहिये, तो अपेक्षा सहित परिणामोंके होनेपर उस साधुके चित्तकी शुद्धि नहीं हो सक्ती है। तब जिस साधुका चित्त शुद्धात्माकी भावना रूप शुद्धिसे रहित होगा उस साधुके कर्मोंका क्षय होना किस तरह उचित होगा अर्थात् उसके कर्मोंका नाश नहीं होसक्ता है।

इस कथनसे यह भाव प्रगट किया गया है कि जैसे बाहरका तुष रहते हुए चावलके भीतरकी शुद्धि नहीं की जासक्ती। इसी तरह विद्यमान परिग्रहमें या अविद्यमान परिग्रहमें जो अभिलाषा है उसके होते हुए निर्मल शुद्धात्माके अनुभवको करनेवाली चित्तकी शुद्धि नहीं की जासक्ती है। जब विशेष वैराग्यके होनेपर सर्व परिग्रहका त्याग होगा तब भावोंकी शुद्धि अवश्य होगी ही, परन्तु यदि प्रसिद्धि, पूजा या लाभके निमित्त त्याग किया जायगा तौ भी चित्तकी शुद्धि नहीं होगी।

भावार्थ--जिसके शरीरसे पूर्ण ममता हट जायगी वही निर्ग्रंथ लिंग धारण कर सक्ता है। इस निर्ग्रंथ लिंगमें यथाजातरूपता है। जैसे बालक जन्मते समय शरीरके सिवाय कोई वस्त्र या आभूषण नहीं रखता है वैसे साधु नग्न होजाता है। वह शरीरके खुले रहते हुए शीत, उष्ण, वर्षा, डांस, मच्छर, तृणस्पर्श आदि परीसहोंको सहता हुआ अपने आत्मबलमें और भी दृढ़ता प्राप्त करता है। जिसके ममत्व या इच्छा मिट जाती है वही मोक्षका साधक शुद्धात्मानुभव रूप शुद्ध वीतरागभाव प्राप्त कर सक्ता है।

जिसके भावोंमें कुछ भी ममत्व होगा वही शरीरकी ममता पोषनेको वस्त्रादि परिग्रह रक्खेगा। ममता सहित साधु शुद्धोपयोगी न होता हुआ कर्म बंध करेगा न कि कर्मोंका क्षय करेगा। जहां शुद्ध निर्ममत्व भाव है वहीं कर्मोंका क्षय होसक्ता है।

साधुपदमें बाहरी परिग्रह व ममता रखना बिलकुल वर्जित है क्योंकि इस बाहरी परिग्रहकी इच्छासे अन्तरंगका अशुद्ध मैल नहीं कट सक्ता। जैसे चावलके भीतरका छिलका उसी समय दूर होगा जब उसके बाहरके तुषको निकालकर फैंक दिया जावे। बाहरकी परिग्रह रहते हुए अन्तरंग रागभावका त्याग नहीं हो सक्ता, इसलिये बाहरी परिग्रहका अवश्य त्याग कर देना चाहिये। इच्छा विना कौन वस्त्र ओढ़ेगा, पहनेगा, धोवेगा, सुखावेगा ऐसी इच्छा गृहस्थके होतो हो परन्तु साधु महाराजके लिये ऐसी इच्छा सर्वथा अनुचित है, क्योंकि शुद्धोपयोगमें रमनेवालेको सर्व परपदार्थोंका त्याग इसीलिये करना उचित है कि भावोंमें वैराग्य, शांति और शुद्धात्मध्यानका विकाश हो।

श्री अमितिगति आचार्यने बृहत् सामायिकपाठमें कहा है-

सद्रत्नत्रयपोषणाय वपुषस्त्याज्यस्य रक्षा परा,
दत्तं येऽशनमात्रकं गतमलं धर्मार्थिभिर्दातृभिः।
लज्जंते परिगृह्य मुक्तिविषये बद्धस्पृहा निस्पृहा-
स्ते गृण्हन्ति परिगृहं दमधराः किं संयमध्वंसकं ॥१०४॥

भावार्थ—जो साधु सम्यग्रत्नत्रयकी पुष्टिके लिये त्यागने योग्य शरीरकी रक्षा मात्र करते हैं, तथा जो जितेंद्रिय साधु परम वैरागी होते हुए केवल भक्तिकी ही भावनामें मग्न हैं और जो धर्मात्मा दातारोंसे दिये हुए शुद्ध भोजन मात्रको लेकर लज्जा

मानते हैं वे साधु किस तरह संयमकी घात करनेवाली किसी परिग्रहको ग्रहण कर सक्ते हैं।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

रागादिवर्द्धनं सङ्गं परित्यज्य दृढव्रताः।
धीरा निर्मलचेतस्काः तपस्यन्ति महाधियः। २२३।
संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम्।
सर्वसंगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम्॥ २२४॥

भावार्थ—महा बुद्धिवान, दृढ़व्रती, धीर और निर्मल चित्तधारी साधु रागद्वेषादिको बढ़ानेवाली परिग्रहको त्यागकर तपस्या करते हैं। जिनका चित्त संसारमें वैरागी है, जो मोक्षके आनंदके पिपासु हैं जो सर्व परिग्रहसे अलग हैं उनका जीवन धन्य है॥२२

उत्थानिका—आगे इसही परिग्रहके त्यागको दृढ़ करते हैं।

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो॥ २३॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि॥ २४॥
गेण्हई विधुणइ धोवइ सोसइ जयं तु आदवे खित्ता।
पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि॥ २५॥

गृह्णाति वा चेलखंडं भाजनमस्तीति भणितमिह सूत्रे।
यदि सो त्यक्तालम्बो भवति कथं वा अनारंभः॥ २३
वस्त्रखंडं दुग्धिकाभाजनमन्यच्च गृह्णाति नियतं।
विद्यते प्राणारंभो विक्षेपो तस्य चित्ते॥ २४
गृह्णाति विधुनोति धौति शोषयति यदं तु आतपे क्षिप्त्वा।
पात्रं च चेलखंडं बिभेति परतश्च पालयति॥ २५

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) यदि (इह सुत्ते) किसी विशेष सूत्रमें (चेलखंडं गेण्हदि) साधु वस्त्रके खंडको स्वीकार करता है (व भायणं अत्थित्ति भणिदम्) या उसके भिक्षाका पात्र होता है ऐसा कहा गया है तो (सो) वह पुरुष निरालम्ब परमात्माके तत्वकी भावनासे शून्य होता हुआ (कहं) किस तरह (णिरालंबो) बाहरी द्रव्यके अलम्बन रहित (हवदि) होसक्ता है? अर्थात् नहीं होसक्ता (वा अणारम्भो) अथवा किस तरह क्रिया रहित व आरम्भ रहित निज आत्मतत्त्वकी भावनासे रहित होकर आरम्भसे शून्य होसक्ता है? अर्थात् आरम्भ रहित न होकर आरम्भ सहित ही होता है। यदि वह (वत्थखण्डं) वस्त्रके टुकड़ेको, (दुद्दियभायणं) दूधके लिये पात्रको (अण्णं च गेण्हदि) तथा अन्य किसी कम्बल या मुलायम शय्या आदिको गृहण करता है तो उसके (णियदं) निश्चयसे (पाणारम्भो विज्जदि) अपने शुद्ध चैतन्य लक्षण प्राणोंका विनाश रूप अथवा प्राणियोंका वध रूप प्राणारम्भ होता है तथा (तस्स चित्तम्मि विक्खेवो) उस क्षोभ रहित चित्तरूप परम योगसे रहित परिग्रहवान पुरुषके चित्तमें विक्षेप होता है या आकुलता होती है। वह यती (पत्थं च चलेखण्डं) भाजनको या वस्त्रखण्डको (गेण्हई) अपने शुद्धात्माके ग्रहणसे शून्य होकर ग्रहण करता है, (विधुणइ) कर्म धूलको झाड़ना छोड़कर उसकी बाहरी धूलको झाड़ता है, (धोवइ) निज परमात्मतत्वमें मल उत्पन्न करनेवाले रागादि मलको छोड़कर उनके बाहरी मैलको धोता है (जयं दं तु आदवे खित्ता सोसइ) और निर्विकल्प ध्यानरूपी धूपसे संसारनदीको नहीं सुखाता हुआ यत्नवान होकर उसे धूपमें डालकर सुखाता है (परदो य विमेदि)

और निर्भय शुद्ध आत्मतत्वकी भावनासे शून्य होकर दूसरे चोर आदिकोंसे भय करता है (पालयदि) तथा परमात्मभावनाकी रक्षा छोड़कर उनकी रक्षा करता है।

भावार्थ—यदि कोई कहे हमारे शास्त्रमें यह बात कही है कि साधुको वस्त्र ओढ़ने बिछानेको रखने चाहिये या दूध आदि भोजन लेनेके लिये पात्र रखना चाहिये तो उसके लिये आचार्य दूषण देते हैं कि यदि कोई महाव्रतोंका धारी साधु होकर जिसने आरम्भजनित हिंसा भी त्यागी है व सर्व परिग्रहके त्यागकी प्रतिज्ञा ली है ऐसा करे तो वह पराधीन व आरम्भवान हो जावे उसको वस्त्रके आधीन रहकर परीसहोंके सहनेसे व घोर तपस्याके करनेसे उदासीन होना हो तथा उसको उन्हें उठाते, धरते, साफ करते, आदिमें आरम्भ करना हो वस्त्रको झाड़ने, धोते, सुखाते, अवश्य प्राणियोंकी हिंसा करनी पड़े तब अहिंसाव्रत न रहे उनकी रक्षाके भावसे चोर आदिसे भय बना रहे तब भय परिग्रहका त्याग नहीं हुआ इत्यादि अनेक दोष आते हैं। वास्तवमें जो सर्व आरम्भ व परिग्रहका त्यागी है वह शरीरकी ममताके हेतुसे किसी परिग्रहको नहीं रख सक्ता है। पीछी कमण्डल तो जीवदया और शौचके उपकरण हैं उनको संयमकी रक्षार्थ रखना होता है सो वे भी मोर पंखके व काठके होते हैं उनके लिये कोई रक्षाका भय नहीं करना पड़ता है, न उनके लिये कोई आरम्भ करना पड़ता है, परन्तु वस्त्र तो शरीरकी ममतासे व भोजन पात्र भोजनके हेतुसे ही रखना पड़ेंगे फिर इन वस्त्रादिके लिये चिंता व अनेक आरम्भ करना पड़ेंगे इसलिये साधुओंको रखना उचित नहीं है। जो वस्त्र रखता

हैं उसके नग्न परीसह, डांस मच्छर परीसह, शीत व उष्ण परीषहका सहना नहीं बन सक्ता है। जहांतक वस्त्रकी आवश्यक्ता हो वहांतक श्रावकोंका चारित्र पालना चाहिये। जिन लिंग तो नग्न रूपमें ही है। जिसके चित्तमें परम निर्ममत्व भाव जग जावे वही वस्त्रादि त्याग दिगम्बर साधु हो पूर्ण अहिंसादि पांच महाव्रतोंको पालकर सिद्ध होनेका यत्न करे ऐसा भाव है ॥२३–२४–२५॥

उत्थानिका–आगे आचार्य कहते हैं कि जो परिग्रहवान है उसके नियमसे चित्तकी शुद्धि नष्ट होजाती है:—

किध तम्मि णत्थि मुच्छा आरम्भो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २६ ॥

कथं तस्मिन्नास्ति मूर्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य ।
तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति ॥ २६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्मि) उस परिग्रह सहित साधुमें (किध) किस तरह (मुच्छा) परद्रव्यकी ममतासे रहित चैतन्यके चमत्कारकी परिणतिसे भिन्न मूर्छा (वा आरम्भो) अथवा मन वचन कायकी क्रिया रहित परम चैतन्यके भावमें विघ्नकारक आरम्भ (णत्थि) नहीं है किन्तु है ही (तस्स असंजमो) और उस परिग्रहवानके शुद्धात्माके अनुभवसे विलक्षण असंयम भी किस तरह नहीं है किन्तु अवश्य है (तध) तथा (परदव्वमि रदो) अपने आत्मा द्रव्यसे भिन्न परद्रव्यमें लीन होता हुआ (कधमप्पाणं पसाधयदि) किस तरह अपने आत्माकी साधना परिग्रहवान पुरुष कर सक्ता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं कर सक्ता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि जिसके पास रञ्चमात्र भी वस्त्रादिकी परिग्रह होगी उसको उसमें मूर्छा अवश्य होगी तथा उसके लिये कुछ आरम्भ भी करना पड़ेगा। इच्छा या आरम्भजनित हिंसा होनेसे असंयम भी हो जायगा। साधुको अहिंसा महाव्रत पालना चाहिये सो न पल सकेगा तथा परद्रव्यमें रति होनेसे आत्मामें शुद्धोपयोग न हो सकेगा, जिसके विना कोई भी साधु मोक्षका साधन नहीं कर सक्ता। इस तरह साधुके लिये रंचमात्र भी परिग्रह ममताका कारण है जो सर्वथा त्यागने योग्य है।

वस्त्रादि परिग्रहके निमित्तसे अवश्य उनके उठाने, धरने झाड़ने, धोने, सुखानेमें आरंभी हिंसा होगी इससे सावद्य कर्म हो जायगा। साधुको पापास्रवके कारण सावद्य कर्मका सर्वथा त्याग है। ऐसा ही श्री मूलाचार अनगारभावना अधिकारमें कहा है:—

तणरुक्खहरिच्छेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं।
फलपुप्फवीयघादं ण करिंति मुणी न कारिंति॥ ३५॥
पुढवीय समारंभं जलपवणग्गीतसाणमारम्भं।
ण करेंति ण कारेंति य कारेंतं णाणुमोदंति॥ ३६॥

भावार्थ—मुनि महाराज तृण, वृक्ष, हरितघासादिका छेदन नहीं करते न कराते हैं, न छाल, पत्र, प्रवाल, कंदमूलादि फल फूल बीजका घात करते न कराते हैं, न वे पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि अथवा त्रस घातका आरंभ करते हैं न कराते हैं, न इसकी अनुमोदना करते हैं। पात्रकेशरी स्तोत्रमें श्री विद्यानंदजी स्वामी कहते हैं:—

जिनेश्वर ! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो,
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः ।
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद्वृथा नग्नता,
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥ ४१ ॥
परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते,
प्रकोपपरिहिंसने च परुषानृतव्याहृतो ।
ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता,
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥ ४२ ॥

भावार्थ–हे जिनेश्वर ! आपके मतमें ऊन व कपास व रेशमके वस्त्र व वर्तनका ग्रहण साधुके लिये नहीं माना गया है। जो लोग अशक्त हैं उन्होंने इनको शरीरके सुखका कारण जानकर साधुके लिये कल्पित किया है । यदि यह परिग्रह सहित पना भी मोक्ष मार्ग हो जावे तो फिर आपके मतमें नग्नपना धारण वृथा होगा क्योंकि जब नीचे खड़े हुए हाथोंसे ही वृक्षका फल मिल सके तब कौन ऐसा है जो वृथा वृक्षपर चढ़ेगा ।

जिनके पास परिग्रह होगी उनको चोर आदिका भय अवश्य होगा और यदि कोई चुरा लेगा तो उसपर क्रोध व उसकी हिंसाका भाव आएगा तथा कठोर व असत्य वचन बोलना होगा तथा उस पदार्थपर ममता रहेगी । कदाचित् अपना अभिप्राय किसीकी वस्तु विना दिये लेनेका हो जायगा तो अपने मनमें उसके निमित्तसे क्षोभ होगा व आकुलता बढ़ेगी ऐसा होनेपर जिनके मनमें कलुपता या मैलापन हो जायगा उनके परम शुक्लध्यानपना किस तरह हो सकेगा ?

इस लिये यही यथार्थ है कि परिग्रहवानके चित्तकी शुद्धि नहीं हो सक्ती है ॥ २६ ॥

इस तरह श्वेताम्बर मतके अनुसार माननेवाले शिष्यके संबोधनके लिये निर्ग्रंथ मोक्षमार्गके स्थापनकी मुख्यतासे पहले स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि किसी कालकी अपेक्षासे जब साधुकी शक्ति परम उपेक्षा संयमके पालनेको न हो तब वह आहार करता है, संयमका उपकरण पीछी व शौचका उपकरण कमंडल व ज्ञानका उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण करता है ऐसा अपवाद मार्ग है।

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता॥ २७॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेसु सेवमानस्य।
श्रमणस्तेनेह वर्ततां कालं क्षेत्रं विज्ञाय॥ २७॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जेण गहण विसग्गेसु सेवमाणस्स) जिस उपकरणके ग्रहण करने व रखनेमें उस उपकरणके सेवनेवाले साधुके (छेदो ण विज्जदि) शुद्धोपयोगमई संयमका घात न होवे (तेणिह समणो कालं खेत्तं वियाणित्ता वट्टदु) उसी उपकरणके साथ इसलोकमें साधु क्षेत्र और कालको जानकर वर्तन करे।

विशेषार्थ—यहां यह भाव है कि कालकी अपेक्षा पञ्चमकाल या शीत उष्ण आदि ऋतु, क्षेत्रकी अपेक्षा मनुष्य क्षेत्र या नगर जंगल आदि इन दोनोंको जानकर जिस उपकरणसे स्वसंवेदन लक्षण भाव संयमका अथवा बाहरी द्रव्य संयमका घात न होवे उस तरहसे मुनिको वर्तना चाहिये।

भावार्थ—उत्सर्ग मार्ग वह है जहां शुद्धोपयोग रूप परम सामायिक भावमें रमणता है। वहांपर शरीर मात्रका भी किंचित् ध्यान नहीं है। वास्तवमें यही भाव मुनि लिंग है, परन्तु इस तरह लगातार वर्तन होना दीर्घ कालतक संभव नहीं है। इसलिये वीतराग संयमसे हटकर सराग संयममें साधुको आना पड़ता है। सराग संयमकी अवस्थामें साधुगण अपने शुद्धोपयोगके सहकारी ऐसे उपकरणोंका ही व्यवहार करते हैं। शरीरको जीवित रखनेके लिये उसे निर्दोष आहार देते हैं। बैठते, उठते, धरते आदि कामोंमें जीवरक्षाके हेतु पीछीका उपकरण रखते हैं। शरीरका मल त्याग करनेके लिये और स्वच्छ होनेके लिये कमंडल जल सहित रखते हैं तथा ज्ञानकी वृद्धिके हेतु शास्त्र रखते हैं। इन उपकरणोंसे संयमकी रक्षा होती है। शास्त्रोपदेश करना, ग्रन्थ लिखना, विहार करना आदि ये सब कार्य सरागसंयमकी अवस्थाके हैं। इसी कालके वर्तनको 'अपवाद मार्ग' कहते हैं। वास्तवमें साधुओंके अप्रमत्त और प्रमत्त गुणस्थान पुनः पुनः आता जाता रहता है। इनमेंसे हरएककी स्थिति अंतर्मुहूर्तसे अधिक नहीं है। जब साधु अप्रमत्त गुणस्थानमें रहते तब वीतराग संयमी व उत्सर्ग मार्गी होते और जब प्रमत्त गुणस्थानमें आते तब सराग संयमी व अपवादमार्गी होते हैं। साधुको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर जिसमें संयमकी रक्षा हो उस तरह वर्तन करना चाहिये। कहा है-मूलाचार समसार अधिकारमें—

दव्वं खेत्तं कालं भावं सत्तिं च सुट्ठु णाऊण।
झाणज्झयणं च तहा साहू चरणं समाचरउ ॥१२४॥

साधुको योग्य है कि द्रव्य आहार शरीरादि, क्षेत्र जंगल आदि, काल शीत उष्णादि, भाव अपने परिणाम इन चारोंको भली प्रकार देखकर तथा अपनी शक्ति व ध्यान या ग्रंथ पठनकी योग्यता देखकर आचरण करें ॥ २७ ॥

उत्थानिका–आगे पूर्व गाथामें जिन उपकरणोंको साधु अपवाद मार्गमें काममें लेसक्ता है उनका स्वरूप दिखलाते हैं।

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदिवियप्पं ॥ २८ ॥

अप्रतिक्रुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसंयतजनैः।
मूर्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥२८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(समणो) साधु (उवधिं) परिग्रहको (अप्पडिकुट्ठं) जो निषेधने योग्य न हो, (असंजदजणेहिं अपत्थणिज्जं) असंयमी लोगोंके द्वारा चाहने योग्य न हो (मुच्छादिजणणरहिदं) व मूर्छा आदि भावोंको न उत्पन्न करे (जदिवियप्पं) यद्यपि अल्प हो गेह्णदु) ग्रहण करें।

विशेषार्थ–साधु महाराज ऐसे उपकरणरूपी परिग्रहको ही ग्रहण करें जो निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गमें सहकारी कारण होनेसे निषिद्ध न हो, जिसको वे असंयमी जन जो निर्विकार आत्मानुभवरूप भाव संयमसे रहित हैं कभी मांगे नहीं न उसकी इच्छा करें, तथा जिसके रखनेसे परमात्मा द्रव्यसे विलक्षण बाहरी द्रव्योंमें ममतारूप मूर्छा न पैदा हो जावे न उसके उत्पन्न करनेका दोष हो न उसके संस्कारसे दोष उत्पन्न हो। ऐसे परिग्रहको यदि रक्खें तो भी बहुत थोडी रक्खें। इन लक्षणोंसे विपरीत परिग्रह न लेवें।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने जिन उपकरणोंको अपवाद मार्गमें साधु ग्रहण कर सक्ता है उनका लक्षण मात्र बता दिया है। पहला विशेषण तो यह है कि वह रागद्वेष बढ़ाकर पाप बंध करानेवाली न हो। दूसरा यह है कि उसको कोई भी असंयमी गृहस्थ चोर आदि कभी लेना न चाहे। तीसरा विशेष यह है कि उसके रक्षण आदिमें मूर्छा या ममता न पैदा हो। ऐसे उपकरणोंको मात्र संयमकी रक्षाके हेतुसे ही जितना अल्प हो उतना रखना चाहिये। इसी लिये साधु मोरपिच्छिका तो रखते परन्तु उसको चांदी सोनेमें जड़ाकर नहीं रखते। केवल वह मामूली दृढ़ बन्धनोंसे बंधी हो ऐसी पीछी रखते, कमंडल धातुका नहीं रखते काठका कमंडल रखते, उसकी कौन मनुष्य इच्छा करेगा? तथा शास्त्र भी पढ़ने योग्य एक कालमें आवश्यक्तानुसार थोड़े रखते सो भी मामूली बन्धनमें बंधे हों। चांदी सोनेका सम्बन्ध न हो। साधु इन वस्तुओंको रखते हुए कभी यह भय नहीं करते कि ये वस्तुएं न रहेंगी तो क्या करूंगा? इनसे भी ममत्त्व रहित रहते। ये वस्तुएं जगतके लोगोंकी इच्छा बढ़ानेवाली नहीं, तिसपर भी यदि कोई उठा लेजावे तो मनमें कुछ भी खेद नहीं मानते, जबतक दूसरा कोई श्रावक लाकर भक्तिपूर्वक अर्पण न करेगा तबतक साधु मौनी रह कर ध्यानमें मग्न रहेगा।

इससे विपरीत जो शंका उत्पन्नवाले उपकरण हैं उन्हें साधुको कभी नहीं रखना चाहिये। मूलाचार अनगारभावनामें कहा है-

लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च।
उज्झण सुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥ ३ ॥

भावार्थ—साधुको इतनी शुद्धियां पालनी चाहिये। (१) लिंग शुद्धि- निर्ग्रन्थ सर्व संस्कारसे रहित वस्त्ररहित शरीर हो, लोच किये हों, पीछी कमंडल सहित हों। (२) व्रतशुद्धि—अतीचार रहित अहिंसादि पांच व्रतोंको पालते हों। (३) वसतिशुद्धि-स्त्री पशु नपुंसक रहित स्थानमें ठहरें जहां परम वैराग्य हो सके। (४) विहारशुद्धि—चारित्रके निर्मल करनेके लिये योग्य देशोंमें विहार करते हों। (५) भिक्षाशुद्धि-भोजन दोषरहित ग्रहण करते हों। (६) ज्ञानशुद्धि—शास्त्रज्ञान व पदार्थज्ञान व आत्मज्ञानमें संशयरहित परिपक्व हों। (७) उज्झनशुद्धि-शरीरादिसे ममताके त्यागमें दृढ़ हों। (८) वाक्यशुद्धि—विकथारहित शास्त्रोक्त मृदु व हितकारी वचन बोलते हों। (९) तपशुद्धि—बारह प्रकार तपको मन लगाकर पालते हों। (१०) ध्यानशुद्धि—ध्यानके भले प्रकार अभ्यासी हों।

इन शुद्धियोंमें विघ्न न पड़के सहायकारी जो उपकरण हों उन्हींको अपवाद मार्गी साधु ग्रहण करेगा। वस्त्र व भोजनपात्रादि नहीं ॥२८॥

उत्थानिका—आगे फिर आचार्य यही कहते हैं कि सर्व परिग्रहका त्याग ही श्रेष्ठ है। जो कुछ उपकरण रखना है वह अशक्यानुष्ठान है—अपवाद है—

किं किंचणत्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहोवि।
संगत्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तिमुद्दिट्ठा ॥ २९ ॥

किं किंचनमिति तर्कः अपुनर्भवकामिनोथ देहोपि।
संग इति जिनवरेन्द्रा अप्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्तः ॥ २९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अध) अहो (अपुणब्भवकामिणो) पुनः भवरहित ऐसे मोक्षके इच्छुक साधुके (देहोवि) शरीर

मात्र भी (संगत्ति) परिग्रह है ऐसा जानकर (जिणवरिंदा) जिन-वरेंद्रोंने (अप्पडिकम्मत्तिम्) ममता रहित भावको ही उत्तम (उद्दिट्ठा) कहा है (किं किंचनत्ति तक्कं) ऐसी दशामें साधुके क्या २ परिग्रह हैं यह मात्र एक तर्क ही है अर्थात् अन्य उपकरणादि परिग्रहका विचार भी नहीं होसक्ता ।

विशेषार्थ—अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप जो मोक्ष है उसकी प्राप्तिके अभिलाषी साधुके शरीर मात्र भी जब परिग्रह है तब और परिग्रहका विचार क्या किया जा सक्ता है। शुद्धोपयोग लक्षणमई परम उपेक्षा संयमके बलसे देहमें भी कुछ प्रतिकर्म अर्थात ममत्व नहीं करना चाहिये तब ही वीतराग संयम होगा ऐसा जिनेन्द्रोंका उपदेश है। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि मोक्ष सुखके चाहनेवालोंको निश्चयसे शरीर आदि सब परि-ग्रहका त्याग ही उचित है। अन्य कुछ भी कहना सो उपचार है।

भावार्थ—इस गाथाका भाव यह है कि वीतराग भावरूप परम सामायिक जो मुनिका मुख्य निश्चय चारित्र है वही उत्तम है, यही मोक्षमार्ग है व इसीसे ही कर्मोकी निर्जरा होती है। इस चारित्रके होते हुए शरीरादि किसी पदार्थका ममत्व नहीं रहता है। शुद्धोपयोगमें जबतक रागद्वेषका त्याग न होगा तबतक वीतराग भाव उत्पन्न नहीं होगा। यही उत्सर्ग मार्ग है। इसके निरन्तर रखनेकी शक्ति न होनेपर ही उन शुभ कार्योंको किया जाता है जो शुद्धोपयोगके लिये उपकारी हों। उन शुभ कार्योंकी सहायता लेना ही अपवाद मार्ग है। इससे आचार्यने यह बात दिखलाई है कि भाव लिंगको ही मुनिपद मानना चाहिये। जिस भावसे

मोक्षका साधन हो वही साधु पदका भाव है। वह बिलकुल ममतारहित आत्माका अभेद रत्नत्रयमें लीन होना है। इसलिये निरन्तर इसी भावकी भावना भानी चाहिये। जैसा देवसेन आचार्यने तत्त्वसारमें कहा है–

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पा तं च दंसणं णाणं।
चरणोपि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥ ८ ॥
जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च।
तं णाऊण विसुद्धं झायेह होऊण णिग्गंथो ॥ ९ ॥

भावार्थ–निश्चयसे जो कोई शुद्धभाव है वही आत्मा है, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है और उसीको ही सम्यग्चारित्र कहा है अथवा वही शुद्ध ज्ञानचेतना है। जो निर्विकल्प तत्त्व है वही सार है, वही मोक्षका कारण है। उसी शुद्ध तत्वको जानकर तथा निर्ग्रंथ अर्थात् ममता रहित होकर उसीका ही ध्यान करो।

इस तरह अपवाद व्याख्यानके रूपसे दूसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं ॥२९॥

उत्थानिका–आगे ग्यारह गाथाओं तक स्त्रीको उसी भवसे मोक्ष हो सक्ता है इसका निराकरण करते हुए व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही श्वेताम्बर मतके अनुसार बुद्धि रखनेवाला शिष्य पूर्वपक्ष करता है:–

पेच्छदि णहि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ ३० ॥

प्रेक्षते न हि इह लोकं परं च श्रमणेंद्रदेशितो धर्मो।
धर्मे तस्मिन् कस्मात् विकल्पितं लिंगं स्त्रीणां ॥ ३० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(समणिंददेसिदो धम्मो) श्रमणोंके इन्द्र जिनेन्द्रोंसे उपदेश किया हुआ धर्म (इह लोगं परं च) इस लोकको तथा परलोकको (णहि पेच्छदि) नहीं चाहता है। (तम्हि धम्मम्हि) उस धर्ममें (कम्हा) किस लिये (इत्थीणं लिंगम्) स्त्रियोंका वस्त्र सहित लिंग (वियप्पियं) भिन्न कहा है।

विशेषार्थ-जैनधर्म वीतराग निज चैतन्य भावकी नित्य प्राप्तिकी भावनाके विनाशक अपनी प्रसिद्धि, पूजा व लाभ रूप इस लौकिक विषयको नहीं चाहता है और न अपने आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षको छोड़कर स्वर्गोंके भोगोंकी प्राप्तिकी कामना करता है। ऐसे धर्ममें स्त्रियोंका वस्त्रसहित लिंग किस लिये निर्ग्रन्थ लिंगसे भिन्न कहा गया है।

भावार्थ-इस गाथामें प्रश्नकर्ताका आशय यह है कि स्त्रीके भी लिंगको-जो वस्त्रसहित होता है-निर्ग्रन्थ लिंग कहना चाहिये था तथा उसको तद्भव मोक्ष होनेका निषेध नहीं करना चाहिये था। ऐसा जो कहा गया है उसका क्या कारण है? ॥ ३८ ॥

उत्थानिका-इसी प्रश्नका आगे सामाधान करते हैं।

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥ ३९ ॥

निश्चयतः स्त्रीणां सिद्धिः न हि तेन जन्मना दृष्टा।
तस्मात् तत्प्रतिरूपं विकल्पितं लिंगं स्त्रीणां ॥ ३९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(णिच्छयदो) वास्तवमें (तेण जम्मणा) उसी जन्मसे (इत्थीणं सिद्धि) स्त्रियोंको मोक्ष (ण हि दिट्ठा)

नहीं देखी गई है (तम्हा) इस लिये (इत्थीणं लिंगं) स्त्रियोंका भेष (तप्पडिरूवं) आवरण सहित (वियप्पियं) पृथक् कहा गया है।

विशेषार्थ–नरक आदि गतियोंसे विलक्षण अनंत सुख आदि गुणोंके धारी सिद्धकी अवस्थाकी प्राप्ति निश्चयसे स्त्रियोंको उसी जन्ममें नहीं कही गई है। इस कारणसे उसके योग्य वस्त्र सहित भेष मुनिके निर्ग्रंथ भेषसे अलग कहा गया है।

भावार्थ–सर्वज्ञ भगवानके आगममें स्त्रियोंको मोक्ष होना उसी जन्मसे निषेधा है, क्योंकि वे नग्न निर्ग्रंथ भेष नहीं धारण कर सक्तीं न सर्व परिग्रहका त्याग कर सक्तीं। परिग्रहके त्यागके बिना प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानमें ही नहीं जाना हो सक्ता है। तब फिर मोक्ष कैसे हो? स्त्री आर्यिका होकर एक सफेद सारी रखती है इसलिये पांचवें गुणस्थान तक ही संयमकी उन्नति कर सक्ती है ॥ ३१ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके मोक्षमार्गको रोकनेवाले प्रमादकी बहुत प्रबलता है–

पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिदिट्ठा ॥३२॥

प्रकृत्या प्रमादमयी एतासां वृत्तिः भासिताः प्रमदाः।
तस्मात् ताः प्रमदाः प्रमादबहुला इति निर्दिष्टाः ॥ ३२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(पयडी) स्वभावसे (एतासिं वित्ति) इन स्त्रियोंकी परिणति (पमादमइया) प्रमादमई है (पमदा भासिया) इसलिये उनको प्रमदा कहा गया है (तम्हा) अतः (ताओ पमदा) वे स्त्रियां (पमादबहुलोत्ति णिदिट्ठा) प्रमादसे भरी हुई हैं ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—क्योंकि स्वभावसे उनका वर्तन प्रमादमयी होता है इसलिये नाममालामें उनको प्रमदा संज्ञा कही गई है। प्रमदा होने हीसे उनमें प्रमाद रहित परमात्मतत्त्वकी भावनाके नाश करनेवाले प्रमादकी बहुलता कही गई है।

भावार्थ—वास्तवमें निर्ग्रंथ लिंग अप्रमादरूप है। स्त्रियोंके इस जातिके चारित्र मोहनीयका उदय है कि जिससे उनके भावोंसे प्रमाद दूर नहीं होता है। यही कारण है कि कोषमें स्त्रियोंको प्रमदा संज्ञा दी है। प्रमादकी बहुलता होने हीसे वे उस निर्विकल्प समाधिमें चित्त नहीं स्थिर कर सक्ती हैं जिसकी मुनिपदमें मोक्षसिद्धिके लिये परम आवश्यक्ता है। अप्रमत्त विरत गुणस्थान देशविरत पांचवेसे एकदम होता है। प्रमत्तविरत छठे गुणस्थानमें तो अप्रमत्तसे पलटकर आता है—चढ़ते हुए एकदम छठा गुणस्थान नहीं होता है। जब साधु वस्त्राभूषण त्यागकर नग्न हो लोचकर ध्यानस्थ होते हैं तब निर्विकल्प भाव जो बिलकुल प्रमादरहित है उस भावमें अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थानमें पहुंच जाते हैं। सो ऐसा होना स्त्रियोंके लिये शक्य नहीं है ॥ ३२ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके मोह आदि भावोंकी अधिकता है—

संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भय दुगंच्छा य।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥ ३३ ॥

सन्ति ध्रुवं प्रमदानां मोहप्रद्वेषभयदुगंछाश्च ।
चित्ते चित्रा माया तस्मात्तासां न निर्वाणं ॥ ३३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पमदाणं चित्ते) स्त्रियोंके चित्तमें (धुवं) निश्चयसे (मोहपदोसा भयं दुगंच्छाय) मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा (चित्ता माया) विचित्र माया (संति) होती है (तम्हा) इसलिये (तासिं ण णिव्वाणं) उनके निर्वाण नहीं होता है।

विशेषार्थ-निश्चयसे स्त्रियोंके मनमें मोहादि रहित व अनन्तसुख आदि गुण स्वरूप मोक्षके कारणको रोकनेवाले मोह, द्वेष, भय, ग्लानिके परिणाम पाए जाते हैं तथा उनमें कुटिलता आदिसे रहित उत्कृष्ट ज्ञानकी परिणतिकी विरोधी नाना प्रकारकी माया होती है। इसी लिये ही उनको बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत मोक्ष नहीं हो सक्ता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-स्त्रियोंके मनमें कषायकी तीव्रता रहा करती है। इसीसे उनके संज्वलन कषायका मात्र उदय न हो करके प्रत्याख्यानावरणका भी इतना उदय होता है कि जिससे जितनी कषायकी मंदता साधु होनेके लिये छठे व सातवें गुणास्थानमें कही है वह नहीं होती है। साधारण रीतिसे पुरुषोंकी अपेक्षा पुत्र पुत्री धनादिमें विशेष मोह स्त्रियोंके होता है, जिससे कुछ भी अपने विषय भोगमें अंतराय होता है उससे वैरभाव हो जाता है। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको भय भी बहुत होता है जिससे बहुधा वे दोष छिपानेको असत्य कहा करती हैं तथा अदेखसका भाव या ग्लानि भी बहुत है जिससे वह अपने समान व अपनेसे बढ़कर दूसरी स्त्रीको सुखी नहीं देखना चाहती है। चाहकी दाह अधिक होनेसे व काम भोगकी अधिक तृष्णा होनेसे वह स्त्री अपने मनमें तरह तरहकी कुटिलाइयां सोचती है। इन

कषायोंका तीव्र उदय ही उनको इस ध्यानके लिये अयोग्य रखता है जो मोक्षके अनुपम आनन्दका कारण है ॥३३॥

उत्थानिका—और भी उसी हीको दृढ़ करते हैं:—

ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं॥ ३४॥

न विना वर्तते नारी एकं वा तेषु जीवलोके।
न हि संवृतं च गात्रं तस्मात्तासां च संवरणं॥ ३४॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जीवलोयम्हि) इस जीवलोकमें (तेसु एक्कं विणा वा) इन दोषोंमेंसे एक भी दोषके विना (णारी ण वट्टदि) स्त्री नहीं पाई जाती है (ण हि संउडं च गत्तं) न उनका शरीर ही संकोचरूप या दृढ़तारूप होता है (तम्हा) इसीलिये (तासिं च संवरणं) उनको वस्त्रका आवरण उचित है।

विशेषार्थ—इस जीवलोकमें ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है जिसके ऊपर कहे हुए निर्दोष परमात्म ध्यानके घात करनेवाले दोषोंके मध्यमें एक भी दोष न पाया जाता हो। तथा निश्चयसे उनका शरीर भी संव्रत रूप नहीं है इसी हेतुसे उनके वस्त्रका आच्छादन किया जाता है।

भावार्थ—जिनके कषायकी तीव्रता परिणामोंमें होगी उनकी मन, वचन व कायकी चेष्टा भी इन कषायोंके अनुकूल कषाय भावोंको प्रगट करनेवाली होगी, क्योंकि स्त्रियोंके चित्तमें मायाचारी व मोह आदि दोष अवश्य होते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस जगतमें ऐसी एक भी स्त्री नहीं है जिनके यह दोष न हों, इसी ही कारणसे उनका शरीर निश्चल संवर रूप नहीं रहता है—शरीरकी

क्रियाएं कुटिलतासे भरी होती हैं जिनका रुकना जरूरी है। इसलिये वे वस्त्रोंको त्याग नहीं करसक्ती हैं. और विना त्यागे निर्ग्रंथ पद नहीं होसक्ता है जो साक्षात् मुक्तिका कारण है।

उत्थानिका-और भी स्त्रियोंमें ऐसे दोष दिखलाते हैं जो उनके निर्वाण होनेमें बाधक हैं।

चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ॥३५॥
चित्तस्रवः तासां शैथिल्यं आर्तवं च प्रस्खलनं ।
विद्यते सहसा तासु च उत्पादः सूक्ष्ममनुष्याणां ॥३५॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(तासिं) उन स्त्रियोंके (चित्तस्सावो) चित्तमें कामका झलकाव (सित्थिल्लं) शिथिलपना (सहसा अत्तवं च पक्खणं) तथा एकायक ऋतु धर्ममें रक्तका बहना (विज्जदि) मौजूद है (तासु अ सुहममणुआणं उप्पादो) तथा उनके शरीरमें सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है।

विशेषार्थ-उन स्त्रियोंके चित्तमें कामवासना रहित आत्मतत्वके अनुभवको विनाश करनेवाले कामकी तीव्रतासे रागसे गीले परिणाम होते हैं तथा उसी भवसे मुक्तिके योग्य परिणामोंमें चित्तकी दृढ़ता नहीं होती है। वीर्य हीन शिथिलपना होता है इसके सिवाय उनके एकायक प्रत्येक मासमें तीन तीन दिन पर्यंत ऐसा रक्त बहता है जो उनके मनकी शुद्धिका नाश करनेवाला है तथा उनके शरीरमें सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंकी उत्पत्ति हुआ करती है।

भावार्थ-स्त्रियोंके स्त्री वेदका ऐसा ही उदय है कि जिससे उनका मन काम भोगकी तृष्णासे सदा जलता रहता है। ध्यानको

करते हुए उनके परिणामोंमें इतनी चंचलता रहती है कि वे प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानके ध्यानमें जैसी दृढ़ता चाहिये उसको नहीं प्राप्त कर सक्ती हैं । तथा शरीरमें भी ऐसा अस्थिर नाम कर्मका उदय है कि जिससे उनके न चाहनेपर भी शीघ्र ही एकदमसे उनके शरीरमेंसे प्रतिमास तीन दिन तक रक्त बहा करता है । उन दिनों उनका चित्त भी बहुत मलीन होजाता है । इसके सिवाय उनके शरीरमें ऐसी योनियां हैं जहां एक श्वासमें अठारह दफे जन्म मरण करनेवाले अपर्याप्त मनुष्य पैदा होते रहते हैं । ये सब कारण निर्ग्रन्थपदके विरोधी हैं ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उनके शरीरमें किस तरह लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य पैदा होते हैं:—

लिंगं हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकखपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥ ३

लिंगे च स्त्रीणां स्तनान्तरे नाभिकक्षप्रदेशेषु ।
भणितः सूक्ष्मोत्पादः तासां कथं संयमो भवति ॥३६

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(इत्थीणं) स्त्रियोंके (लिंगं हि य थणंतरे णाहिकखपदेसेसु) योनि स्थानमें, स्तनोंके भीतर, नाभिमें व बगलोंके स्थानोंमें (सुहुमुप्पादो) सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति (भणिदो) कही गई है (तासिं संजमो कह होदि) इसलिये उनके संयम किस तरह होसक्ता है ?

विशेषार्थ—यहां कोई यह शंका करे कि क्या ये पूर्वमें कहे हुए दोष पुरुषोंमें नहीं होते ? उसका उत्तर यह है कि ऐसा तो नहीं कहा जा सक्ता कि बिलकुल नहीं होते किन्तु स्त्रियोंके भीतर

वे दोष अधिकतासे होते हैं ? स्त्री पुरुषके अस्तित्व मात्रसे ही समानता नहीं है। पुरुषके यदि दोषरूपी विषकी एक कणिका मात्र है तब स्त्रीके दोषरूपी विष सर्वथा मौजूद है। समानता नहीं है। इसके सिवाय पुरुषोंके पहला वज्रवृषभनाराचसंहनन भी होता है जिसके बलसे सर्व दोषोंका नाश करनेवाला मुक्तिके योग्य विशेष संयम हो सक्ता है।

भावार्थ-इस गाथामें पुरुष व स्त्रीके शरीरमें यह विशेषता बताई है कि स्त्रियोंके योनि, नाभि, कांख व स्तनोंमें सूक्ष्मलब्ध्य-पर्याप्त मनुष्य तथा अन्य जंतु उत्पन्न होते हैं सो बहुत अधिकतासे होते हैं। पुरुषोंके भी सूक्ष्म जंतु मलीन स्थानोंमें होते हैं परन्तु स्त्रियोंकी अपेक्षा बहुत ही कम होते हैं। शरीरमें मलीनता व घोर हिंसा होनेके कारण स्त्रियां नग्न, निर्ग्रन्थ पद धारनेके योग्य नहीं हैं। ऊपरकी गथाओंमें जो दोष सब बताए हैं वे पुरुषोंमें भी कुछ अंशमें होते हैं परन्तु स्त्रियोंके पूर्ण रूपसे होते हैं। इस लिये उनके महाव्रत नहीं होते हैं।

उत्थानिका-आगे और भी निषेध करते हैं कि स्त्रियोंके उसी भवसे मुक्तिमें जानेयोग्य सर्व कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सक्ती है।

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥३७॥

यदि दर्शनेन शुद्धाः सूत्राध्ययनेन चापि संयुक्ता।
घोरं चरति वा चारित्रं स्त्रियः न निर्जरा भणितः ॥३८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि दंसणेण सुद्धा) यद्यपि कोई स्त्री सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हो (सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता) तथा

शास्त्रके ज्ञानसे भी संयुक्त हो (घोरं चरियं चरदि) और घोर चारित्रको भी आचरण करै (इत्थिस्स णिज्जरा ण भणिदा) तौभी स्त्रीके सर्व कर्मकी निर्जरा नहीं कही गई है।

विशेषार्थ-यदि कोई स्त्री शुद्ध सम्यक्तकी धारी हो व ग्यारह अंग मई सूत्रोंके पाठको करनेवाली हो व पक्ष भरका व मास मास भरका उपवास आदि घोर तपस्याको आचरण करनेवाली हो तथापि उसके ऐसी निर्जरा नहीं होसक्ती है, जिससे स्त्री उसी भवमें सर्व कर्मको क्षयकर मोक्ष प्राप्त कर सके। इस कहनेका प्रयोजन यह है कि जैसे स्त्री प्रथम संहनन वज्रवृषभनाराचके न होनेपर सातवें नर्क नहीं जासक्ती तैसे ही वह निर्वाणको भी नहीं प्राप्त कर सक्ती है।

यहां कोई है कि इस गाथाके कहे हुए भावके अनुसार "पुंवेदं वेदंता पुरिसा जे खवगसेडिमारूढ़ा। सेसोदयेणवि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति" (अर्थात् पुरुष वेदको भोगनेवाले पुरुष जो क्षपक श्रेणिपर आरूढ़ होजाते हैं वैसे स्त्री व नपुंसक वेदके उदयमें भी ध्यानमें लीन क्षपक श्रेणिपर जा सिद्ध होजाते हैं) भाव स्त्रियोंको निर्वाण होना क्यों कहा है? इसका समाधान यह है कि भाव स्त्रियोंके प्रथम संहनन होता है, द्रव्य स्त्रीवेद नहीं होता है, न उनके उसी भवमें मोक्षके भावोंको रोकनेवाला तीव्र कामका वेग होता है। द्रव्य स्त्रियोंको प्रथम संहनन नहीं होता है क्योंकि आगममें ऐसा ही कहा है जैसे—

"अंतिमतिगसंघड़णं णियमेण य कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिमतिगसंघडणं णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं।

भावार्थ—कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहनन नियमसे होते हैं तथा आदिके तीन नहीं होते हैं ऐसा जिनेंद्रोंने कहा है।

फिर कोई शंका करता है कि यदि स्त्रियोंको मोक्ष नहीं होती है तो आपके मतमें किस लिये आर्यिकाओंको महाव्रतोंका आरोपण किया गया है? इसका समाधान यह है कि यह मात्र एक उपचार कथन है। कुलकी व्यवस्थाके निमित्त कहा है। जो उपचारकथन है वह साक्षात् नहीं हो सक्ता है। जैसे यह कहना कि यह देवदत्त अग्निके समान क्रूर है इत्यादि। इस दृष्टांतमें अग्निका मात्र दृष्टांत है, देवदत्त साक्षात् अग्नि नहीं। इसी तरह स्त्रियोंके महाव्रतके करीब२ आचरण हैं, महाव्रत नहीं; क्योंकि यह भी कहा है कि मुख्यके अभावके होनेपर प्रयोजन तथा निमित्तके वश उपचार प्रवर्तता है।

यदि स्त्रियोंको तद्भव मोक्ष हो सक्ती हो तो सौ वर्षकी दीक्षाको रखनेवाली आर्यिका आज ही दीक्षा लेनेवाले साधुको क्यों वन्दना करती है? चाहिये तो यह था कि पहले यह नया दीक्षित साधु ही उसको वन्दना करता, सो ऐसा नहीं है। तथा आपके मतमें मल्लि तीर्थंकरको स्त्री कहा है सो भी ठीक नहीं है। तीर्थंकर वे ही होते हैं जो पूर्वभवमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंको भाकरके तीर्थंकर नामकर्म बांधते हैं। सम्यग्दृष्टी जीवके स्त्रीवेद कर्मका बन्ध ही नहीं होता है फिर किस तरह सम्यग्दृष्टी स्त्री पर्यायमें पैदा होगा। तथा यदि ऐसा माना जायगा कि मल्लि तीर्थंकर व अन्य कोई भी स्त्री होकर फिर निर्वाणको गए तो स्त्री रूपकी प्रतिमाकी आराधना क्यों नहीं आप लोग करते हैं? यदि

आप कहोगे कि यदि स्त्रियोंमें पूर्व लिखित दोष होते हैं तो सीता, रुक्ष्मणी, कुन्ती, द्रोपदी, सुभद्रा आदि जिन दीक्षा लेकर विशेष तपश्चरण करके किस तरह सोलहवें स्वर्गमें गई हैं ? उसका समाधान कहते हैं, कि उनके स्वर्ग जानेमें कोई दोष नहीं है। वे उस स्वर्गसे आकर पुरुष होकर मोक्ष जावेंगी, स्त्रियोंको तद्भव मोक्ष नहीं है किन्तु अन्यभवमें उनके आत्माको मोक्ष हो इसमें कोई दोष नहीं है। यहां यह तात्पर्य है कि स्वयं वस्तु स्वरूपको ही समझना चाहिये केवल विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि विवादमें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है जिस कारणसे शुद्धात्माकी भावना नष्ट होजाती है।

भावार्थ–इस गाथाका यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र पालनेपर भी स्त्रियोंके चित्तकी ऐसी दृढ़ता नहीं हो सक्ती है जिससे वे सर्व कर्म नष्टकर तद्भव मोक्ष ले सकें ॥३७॥

उत्थानिका–आगे इस विषयको संकोचते हुए स्त्रियोंकी व्रतोंमें क्या स्थिति है उसे समझाते हैं:—

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥ ३८ ॥

तस्मात्तत्प्रतिरूपं लिंगं तासां जिनैर्निर्दिष्टं ।
कुलरूपवयोभियुक्ताः श्रामण्यः तासां समाचाराः ॥ ३८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(तम्हा) इसलिये (तासिं लिंगं) उन स्त्रियोंका चिन्ह या भेष (तं पडिरूवं) वस्त्र सहित (जिणेहिं णिद्दिट्ठं) जिनेन्द्रोंने कहा है। (कुलरूववओजुत्ता) कुल, रूप, वय करके सहित (तस्समाचारा) जो उनके योग्य आचरण हैं उनको पालनेवाली (समणीओ) आर्जिकाएं होती हैं।

विशेषार्थ–क्योंकि स्त्रियोंको उसी भवसे मोक्ष नहीं होती है इसलिये सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवानने उन आर्जिकाओंका लक्षण या चिन्ह वस्त्र आच्छादन सहित कहा है। उनका कुल लौकिकमें घृणाके योग्य नहीं ऐसा जिनदीक्षा योग्य कुल हो। उनका स्वरूप ऐसा हो कि जो बाहरमें भी विकारसे रहित हो तथा अंतरंगमें भी उनका चित्त निर्विकार व शुद्ध हो तथा उनकी वय या अवस्था ऐसी हो कि शरीरमें जीर्णपना या भंग न हुआ हो, न अति बाल हों, न वृद्ध हों, न बुद्धिरहित मूर्ख हों, आचार शास्त्रमें उनके योग्य जो आचरण कहा गया है उसको पालनेवाली हों ऐसी आर्जिकाएं होनी चाहिये।

भावार्थ–जो स्त्रियां आर्जिका हों उनको एक सफेद सारी पहनना चाहिये यह उनका भेष है, साथमें मोरपिच्छिका व काष्ठका मंडल होता ही है। वे श्रावकके घर बैठकर हाथमें भोजन करती हैं। जो आर्जिका पद धारे उनका लोकमान्य कुल हो, शरीरमें विकारका व मुखपर मनके विकारका झलकाव न हो तथा उनकी अवस्था बालक व वृद्ध न होकर योग्य हो जिससे वे ज्ञानपूर्वक तपस्या कर सकें। ग्यारहवीं श्रावककी प्रतिमामें जो चारित्र ऐलक श्रावकका है वही प्रायः आर्जिकाजीका होता है ॥३८॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो पुरुष दीक्षा लेते हैं। उनकी वर्णव्यवस्था क्या होती है।

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥३९॥

वर्णेषु त्रिषु एकः कल्याणांगः तपःसहः वयसा ।
सुमुखः कुत्सारहितः लिंगग्रहणे भवति योग्यः ॥ ३६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(तीसु वण्णेसु एक्को) तीन वर्णोंमेंसे एक वर्णवाला (कल्लाणंगो) आरोग्य शरीर धारी, (तवोसहो) तपस्याको सहन करनेवाला, (वयसा सुमुहो) अवस्थासे सुंदर मुखवाला तथा (कुंछारहिदो) अपवाद रहित (लिंगगहणे जोग्गो हवदि) पुरुष साधु भेषके लेने योग्य होता है ।

विशेषार्थ-जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्णोंमें एक कोई वर्ण धारी हो, जिसका शरीर निरोग हो, जो तप करनेको समर्थ हो, अतिवृद्ध व अतिबाल न होकर योग्य वय सहित हो ऐसा जिसका मुखका भाग भंग दोष रहित निर्विकार हो तथा वह इस बातका बतलानेवाला हो कि इस साधुके भीतर निर्विकार परम चैतन्य परिणति शुद्ध है तथा जिसका लोकमें दुराचारादिके कारणसे कोई अपवाद न हो ऐसा गुणधारी पुरुष ही जिनदीक्षा ग्रहणके योग्य होता है-तथा यथायोग्य सत् शूद्र आदि भी मुनिदीक्षा ले सक्ते हैं (" यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि " (जयसेन)) ।

भावार्थ-इस गाथामें स्त्री मोक्षके निराकरणके प्रकरणको कहते हुए आचार्य यह बताते हैं कि स्त्रियां तो मुनिलिंग धारण ही नहीं कर सक्ती हैं, किन्तु पुरुष भी जो मुनिभेष धारण करें उनका कुल ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तीनोंमेंसे एक होना चाहिये तथा उसका शरीर स्वास्थ्ययुक्त हो, रोगी न हो, उपवास, ऊनोदर, रसत्याग, कायक्लेश आदि तप करनेमें साहसी हो, अवस्था योग्य हो-न अति बाल हो, न अति वृद्ध हो, मुखके देखनेसे ही विदित

हो कि यह कोई गंभीर महात्मा हैं व आत्माके ध्याता व शुद्ध भावोंके धारी हैं, उनका लोकमें कोई अपवाद न फैला हुआ हो ऐसे महापुरुष ही दीक्षा लेसक्के हैं। टीकाकारने यह भी दिखलाया है कि सत्‌शूद्र भी मुनि हो सक्के हैं। यह बात पंडित आशाधरने अनगार धर्मामृतमें भी कही है " अन्यैर्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रैः स्वदातृगृहात " (चतुर्थ अ० व्याख्या श्लोक १६७)

इसका भाव यह है कि मुनियोंको दान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सत्‌शूद्र अपने घरसे दे सक्के हैं।

इसका भाव यही झलकता है कि जब वे दान दे सक्के हैं तो वे दान लेने योग्य मुनि भी होसक्के हैं।

मूल गाथा व श्लोक नहीं प्राप्त हुआ तथा यह स्पष्ट नहीं हुआ कि सत्‌शूद्र किसको कहते हैं। पाठकगण इसकी खोज करें।

उत्थानिका—आगे निश्चय नयका अभिप्राय कहते हैं—

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो॥ ४०॥

यो रत्नत्रयनाशः स भंगो जिनवरैः निर्दिष्टः।
शेषभंगेन पुनः न भवति सल्लेखनार्हः॥ ४०॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो रयणत्तयणासो) जो रत्नत्रयका नाश है (सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो) उसको जिनेन्द्रोंने व्रतभंग कहा है (पुणो सेसं भंगेण) तथा शरीरके भंग होनेपर पुरुष (सल्लेहणा अरिहो ण होदि) साधुके समाधिमरणके योग्य नहीं होता है।

विशेषार्थ—विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्वका

सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्ररूप जो कोई आत्माका निश्चय स्वभाव है उसका नाश सो ही निश्चयसे भंग है ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है। तथा शरीरके अंगके भंग होनेपर अर्थात् मस्तक भंग, अंडकोष या लिंग भंग (वृषणभंग) वात पीड़ित आदि शरीरकी अवस्था होनेपर कोई समाधिमरणके योग्य नहीं होता है अर्थात लौकिकमें निरादरके भयसे निर्ग्रंथ भेषके योग्य नहीं होता है। यदि कोपीन मात्र भी ग्रहण करे तो साधुपदकी भावना करनेके योग्य होता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि साधु पदके योग्य वही होसक्ता है जो निश्चय रत्नत्रयका आराधन कर सक्ता है। यह तो अंतरङ्गकी योग्यता है। बाहरकी योग्यता यह है कि उसका शरीर सुन्दर व स्वास्थ्ययुक्त व पुरुषपनेके योग्य हो। उसके मस्तकमें कोई भंग, लिंगमें भंग आदि न हो, मृगी या बात रोगसे पीड़ित न हो। इससे यह दिखला दिया है कि मुनिका निर्ग्रन्थपद न स्त्री लेसक्ती है न नपुंसक लेसक्ता है। पुरुषको ही लेना योग्य है। जो पुरुष अपने शरीरमें योग्य हो व अपने भावोंमें रत्नत्रय धर्मको पाल सक्ता हो।

यहां ऊपर कही ग्यारह गाथाओंमें—जो श्री अमृतचंद्र आचार्य कृत वृत्तिमें नहीं हैं—यह बात अच्छी तरह सिद्ध की है कि स्त्री निर्ग्रन्थपद नहीं धारण कर सक्ती है इसीसे सर्व कर्मोंके दग्ध करने योग्य ध्यान नहीं कर सकनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं कर सक्ती है। स्त्रियोंमें नीचे लिखे कारणोंसे वस्त्रत्याग निषेधा है।

(१) स्त्रियोंके भीतर पुरुषोंकी अपेक्षा प्रमादकी अधिकता

है। आहार, मैथुन, चीर, राज इन चार विकथाओंके भीतर अधिक रंजायमान होकर परिणमनेकी सुगमता तथा आत्मध्यानमें जमे रहनेकी शिथिलता है।

(२) स्त्रियोंमें अधिक मोह, ईर्षा, द्वेष, भय, ग्लानि व नाना प्रकार कपटजाल होता है। चित्त उनका मलीनतामें पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक लीन होता है।

(३) स्त्रियोंका शरीर संकोचरूप न होकर चंचल होता है। उनके मुख, नेत्र, स्तन आदि अंगोंमें सदा ही चंचलता व हावभाव भरा होता है जिससे सौम्यपना जैसा मुनिके चाहिये नहीं आसक्ता है।

(४) स्त्रियोंके भीतर काम भावसे चित्तका गीलापना होता है व चित्तकी स्थिरताकी कमी होती है।

(५) प्रत्येक मासमें तीन दिन तक उनके शरीरसे रक्त वहता है जो चित्तको बहुत ही मैला कर देता है।

(६) उनकी योनि, उनके स्तन, नाभि, कांखमें लब्ध्यपर्याप्तक संमूर्छन मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है तथा मरण होता है इससे बहुत ही अशुद्धता रहती है।

(७) स्त्रियोंके तीन अन्तके ही संहनन होते हैं जिनसे वह मुक्ति नहीं प्राप्तकर सक्ती। १६ स्वर्गसे ऊपर तथा छठे नर्कके नीचे स्त्रीका गमन नहीं होसक्ता है—न वह सातवें नर्क जासक्ती न ग्रैवेयक आदिमें जासक्ती है। श्वेतांबर लोग स्त्रियों मोक्षकी कल्पना करते हैं सो बात उनहीके शास्त्रोंसे विरोध रूप भासती है कुछ श्वेतांबरी शास्त्रोंकी बातें—

सप्ततिका नामा छठा कर्म ग्रन्थ पत्र ९९१ में लिखा है कि स्त्रीको चौदहवां पूर्व पढ़नेका निषेध है–सूत्रमें कहा है:—

तुच्छागारववहुला चलिंदिआ दुव्वला अधीइए।
इय अवसेसज्झयणा भू अऊडा अनोच्छीणं ॥ १ ॥

भावार्थ–भूतवाद अर्थात् दृष्टिवाद नामका बारहवां अंग स्त्रीको नहीं पढ़ना चाहिये क्योंकि स्त्री जाति स्वभावसे तुच्छ (हलकी) होती है, गर्व अधिक करती है, विद्या झेल नहीं सक्ती, इंद्रियोंकी चंचलता स्त्रियोंमें विशेष होती है स्त्रीकी बुद्धि दुर्वल होती है।

प्रवचनसारोद्धार–प्रकरण रत्नाकर भाग तीसरा (छपा सं० १९६४ भीमसेन माणकजी बम्बई) पन्ने ५४४–४५ में है कि स्त्रियोंको नीचे लिखी बातें नहीं होसक्ती हैं—

अरहंत चक्कि केसव वल संभिन्नेय चारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारगं च न हु भविय महिलाणं ॥५४०॥

भावार्थ–अरहंत, चक्री, नारायण, बलदेव, संभिन्नश्रोत, विद्याचारणादि, पूर्वका ज्ञान, गणधर, पुलाकपना, आहारक शरीर–ये दश लब्धियें भव्य स्त्रीके नहीं होती हैं। (यहां अरहंतसे तीर्थंकरपनेका प्रयोजन है ऐसा मालूम पड़ता है। सम्पादक) तथा जो श्री मल्लिनाथको स्त्रीपनेमें तीर्थंकरपना प्राप्त हुआ सो इसकाल अछेहरा जानना अर्थात् यह एक विशेष बात हुई। प्रकरण रत्नाकर ४ था भागके षड़शीति नामा चतुर्थ कर्मग्रंथ पत्र ३९८—

चौथे गुणस्थानमें स्त्रीवेदके उदय होते हुए औदारिक मिश्र विक्रियिक मिश्र, कार्मण ये तीन योग प्रायः नहीं होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी स्त्री पर्यायमें नहीं उपजता यही भाव है (सम्पादक), परंतु प्रायः शब्दका यह खुलाशा पन्ने ९९१में है कि स्त्री व नपुंसक वेदके आठ आठ भंग (नियम विरुद्ध बातें) प्रत्येक चौवीसीमें समझना। इसलिये ब्राह्मी, सुन्दरी, मल्लिनाथ, राजीमती प्रमुख सम्यग्दृष्टी होकर यहां उपजे।

इस तरह कथनसे यह बात साफ प्रगट होती है कि जब तीर्थंकर, चक्रवर्तीपद व दृष्टिवाद पूर्वका ज्ञान स्त्रीको शक्तिहीनता व दोषकी प्रचुरताके कारण नहीं हो सक्ता है तब मोक्ष कैसे हो सक्ती है? यहां श्री कुंदकुंदाचार्यका यह अभिप्राय है कि पुरुष ही निर्ग्रंथ–दिगम्बर पद धारणकर सक्ता है इसलिये वही तद्भव मोक्षका पात्र है। स्त्रियोंके तद्भव मोक्ष नहीं होसक्ती है। वे उत्कृष्ट श्रावकका व्रत रखकर आर्यिकाकी वृत्ति पाल सक्ती हैं और इस वृत्तिसे स्त्री लिंग छेद सोलहवें स्वर्गतकमें देवपद प्राप्तकर सक्ती हैं, फिर पुरुष हो मुक्ति लाभ कर सक्ती हैं।

श्री मूलाचारके समाचार अधिकारमें आर्यिकाओंके चारित्रकी कुछ गाथाएं ये हैं:—

अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ ॥१९०॥
अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्धसंचारे।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥१९१॥
ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्स गमणिज्जे।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज ॥ १९२ ॥
रोदणण्हाणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खणधोवण गेयं च ण य कुज्जा ॥१९३॥

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ॥ १६४ ॥
पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य ।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ॥ १६५ ॥

भावार्थ—आर्जिकाओंका वेष विकार रहित व वस्त्र भी विकार रहित श्वेत होता है-वे लाल पीले रंगीन वस्त्र नहीं पहनती हैं एक सफेद सारी रखती हैं—शरीरमें पसीना व कहीं कुछ मैलपन हो तो उसको न धोकर शृंगार रहित शरीर धारें। अपने धर्म, कुल, कीर्ति व दीक्षाके अनुकूल शुद्ध चारित्र पालें। आर्जिकाएं दूसरे गृहस्थके घरमें व किसी साधुके स्थानमें विना प्रयोजन न जावें। भिक्षा व प्रतिक्रमण आदिके लिये अवश्य जाने योग्य कार्यमें अपनी गुरानीको पुछकर दूसरोंके साथ मिलकर ही जावें—अकेली न जावें।

रोना, बालकोंको न्हलाना, भोजन पकाना व बालकोंको भोजन कराना, सीमना परोना, असि मसि कृषि वाणिज्य शिल्प-विद्या आदिके आरंभ, साधुओंके चरण धोना, मलना, राग गाना आदि कार्य नहीं करैं। तीन वा पांच वा सात आर्जिकाएं वृद्धा आर्यिकाओंको बीचमें देकर एक दूसरेकी रक्षा करती हुई भिक्षाके लिये सदा गमन करैं।

पांच, छः सात हाथ क्रमसे दूर रहकरके आर्यिकाएं आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको गवासनसे वन्दना करैं। जिस तरह गौ बैठती है इस तरह बैठें ॥ ४० ॥

इस प्रकार स्त्री निर्वाण निराकरणके व्याख्यानकी मुख्यतासे ग्यारह गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे पूर्वमें कहे हुए उपकरणरूप अपवाद व्याख्यानका विशेष वर्णन करते हैं।

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं ॥ ४१ ॥
उपकरणं जिनमार्गे लिङ्गं यथाजातरूपमिति भणितम्।
गुरुवचनमपि च विनयः सूत्राध्ययनं च प्रज्ञप्तम् ॥ ४१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जिणमग्गे) जिनधर्ममें (उवयरणं) उपकरण (जहजादरूवम् लिंगं इदि भणिदं) यथाजातरूप नग्न भेष कहा है (गुरुवयणं पि य) तथा गुरुसे धर्मोपदेश सुनना (विणओ) गुरुओं आदिकी विनय करना (सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं) तथा शास्त्रोंका पढ़ना भी उपकरण कहा गया है।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए मार्गमें शुद्धोपयोग रूप मुनिपदके उपकारी उपकरण इस भांति कहे गए हैं (१) व्यवहारनयसे सर्व परिग्रहसे रहित शरीरके आकार पुद्गल पिंडरूप द्रव्यलिंग तथा निश्चयसे भीतर मनके शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्माका स्वरूप (२) विकार रहित परम चैतन्य ज्योति स्वरूप परमात्मतत्त्वके बतानेवाले सार और सिद्ध अवस्थाके उपदेशक गुरुके वचन (३) आदि मध्य अन्तसे रहित व जन्म जरा मरणसे रहित निज आत्मद्रव्यके प्रकाश करनेवाले सूत्रोंका पढ़ना परमागमका बांचना (४) अपने ही निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धि सो निश्चय विनय और उसके आधाररूप पुरुषोंमें भक्तिका परिणाम सो व्यवहार विनय दोनों ही प्रकारके विनय परिणाम ऐसे चार उपकरण कहे गए हैं ये ही वास्तवमें उपकारी हैं। अन्य कोई कमंडलादि व्यवहारमें व उपचारमें उपकरण हैं।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने इस बातका विशेष विस्तार किया है कि अपवाद मार्ग क्या है ? वास्तवमें उत्सर्ग भाव मुनि लिंग है अर्थात् परम साम्यभाव या शुद्धोपयोग है या स्वानुभव है। जहांपर न मनसे विचार है न वचनसे कुछ कहना है न कायकी कुछ क्रिया है, यही मुनिका वह सामायिक चारित्र है जो कर्मकी निर्जराका कारण है। परन्तु उत्सर्ग मार्गमें अभ्यासी साधुका उपयोग बहुत देरतक स्थिर नहीं होसक्ता है इसलिये उसको अपवाद मार्गमें उन उपकरणोंका सहारा लेना पड़ता है जो उनके सामायिक भावमें सहकारी हों। विरोधी न हों। यहां ऐसे चार उपकरणोंका वर्णन किया है। (१) परिग्रह व आरंभ रहित निर्विकार शरीरका होना। यह नग्न भेष उदासीन भावका परम प्रबल निमित्त है। परिग्रह सहित भेष ममत्वका कारण है इससे साम्यभावका उपकरण नहीं होसक्ता (२) आचार्य, व उपाध्याय द्वारा धर्मोपदेशका सुनना व उनकी संगति करना यह भी परिणामोंको रागद्वेषसे हटानेवाला तथा स्वरूपाचरण चारित्रमें स्थिर करानेवाला है (३) विनय–तीर्थंकरोंकी भक्ति, वन्दना व गुरुओंकी विनय करना-यथायोग्य शास्त्रोक्त विधिसे सत्कार करना। गुरु व देवकी भक्ति व विनय शुद्धोपयोगके लाभमें कारण है। (४) जिनवाणीका अभ्यास करना, यह भी अंतरंग शुद्धिका परम कारण है। व्यवहार नयसे परिग्रह त्याग, देवगुरु भक्ति, गुरुसे उपदेश लेना व शास्त्रको मनन करना ये चार कारण परम सामायिक भावके परमोपकारी हैं। इनको अपवाद इसलिये कहा है कि इन कार्योंमें प्रवर्तन करनेसे धर्मानुराग होता है जो पुण्य बंधका कारण है। पुण्यबंध मोक्षका निरोधक है

कारण नहीं होसक्ता इसलिये पुण्यबंधके कारणोंका सहारा लेना अपवाद या जघन्य मार्ग है। वृत्तिकारने अपने मनमें परमात्माके स्वरूपका चिंतवन करना तथा निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धिकी भावना जो मनसे की जाती है उनको भी उपकरण कहा है सो ठीक नहीं है क्योंकि भावना व विचार विकल्प रूप हैं-साक्षात वीतराग भावरूप नहीं हैं-इसलिये ये भी अपवाद मार्गके उपकरण हैं।

तात्पर्य्य आचार्यका यह है कि इन सहायकोंको साक्षात् मुनिका भावलिंग न समझ लेना किन्तु अपवाद रूप उपकरण समझना जिससे ऐसा न हो कि उपकरणोंकी ही सेवामें मग्न होजावे और अपने निजपदको भूल जावे। मुनिपद वास्तवमें शुद्ध चैतन्य भाव है। वही उपादेय है। उसकी प्राप्तिके लिये इनका आलम्बन लेना हानिकर नहीं है, किन्तु नीचे पतनसे बचानेको और ऊपर चढ़नेको सहायक है। निश्चयसे भावकी शुद्धता ही मोक्षका कारण है जैसा श्री कुंदकुंद महाराजने स्वयं भावपाहुडमें कहा है-

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चैव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं॥६०॥
जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं॥६१॥

भावार्थ-हे मुनिगण हो जो चार गति रूप संसारसे छूटकर शीघ्र शाश्वता सुख रूप मोक्ष चाहते हो तो भावोंकी शुद्धिके लिये अनन्त विशुद्ध अपने निर्मल आत्माको ध्याओ। जो जीव निज स्वभाव सहित होकर अपने ही आत्माके स्वभावकी भावना करता है सो जरा मरणका नाश करके शीघ्र निर्वाणको पाता है।

श्री अमितिगति आचार्यने बड़े सामायिक पाठमें कहा है—

संघस्तस्य न साधनं न गुरवो नो लोकपूजापरा ।
नो योग्यैस्तृणकाष्ठशैलधरणीपृष्ठे कृतः संस्तरः ॥
कर्त्तात्मैव विबुद्ध्यतामयमलस्तस्यात्मतत्त्वस्थिरो ।
जानानो जलदुग्धयोरिव भिदां देहात्मनोः सर्वदा ॥३७॥

भावार्थ—न तो संघ साधुके लिये मुक्तिका साधन है, न गुरु कारण हैं न लोगोंसे पुजावाना कारण है न योग्य पुरुषोंके द्वारा काठ, पाषाण या पृथ्वी तलपर किया हुआ संथारा साधन है। जो जल दूधके समान शरीर और आत्माको भिन्न २ जानता हुआ आत्मतत्वमें स्थिर होता है वही अकेला आत्मा मुक्तिका साधन करनेवाला होता है ऐसा जानो ॥ ४१ ॥

उत्थानिका—आगे योग्य आहार विहारको करते हुए तपोधनका स्वरूप कहते हैं—

इहलोग णिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥ ४२ ॥

इह लोके निरापेक्ष अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके ।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमणः ॥ ४२ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(इहलोग णिरावेक्खो) जो इस लोककी इच्छासे रहित है, (परम्मि लोयम्मि अप्पडिबद्धो) परलोक सम्बन्धी अभिलाषासे रहित है, (रहिदकसाओ) व क्रोधादि कषायोंसे रहित है ऐसा (समणो) साधु (जुत्ताहारविहारो) योग्य आहारविहार करनेवाला होता है।

विशेषार्थ—जो साधु टांकीके उकेरेके समान अमिट ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप निज आत्माके अनुभवके नाश करनेवाली

इस लोकमें प्रसिद्धि, पूजा व लाभरूप अभिलाषाओंसे शून्य है, परलोकमें तपश्चरण करनेसे देवपद व उसके साथ स्त्री, देव परिवार व भोग प्राप्त होते हैं ऐसी इच्छासे रहित है, तथा कषाय रहित आत्मस्वरूपके अनुभवकी थिरताके बलसे कषायरहित वीतरागी है वही योग्य आहार व विहारको करता है। यहां यह भाव है कि जो साधु इसलोक व परलोककी इच्छा छोड़कर व क्रोध लोभादिके वश न होकर इस शरीरको प्रदीपसमान जानता है तथा इस शरीर दीपकके लिये आवश्यक तैलरूप ग्रासमात्रको देता है जिससे शरीररूपी दीपक बुझ न जावे। तथा जैसे दीपकसे घटपट आदि पदार्थोंको देखते हैं वैसे इस शरीररूपी दीपककी सहायतासे वह साधु अपने परमात्म पदार्थको ही देखता या अनुभव करता है वही साधु योग्य आहार विहार करनेवाला होता है परन्तु जो शरीरको पुष्ट करनेके निमित्त भोजन करता है वह युक्ताहार विहारी नहीं है।

भावार्थ—यहां पर आचार्यने जो चार उपकरण अपवाद मार्गमें बताए थे उनमेंसे प्रथम उपकरण जो शरीर है उसकी रक्षाका विधान बताया है। कि साधु मात्र शरीरको भाड़ा देते हैं कि यह स्वास्थ्ययुक्त बना रहे जिससे हम इसकी सहायतासे ध्यान स्वाध्याय करके मोक्षमार्गका साधन कर सकें। जैसे किसीको रात्रिके समय शास्त्र पढ़ना है सहायताके लिये दीपक जलाता है। दीपक जलनेके लिये दीपकमें तेल पहुंचाता रहता है, क्योंकि दीपक तेल विना जल नहीं सक्ता है और अपने शास्त्र पढ़नेके कार्यको साधन करता है। तैसे साधु महात्मा मोक्षकी सिद्धिके लिये संयम पालते हैं। संयमका साधक नर देह है। विना नर

देहके मुनि–योग्य संयम देवादि देहधारी नहीं पाल सके हैं।

इस नर देहकी स्थिरता साधुपदमें विना भोजन दिये नहीं रह सक्ती है इसलिये साधु भोजन करते हैं अथवा भोजनके निमित्त विहार करते हैं। वे जिह्वाके स्वादके लिये व शरीरको बलिष्ट बनानेके लिये भोजन नहीं करते हैं और वे इसी लिये भोजनमें रागी नहीं हैं। विराग भावसे जो शुद्ध भोजन गृहस्थ श्रावकने अपने कुटुम्बके लिये बनाया होता है उसीमेंसे जो मिल जावे उस लेते हैं, नीरस सरसका विकल्प नहीं करते हैं। जैसे गाय चारा चरती हुई कुछ भी और विकल्प नहीं करती वैसे साधु भोजन करते हैं। जैसे गड्ढेको भरना जरूरी है वैसे साधु शरीररूपी गड्ढेको खाली होनेपर भर लेते हैं। ऐसे साधु परम वैरागी होते हैं, क्रोधादि कषायके त्यागी होते हैं, न उनको इस लोकमें नामकी चाह, पूजाकी चाह व किसी लाभकी चाह होती है, न परलोकमें वे स्वर्गादिके सुख चाहते हैं, क्योंकि वे सम्यग्दृष्टी साधु कांक्षा व निदानके दोषसे रहित हैं। उनको एक आत्मानंदकी ही भावना है उसीके वे रसिक हैं। इसीलिये मुनिपद द्वारा शुद्धात्मानुभव करते रहकर सुख शांतिका भोग करते हैं तथा परलोकमें बंध रहित अवस्थाके ही यत्नमें लीन रहते हैं। उनका आहार विहार बहुत योग्य होता है वे आहारमें भी ऊनोदर करते हैं जिससे आलस्य व निद्राको जीत सकें। कहा है:—

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मंपि चरंति मोक्खट्ठं ॥ ८१५ ॥
सीदलमसीदलं वा सुक्कं लुक्खं सुणिद्ध सुद्धं वा ।
लोणिदमलोणिदं वा भुजंति मुणी अणासादं ॥ ८१४ ॥

लद्धे ण होंति तुट्ठा ण वि य अलेद्धूण दुम्मणा होंति।
दुक्खे सुहेसु मुणिणो मज्झत्थमणाकुला होंति ॥ ८१६ ॥
णवि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं णवि य किंचि जायंते।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ॥ ८१७ ॥

भावार्थ-जैसे गाड़ीका पहिया लेपके विना नहीं चलता है वैसे यह शरीर भी भोजन विना नहीं चल सक्ता है ऐसा विचार मुनिगण प्राणोंकी रक्षाके निमित्त कुछ भोजन करते हैं। प्राणोंकी रक्षा धर्मके निमित्त करते हैं तथा धर्मको मोक्षके लिये आचरण करते हैं। वे मुनि स्वादकी इच्छा किये विना ढंडा, गरम, रूखा, सूखा, चिकना, नमकीन व विना निमकका जो शुद्ध भोजन मिले उसे करलेते हैं। भोजन मिलनेपर राजी नहीं होते, न मिलनेसे खेद नहीं मानते हैं। मुनिगण दुःख या सुखमें समानभाव रखते हुए आकुलता रहित रहते हैं। वे भोजनके लिये किसीकी स्तुति नहीं करते न याचना करते हैं-विना मुंहसे कहे मौनव्रतसे मुनिगण भिक्षाके लिये जाते हैं ॥ ४२ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि पंद्रह प्रमाद हैं इनसे साधु प्रमादी हो सक्ता है।

कोहादिएहि चउविहि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥ ४३ ॥

क्रोधादिभिः चतुर्भिरपि विकथाभिः तथेन्द्रियाणामर्थैः।
श्रमणो भवति प्रमत्तो उपयुक्तः स्नेहनिद्राभ्याम् ॥ ४३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(चउविहि कोहादिएहि विकहाहिं) चार प्रकार क्रोधसे व चार प्रकार विकथा-स्त्री, भोजन, चोर, राजा कथासे (तहिंदियाणमत्थेहिं) तथा पांच इंद्रियोंके विषयोंसे

(णेहणिद्दाहिं उवजुत्तो) स्नेह व निद्रासे उपयुक्त होकर (समणो) साधु (पमत्तो हवदि) प्रमादी हो सक्ता है ।

विशेषार्थ–सुखदुःख आदिमें समान चित्त रखनेवाला साधु क्रोधादि पंद्रह प्रमादसे रहित चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्वकी भावनासे गिरा हुआ पन्द्रह प्रकार प्रमादोंके कारण प्रमादी हो जाता है ।

भावार्थ–प्रमाद पन्द्रह होते हैं–चार कषाय–क्रोध, मान, माया, लोभ । चार विकथा–स्त्री, भोजन, चोर, राजकथा । पांच इंद्रिय स्पर्शनादि, स्नेह और निद्रा। इनके अस्सी भंग होते हैं। ४×४×५×१×१=८० । अर्थात् एक प्रमाद भावमें १ कषाय, १ विकथा, १ इंद्रिय तथा स्नेह और निद्रा पांचका संयोग होगा । जैसे लोभ कषायवश स्त्री कथानुरागी हो स्पर्शेंद्रिय भोगमें स्नेहवान तथा निद्रालु हो जाना–यह एक भंग हुआ । इसी तरह लोभ कषायवश स्त्रीकथानुरागी हो, रसनेंद्रिय भोगमें स्नेहवान तथा निद्रालु होजाना यह दूसरा भंग हुआ । इसी तरह ८० भेद बन जांयगे । जब कभी इनमेंसे कोई भंग भावोंमें हो जाता तब मुनि प्रमत्त कहलाता है । प्रायः मुनिगण इस तरह ध्यान स्वाध्यायमें लीन रहते हैं कि इन प्रमादोंमेंसे एकको भी नहीं होने देते, परन्तु तीव्र कर्मोंके उदयसे जब कभी प्रमादरूप भाव हो जावें तब ही साधु अप्रमादी होनेकी चेष्टा करते तथा उस प्रमादके कारण अपने चित्तमें पश्चाताप करते हैं ॥ ४३ ॥

उत्थानिका–आगे यह उपदेश करते हैं कि जो साधु योग्य आहारविहार करते हैं उनका क्या स्वरूप है ?

जस्स अणेसणमप्पा तंपि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥ ४४ ॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तपः तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहाराः ॥ ४४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जस्स) जिस साधुका (अप्पा) आत्मा (अणेसणम्) भोजनकी इच्छासे रहित है (तंपि तओ) सो ही तप है (तप्पडिच्छगा) उस तपको चाहने वाले (समणा) मुनि (अणेसणम् अण्णम् भिक्खं) एषणादोष रहितं निर्दोष अन्नकी भिक्षाको लेते हैं (अध ते समणा अणाहारा) तौ भी वे साधु आहार लेनेवाले नहीं हैं।

विशेषार्थ-जिस मुनिकी आत्मामें अपने ही शुद्ध आत्मीक तत्वकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतके भोजनसे तृप्ति होरही है वह मुनि लौकिक भोजनकी इच्छा नहीं करता है। यही उस साधुका निश्चयसे आहार रहित आत्माकी भावनारूप उपवास नामका तप है। इसी निश्चय उपवासरूपी तपकी इच्छा करनेवाले साधु अपने परमात्मतत्वसे भिन्न त्यागने योग्य अन्य अन्नकी निर्दोष भिक्षाको लेते हैं तौ भी वे अनशन आदि गुणोंसे भूषित साधुगण आहारको ग्रहण करते हुए भी अनाहार होते हैं। तैसे ही जो साधु क्रिया रहित परमात्माकी भावना करते हैं वे पांच समितियोंको पालते हुए विहार करते हैं तौ भी वे विहार नहीं करते हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने मुनियोंकी आहार व विहारकी प्रवृत्तिका आदर्श बताया है। वास्तवमें शारीरिक क्रियाका कर्ता कर्ता

नहीं होता किन्तु शारीरिक क्रिया करे व न करे उस क्रियाके कर-नेका संकल्प करनेवाला कर्ता होता है। इसी सिद्धांतको ध्यानमें रखते हुए अचार्य कहते हैं कि जैन साधुओंको न जिह्वाइंद्रियके स्वाद-वश न शरीरको पुष्ट करनेके वश भोजनकी इच्छा होती है, न नगर बनादिकी सैर करनेके हेतुसे उनका विहार होता है। वे इंद्रियोंकी इच्छाओंको विलकुल छोड चुके हैं इसी लिये उनके सदा ही अनशन अर्थात् उपवासरूपी तप है- क्योंकि चार प्रकारके भोजनकी इच्छा न करना ही अनशन तप है। इसी ही तपकी पुष्टिका साधुगण सदा उद्यम रखते है, क्योंकि शरीर द्वारा ध्यान होता है। इस लिये शरीरको बनाए रखनेके हेतुसे वे निर्दोष भोजन भिक्षावृत्तिसे जो श्रावकने दिया उसे विना स्वादके रागके लेलेते हैं तथा ममत्व भाव हटानेके लिये वे एक स्थानपर न ठहरकर विहार करते रहते हैं। इसी हेतुसे ऐसे निस्पृही साधु अहारविहार करते हुए भी न आहार करनेवाले न विहार करनेवाले निश्चयसे होते हैं। वे निरं-तर निज आत्मीक रसके आस्वादी व निज आत्माकी शुद्ध भूमि-कामें विहार करनेवाले होते हैं। ऐसे साधु किस तरह धर्मक्रियाके सिवाय अन्य क्रियाओंको नहीं चाहते हैं उसका स्वरूप यह है:—

जिणवयणमोहसमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जरमरणवाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ ८४१ ॥
जिणवयणणिच्छदमदी अवि मरणं अब्भुवेंति सप्पुरिसा ।
ण य इच्छंति अकिरियं जिणवयण वदिक्कमं कादुं ॥७६॥

भावार्थ—साधुगण जिनवाणीरूपी औषधिको सदा सेवते हैं जो विषयोंके सुखोंकी इच्छाको हरनेवाली है, अमृतमई है, जरा

करानेवाला थोड़ासा कर्मबन्ध हो तो लाभ अधिक है ऐसा जानकर अपवादकी अपेक्षा सहित उत्सर्ग मार्गको स्वीकार करता है। तैसे ही पूर्व सूत्रमें कहे क्रमसे कोई अपहृत संयम शब्दसे कहने योग्य अपवाद मार्गमें प्रवर्तता है वहां वर्तन करता हुआ यदि किसी कारणसे औषधि, पथ्य आदिके लेनेमें कुछ कर्मबन्ध होगा ऐसा भय करके रोगका उपाय न करके शुद्ध आत्माकी भावनाको नहीं करता है तो उसके महान कर्मका बंध होता है अथवा व्याधिके उपायमें प्रवर्तता हुआ भी हरीतकी अर्थात हड़के बहाने गुड़ खानेके समान इंद्रियोंके सुखमें लम्पटी होकर संयमकी विराधना करता है तौ भी महान कर्मबन्ध होता है। इसलिये साधु उत्सर्गकी अपेक्षा न करके अपवाद मार्गको त्याग करके शुद्धात्माकी भावनारूप व शुभोपयोगरूप संयमकी विराधना न करता हुआ औषधि पथ्य आदिके निमित्त अल्प कर्मबन्ध होते हुए भी बहुत गुणोंसे पूर्ण उत्सर्गकी अपेक्षा सहित अपवादको स्वीकार करता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथाका यह अर्थ है कि साधुको एकांतसे हठग्राही न होना चाहिये। उत्सर्ग मार्ग अर्थात् निश्चयमार्ग तथा अपवादमार्ग अर्थात् व्यवहारमार्ग इन दोनोंसे यथावसर काम लेना चाहिये। जबतक शुद्धोपयोगमें ठहरा जावे तबतक तो उत्सर्ग मार्गमें ही लीन रहे परन्तु जब उसमें उपयोग न लग सके तो उसको व्यवहारचारित्रका सहारा लेकर जिसमें फिर शीघ्रही शुद्धोपयोगमें चढ़ना हो जावे ऐसी भावना करके कुछ शरीरकी थकनको मेटे–उसका वैय्यावृत्य करे, भोजनपानके निमित्त नगरमें जावे, शुद्ध

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(समणो) साधु (केवलदेहो) केवल मात्र शरीरधारी हैं-(देहे वि ममेत्ति रहिदपरिकम्मो) देहमें भी ममता रहित क्रिया करनेवाले हैं। इससे उन्होंने (अप्पणो सत्तिं) अपनी शक्तिको (अणिगूहं) न छिपाकर (तवसा) तपसे (तं) उस शरीरको (आउत्तो) योजित किया है अर्थात् तपमें अपने तनको लगा दिया है।

विशेषार्थ-निन्दा, प्रशंसा आदिमें समान चित्तके धारी साधु अन्य परिग्रहको त्यागकर केवल मात्र शरीरके धारी हैं तौ भी क्या वे देहमें ममता करेंगे, कभी नहीं-वे देहमें भी ममता रहित होकर देहकी क्रिया करते हैं। साधुओंकी यह भावना रहती है जैसा इस गाथामें है।

" ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिं उवट्ठिदो।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥"

मैं ममताको त्यागता हूं निर्ममत्व भावमे ठहरता हूं, मेरेको अपना आत्मा ही आलम्बन है और सर्वको मैं त्यागता हूं। शरीरसे ममता न रखते हुए वे साधु अपने आत्मवीर्यको न छिपाकर इस नाशवंत शरीरको तपसाधनमें लगा देते हैं। यहां वह कहा गया है कि जो कोई देहके सिवाय सर्व वस्त्रादि परिग्रहका त्यागकर शरीरमें भी ममत्त्व नहीं रखता है तथा देहको तपमें लगाता है वही नियमसे युक्ताहार विहार करनेवाला है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने मुनिमहाराजकी निस्पृहताको और भी स्पष्ट कर दिया है। वे परम वीतरागी साधु निरन्तर आत्मरसके पीनेवाले अध्यात्मबागमें ही नित्य रमण करते हैं। वे

इस कर्म शरीरको—जिसमें आत्मा कैद है और मुक्तिधामको नहीं जासक्ता—निरन्तर जलानेकी फिक्रमें हैं, इसलिये वे धीरवीर इस कर्म निमित्तसे प्राप्त स्थूल शरीरमें किस तरह मोह कर सक्ते हैं। जो वस्त्राभूषणादि यहां ग्रहण कर लिये थे उनका तो त्याग ही कर दिया क्योंकि वे हटाए जा सक्ते थे, परन्तु शरीरका त्यागना अपने संयम पालनेसे वंचित हो जाना है। यह विचार करके कि यह शरीर यद्यपि त्यागने योग्य है तथापि जबतक मुक्ति न पहुंचे धर्मध्यान शुक्लध्यान करनेके लिये यही आधार है। इस शरीरसे ममता न करते हुए इसकी उसी तरह रक्षा करते हैं जिस तरह किसी सेवकको काम लेनेके लिये रक्खा जावे और उसकी रक्षा की जावे, अतएव आहार विहारमें उसको लगाकर शरीरको स्वास्थ्ययुक्त रखते हैं कि यह शरीर तप करानेमें आलसी न हो जावे। अपनी शक्ति जहां तक होती है वहां तक शक्तिको लगाकर व किसी तरह शक्तिको न छिपाकर वे साधु महात्मा बारह प्रकार तपका साधन करते हुए कर्मकी निर्जरा करते हैं। उन साधुओंको जरा भी यह ममत्व नहीं है कि इस शरीरसे इंद्रियोंके भोग करूं व इसे बलिष्ट बनाऊं—शास्त्रोक्त विधानसे ही वे आहार विहार करते हुए शरीरकी स्थिति रखते हुए परम तपका साधन करते हैं, इसलिये वे श्रमण भोजन करते हुए भी नहीं करनेवाले हैं। उनकी दशा उस शोकाकुलके समान है जो किसीके वियोगका ध्यान कर रहे हों, जिनकी रुचि भोजनके स्वादसे हट गई हो फिर भी शरीर न छूट जाय इसलिये कुछ भोजन कर लेते हों। साधुगण निरंतर आत्मानंदमें मग्न रहते

मात्र शरीररूपी गाड़ीको चलानेके लिये उसके पहियोंमें तेलके समान भोजनदान देकर अपना मोक्ष पुरुषार्थ साधते हैं। कहा है—

णिस्सङ्गो णिरारम्भो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य ।
एगागो झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो ॥ १००० ॥

भावार्थ—जो अन्तरङ्ग बहिरङ्ग सर्व मूर्छाके कारणमई परिग्रहसे रहित हैं, जो असि मसि आदि व पाचन आदि आरंभोंसे रहित हैं, जो भिक्षा चर्यामें भी शुद्ध ममता रहित भावके धारी हैं व जो एकाकी ध्यानमें लीन रहते हैं वे ही साधु सर्व गुणधारी होते हैं।

भिक्खं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू ।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं । १००४ ।

जो साधु नित्य भिक्षा, वाक्य व मनको शुद्ध रूपसे व्यवहार करते हुए आचरण करते हैं वे ही अपने स्वरूपमें स्थित सच्चे साधु हैं ऐसा भगवानने जिनशासनमें कहा है।

श्री कुन्दकुन्द भगवानने बोधपाहुड़में मुनिदीक्षाका यह स्वरूप दिखाया है:—

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५० ॥

भावार्थ—मुनि महाराजकी दीक्षा ऐसी कही गई है जिसमें किसीसे नेह नहीं होता, जहां कोई लोभ नहीं होता, किसीसे मोह नहीं होता, जहां कोई विकार, कलुषता, भय नहीं होते और न किसी प्रकारकी परद्रव्यकी आशा होती है। वास्तवमें ऐसे साधु ही शरीरमें ममत्व न करके योग्य आहार विहारके कर्ता होते हैं ॥ ४६ ॥

उत्थानिका--आगे योग्य आहारका स्वरूप और भी विस्तारसे कहते हैं--

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ ४६ ॥

एकः खलु स भक्तः अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्धः ।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमांसः ॥ ४६

अन्वय सहित सामान्यार्थ--(खलु) वास्तवमें (तं भत्तं एक्कं) उस भोजनको एक ही बार (अप्पडिपुण्णोदरं) पूर्ण पेट न भरके ऊनोदर (जधा लद्धं) जैसा मिलगया वैसा (भिक्खेण चरणं) भिक्षा द्वारा प्राप्त (रसावेक्खं ण) रसोंकी इच्छा न करके (मधुमंसं ण) मधु व मांस जिसमें न हो वह लेना सो योग्य आहार होता है।

विशेषार्थ--साधु महाराज दिन रातमें एककाल ही भोजन लेते हैं वही उनका योग्य आहार है इसीसे ही विकल्प रहित समाधिमें सहकारी कारणरूप शरीरकी स्थिति रहनी संभव है। एकबार भी वे यथाशक्ति भूखसे बहुत कम लेते हैं, जो भिक्षाद्वारा जाते हुए जो कुछ गृहस्थ द्वारा उसकी इच्छासे मिल गया उसे दिनमें लेते हैं, रात्रिमें कभी नहीं। भोजन सरस है या रसरहित है। ऐसा विकल्प न करके समभाव रखते हुए मधु-मांस रहित व उपलक्षणसे आचार शास्त्रमें कही हुई पिंड शुद्धिके क्रमसे समस्त अयोग्य आहारको वर्जन करते हुए लेते हैं। इससे यह बात कही गई कि इन गुणों करके सहित जो आहार है वही तपस्वियोंका योग्य आहार है, क्योंकि योग्य आहार लेनेसे ही दो प्रकार हिंसाका त्याग होसक्ता है। चिदानंद एक लक्षण रूप निश्चय प्राणमें रागादि विकल्पोंकी

उपाधि न होने देना सो निश्चयनयसे अहिंसा है तथा इसकी साधनरूप बाहरमें परजीवोंके प्राणोंको कष्ट देनेसे निवृत्तिरूप रहना सो द्रव्य अहिंसा है। दोनों ही अहिंसाकी प्रतिपालना योग्य आहारमें होती है और जो इसके विरुद्ध आहार हो तो वह योग्य आहार न होगा, क्योंकि उसमें द्रव्यअहिंसासे विलक्षण द्रव्यहिंसाका सद्भाव हो जायगा।

भावार्थ—यद्यपि ऊपरकी गाथाओंमें युक्ताहारका कथन हो चुका है तथापि यहां आचार्य अल्पज्ञानीके लिये विस्तारसे समझानेको उसीका स्वरूप बताते हैं। पहली बात तो यह है कि साधुओंको दिन रातके चौवीस घण्टोंमें एक ही वार भोजन पान एक ही स्थानपर लेना चाहिये, क्योंकि शरीरको भिक्षावृत्तिसे मात्र भाड़ा देना है इससे उदासीनभावसे एक दफे ही जो भिक्षा मिल गई उतनी ही शरीर रक्षामें सहकारी होजाती है। यदि दो तीन चार दफे लेवें तो उनका भोजनसे राग होजावे व शरीरमें प्रमाद व निद्रा सतावे जिससे भाव हिंसा बढ़ जावे और योगाभ्यास न होसके। दूसरी बात यह है कि वे साधु पूर्ण उदर भोजन नहीं करते हैं, इतना करते हैं कि शरीरमें विना किसी आकुलताके भोजन पच जावे। साधारण नियम यह है कि दो भाग अन्नसे एक भाग जलसे तथा एक भाग खाली रखते हैं, क्योंकि प्रयोजन मात्र शरीरकी रक्षाका है यदि इससे अधिक लेवें तो उनका भोजनमें राग बढ़ जावे तथा वे अयोग्य आहारी हो जावें। तीसरी बात यह है कि जैसा सरस नीरस गरम ठंढा सूखा तर दातार गृहस्थने देदिया उसको समताभावसे भोजन कर

लेते हैं। वे यह इच्छा नहीं करते कि हमें अमुक ही मिलना चाहिये, ऐसा उनके रागभाव नहीं उठता है। वृत्तिपरिसंख्यान तपमें व रसपरित्याग तपमें वे तपकी वृद्धिके हेतु किसी रस या भोजनके त्यागकी प्रतिज्ञा ले लेते हैं, परन्तु उसका वर्णन किसीसे नहीं करते हैं। यदि उस प्रतिज्ञामें बाधारूप भोजन मिले तो भोजन न करके कुछ भी खेद न मानते हुए बड़े हर्पसे एकांत स्थलमें जाकर ध्यान मग्न होजाते हैं। चौथी बात यह है कि वे निमंत्रणसे कहीं भोजनको जाते नहीं, स्वयं करते कराते नहीं, न ऐसी अनुमोदना करते हैं। वे भिक्षाको किसी गलीमें जाते हैं वहां जो दातार उनको भक्ति सहित पड़गाह लेवे वहीं चले जाते हैं और जो उसने हाथोंपर रख दिया उसे ही खा लेते हैं। वे इतनी बात अवश्य देख लेते हैं कि यह भोजन उद्देशिक तो नहीं है अर्थात् मेरे निमित्तसे तो दातारने नहीं बनाया है। यदि ऐसी शंका होजावे तो वे भोजन न करें। जो दातारने अपने कुटुम्बके लिये बनाया हो उसीका भाग लेना उनका कर्तव्य है।

पांचवीं बात यह है कि वे साधु दिवसमें प्रकाश होते हुए भोजनको जाते हैं। रात्रिमें व अन्धेरेमें भोजनको नहीं जाते हैं। छठी बात यह है कि किसी विशेष रसके खानेकी लोलुपता नहीं रखते। वे जिह्वाइंद्रियके स्वादकी इच्छाको मार चुके हैं। सातवीं बात यह है कि वे ४६ दोष, ३२ अन्तराय व १४ मलरहित शुद्ध भोजन करते हैं उसमें किसी प्रकार मांस, मद्य, मधुका दोष हो तो शंका होनेपर उस भोजनको नहीं करते-जैन साधु अशुद्ध आहारके सर्वथा त्यागी होते हैं। वे इस बातको जानते हैं कि

आहारका असर बुद्धिपर पड़ता है। जो सूक्ष्म आत्मतत्त्वके मनन करनेवाले हैं उनकी बुद्धि निर्मल रहनी चाहिये। इन सात बातोंको जो अच्छी तरह पालते हैं उन्हींका आहार योग्य होसक्ता है।

श्री मूलाचार समयसार अधिकारमें लिखा है:—

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं॥८९५

भावार्थ—आचार्य साधुको शिक्षा देते हैं कि तू कृत कारित अनुमोदनासे रहित भिक्षा ले, स्त्री पशु नपुंसक आदि रहित पर्वतकी गुफा वन आदिमें वस, थोड़ा प्रमाण रूप जीम अपना जितना भोजन हो उससे कमसे कम—चौथाई भाग कम-भोजन कर, अधिक बात न कर, दुःख व परीसहोंको सानन्द सहन कर, निद्राको जीत सर्व प्राणीमात्रसे मैत्री रख तथा अच्छी तरह वैराग्यकी भावना कर। मुनिको स्वयं भोजन करके कराके व अनुमोदना करके न लेना चाहिये। वहीं कहते हैं।

जो भुंजदि आधाकम्मं छज्जीवाण घायणं किच्चा।
अबुहो लोल सजिब्भो ण वि समणो सावओ होज्ज॥९२७
पयणं व पायणं वा अणुमणचित्तो ण तत्थ बीहेदि
जेमंतोवि सघादी ण वि समणो दिट्ठिसंपण्णो॥ ९२८

भावार्थ—जो कोई साधु छ प्रकारके जीवोंकी हिंसा करके अधःकर्मंमई अशुद्ध भोजन करता है वह अज्ञानी लोलुपी, जिह्वा-का स्वादी न तो साधु है न श्रावक है। जो कोई साधु भोजनके पकने, पकानेमें अनुमोदना करता है अधःकर्म दोषसे नहीं डरता है वह ऐसे भोजनको जीमता हुआ आत्माका घात करनेवाला है—

वह न साधु है और न सम्यग्दृष्टी है। क्योंकि उसने जिन आज्ञाको उल्लंघन किया है।

साधुको बहुत भोजन नहीं करना चाहिये। वहीं लिखते है—

पढ़म विउलाहारं विदियं कायसोहणं।
तदिय गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाद्यं ॥ ६६७ ॥

भावार्थ—साधुको ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये चार बातें न करनी चाहिये एक तो बहुत भोजन करना दूसरे शरीरकी शोभा करना, तीसरे गंध लगाना-मालाकी सुगंध लेना, चौथे गाना बजाना करना, साधु कभी भोजनकी याचना नहीं करते, कहा है—

देहोति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वत्तुं।
अवि णोदि अलाभेण ण य मोणं भंजदे धीरा ॥ ८१८ ॥

भावार्थ—मुझे ग्रास मात्र भोजन देओ ऐसी करुणा भाषा कभी नहीं कहते, न ऐसा कहते कि मैं ९ या ७ दिनका भूखा हूं यदि भोजन न मिलेगा तो मैं मर जाऊँगा मेरा शरीर कृश है, मेरे शरीरमें रोगादि हैं, आपके सिवाय हमारा कौन है ऐसे दया उपजानेवाले वचन साधु नहीं कहते किन्तु भोजन लाभ नहीं होनेपर मौनव्रत न हुए तोड़ते लौट जाते हैं—धीरवीर साधु कभी याचना नहीं करते।

हाथमें भक्तिसे दिये हुए भोजनको भी शुद्ध होनेपर ही लेते हैं जैसा कहा है:—

जं होज्ज वेहिअं तेहिअं च वेवण्ण जंतुसंसिद्धं।
अप्पासुगं तु णच्चा तं भिक्खं मुणी विवज्जेंति ॥ ५६
(मू० अ०)

भावार्थ—जो भोजन दो दिनका तीन दिनका व रसचलित, जन्तु मिश्रित व अप्रासुक हो ऐसा जानकर मुनि उस भिक्षाको

नहीं करते हैं फिर उस दिन अन्तराय पालते हैं। भोजन एक बार ही करते फिर उपवास ले लेते हैं। कहा है—

भोत्तूण गोयरग्गे तहेव मुणिणो पुणो वि पडिकंता।
परिमिदएयाहारा खमणेण पुणो वि पारेंति। ६१

भावार्थ–भिक्षा चर्याके मार्गसे भोजन करके वे मुनि दोष दूर करनेके लिये प्रतिक्रमण करते हैं। यद्यपि कृत कारित अनु-मोदनासे रहित भिक्षा ली है तथापि अपने भावोंकी शुद्धि करते हैं। जो नियम रूपसे एकवार ही भोजन पान करते हैं फिर उप-वास ग्रहण कर लेते हैं। उपवासकी प्रतिज्ञा पुरी होनेपर फिर पारणाके लिये जाते हैं।

उत्थानिका–प्रकरण पाकर आचार्य मांसके दूषण बताते हैं—

पक्केसु आ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं॥ ४७॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि पासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं॥ ४८॥

पक्वासु चामासु च विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सांततिकं उत्पादः तज्जातीनां निगोदानां॥ ४७॥
यः पक्वामपक्वां वा पेशीं मांसस्य खादति स्पृशति वा।
स किल निहन्ति पिंडं जीवानां अनेककोटीनां॥ ४८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(पक्केसु अ) पके हुए व (आमे-सु आ) कच्चे तथा (विपच्चमाणासु) पकते हुए (मांसपेसीसु) मांसके खंडोंमें (तज्जादीणं) उस मांसकी जातिवाले (णिगोदाणं) निगोद जीवोंका (संतत्तियमुववादो) निरंतर जन्म होता है (जो) जो कोई (पक्कम् व अपक्कं मंसस्य पेसी) पक्की, या कच्ची मांसकी डलीको

(खादिं) खाता है (ना पासदि) अथवा स्पर्श करता है (सो) वह (अणेक कोडीणं) अनेक क्रोड़ (जीवाणं) जीवोंके (पिंडं) समूहको (किल) निश्चयसे (णिहणदि) नाश करता है।

विशेषार्थ–मांसपेशीमें जो कच्ची, पक्की व पकती हुई हो हरसमय उस मांसकी रंगत, गंध, रस व स्पर्शके धारी अनेक निगोद जीव–जो निश्चयसे अपने शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारी हैं–अनादि व अनंत कालमें भी न अपने स्वभावसे न उपजते न विनशते हैं, ऐसे जंतु व्यवहारनयसे उत्पन्न होते रहते हैं। जो कोई ऐसे कच्चे२ पके मांस खंडको अपने शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतको न भोगता हुआ खालेता है अथवा स्पर्श भी करता है वह निश्चयसे लोकोंके कथनसे व परमागममें कहे प्रमाण करोडों जीवोंके समूहका नाशक होता है।

भावार्थ–इन दो गाथाओंमें–जिनकी वृत्ति श्री अमृतचंद्रकृत टीकामें नहीं है–आचार्यने बताया है कि मांसका दोष सर्वथा त्यागने योग्य है। मांसमें सदा सम्मूर्छन जंतु त्रस उसी जातिके उत्पन्न होते हैं जैसा वह मांस होता है। वेगिनती त्रसजीव पैदा हो होकर मरते हैं इसीसे मांसमें कभी दुर्गंध नहीं मिटती है। द्वेन्द्रियसे पंचेंद्रिय तक जंतुओंके मृतक कलेवरको मांस कहते हैं। साक्षात् मांस खाना जैसा अनुचित है वैसा ही जिन वस्तुओंमें त्रसजंतु उत्पन्न हो होकर मरें उन वस्तुओंको भी खाना उचित नहीं है, क्योंकि उनमें त्रस जंतुओंका मृतक कलेवर मिल जाता है। इसीलिये सदा ही ताजा शुद्ध भोजन गृहस्थको करना चाहिये और उसीमेंसे मुनियोंको दान करना चाहिये। वासी, सड़ा, वसा भोजन मांस दोषसे परिपूर्ण होता है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचंद्र आचार्य मांसके संबंधमें यही बात कहते हैं—

यद्‌पि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥ ६६ ॥
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुकोटिजीवानाम् ॥ ६८ ॥

भावार्थ—मांसके लिये अवश्य पशु मारे जांयगे, इससे बड़ी हिंसा होगी। यदि कोई कहे कि अपनेसे मरे हुए बैल व भैंसेके मांसमें तो हिंसा न होगी? उसके निषेधमें कहते हैं कि अवश्य हिंसा होगी क्योंकि उस मांसमें पैदा होनेवाले निगोद जीवोंका नाश हो जायगा। क्योंकि मांस पेशियोंमें कच्ची, पक्की व पकती हुई होनेपर भी उनमें निरन्तर उसी जातिके निगोद जीव पैदा होते रहते हैं। इसिलिये जो मांसकी डलीको कच्ची व पक्की खाता है या स्पर्श भी करता है वह बहुत क्रोड़ जंतुओंके समूहको नाश करता है। भोजनकी शुद्धि मांस, मद्य, मधुके स्पर्श मात्रसे जाती रहती है इससे साधुगणोंको ऐसा ही आहार लेना योग्य है जो निर्दोष हो। जैसा कहा है:—

जं सुद्धमसंसत्तं खज्जं भोज्जं च लेज्ज पेज्जं वा
गिण्हंति मुणी भिक्खं सुत्तेण अणिंदियं जं तु ॥ ८२४ ॥

भावार्थ—जो भोजन-खाद्य, भोज्य, लेह्य, पेय-शुद्ध हो, मांसादि दोष रहित हो, जंतुओंसे रहित हो, शास्त्रसे निन्दनीय न हो ऐसे

भोजनकी भिक्षाको मुनिगण लेते हैं। यहां यह भाव बताया गया है कि शेष कन्दमूल आदि आहार जो एकेंद्रिय अनन्तकाय हैं वे तो अग्निसे पकाए जानेपर प्रासुक होजाते हैं तथा जो अनन्त त्रस-जीवोंकी खान हैं सो अग्निसे पका हो, पक रहा हो व न पका हो कभी भी प्रासुक अर्थात् जीव रहित नहीं हो सक्ता है इस कारणसे सर्वथा अभक्ष्य है ॥ ४८॥

उत्थानिका-आगे इस बातको कहते हैं कि हाथपर आया हुआ आहार जो प्राशुक हो उसे दूसरोंको न देना चाहिये।

अप्पडिकुट्ठं पिंडं पाणिगयं णेव देयमण्णस्स।
दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥ ४९ ॥
अप्रतिकुष्टं पिंडं पाणिगतं नैव देयमन्यस्मै।
दत्वा भोक्तुमयोग्यं भुक्तो वा भवति प्रतिकुष्टः ॥ ४९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अप्रतिकुष्टं पिंडं) आगमसे जो आहार विरुद्ध हो (पाणिगतं) सो हाथपर आजावे उसे (अण्णस्स णेव देयम्) दूसरेको देना नहीं चाहिये। (दत्ता भोत्तुमजोग्गं) दे करके फिर भोजन करनेके योग्य नहीं होता है (भुत्तो वा पडिकुट्ठो होदि) यदि कदाचित उसको भोग ले तो प्रायश्चितके योग्य होता है।

विशेषार्थ-यहां यह भाव है-कि जो हाथमें आया हुआ शुद्ध आहार दूसरेको नहीं देता है किन्तु खालेता है उसके मोह रहित आत्मतत्वकी भावनारूप मोहरहितपना जाना जाता है।

भावार्थ-इस गाथाका-जो अमृतचंद्रकृत टीकामें नहीं है-यह भाव है कि जो शुद्ध प्राशुक भोजन उनके हाथमें रक्खा जावे

उसको साधुको समताभावसे संतोषसे लेना चाहिये। यदि कोई साधु कदाचित भूलसे व कोई कारणवश उस आहारको जो उसके हाथपर रक्खा गया है दूसरेको दे दे और वह भोजन दुवारा मुनिके हाथपर रक्खा जावे तो उसको मुनिको योग्य लेना नहीं है। यदि कदाचित ले लेवे तो वह प्रायश्चितका अधिकारी है। मुनिके हाथमें आया हुआ ग्रास यदि मुनिद्वारा किसीको दिया जावे तो वह मुनि उसी समयसे अंतराय पालते हैं। फिर उस दिन वे भोजनके अधिकारी नहीं होते हैं। इसका भाव जो समझमें आया सो लिखा है। विशेष ज्ञानी सुधार लेवें॥ ४९॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि उत्सर्ग मार्ग निश्चयचारित्र है तथा अपवाद मार्ग व्यवहारचारित्र है। इन दोनोंमें किसी अपेक्षासे परस्पर सहकारीपना है ऐसा स्थापित करते हुए चारित्रकी रक्षा करनी चाहिये, ऐसा दिखाते हैं।

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि॥ ५०॥

बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा।
चर्यां चरतु स्वयोग्यां मूलच्छेदो यथा न भवति॥ ५०॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(बालो वा) बालक मुनि हो अथवा (वुड्ढो वा) बुड्ढा हो या (समभिहदो) थक गया हो (वा पुनर्ग्लानो वा) अथवा रोगी हो ऐसा मुनि (जधा) जिस तरह (मूलच्छेदं) मूल संयमका भंग (ण हवदि) न होवे (सजोग्गं) वैसे अपनी शक्तिके योग्य (चर्यां) आचारको (चरइ) पालो।

विशेषार्थ—प्रथम ही उत्सर्ग और अपवादका लक्षण कहते हैं। अपने शुद्ध आत्माके पाससे अन्य सर्व भीतरी व बाहरी परिग्रहका त्याग देना सो उत्सर्ग है इसीको निश्चयनयसे मुनि धर्म कहते हैं। इसीका नाम सर्व परित्याग है, परमोपेक्षा संयम है, वीतराग चारित्र है, शुद्धोपयोग है—इस सबका एक ही भाव है। इस निश्चय मार्गमें जो ठहरनेको समर्थ न हो वह शुद्ध आत्माकी भावनाके सहकारी कुछ भी प्रासुक आहार, ज्ञानका उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण कर लेता है यह अपवाद मार्ग है। इसीको व्यवहारनयसे मुनि धर्म कहते हैं। इसीका नाम एक देश परित्याग है, अपहृत संयम है, सरागचारित्र है, शुभोपयोग है, इन सबका एक ही अर्थ है। जहां शुद्धात्माकी भावनाके निमित्त सर्व त्याग स्वरूप उत्सर्ग मार्गके कठिन आचरणमें वर्तन करता हुआ साधु शुद्धात्मतत्वके साधकरूपसे जो मूल संयम है उसका तथा संयमके साधक मूल शरीरका जिस तरह नाश नहीं होवे उस तरह कुछ भी प्रासुक आहार आदिको ग्रहण कर लेता है सो अपवादकी अपेक्षा या सहायता सहित उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। और जब वह मुनि अपवाद रूप अपहृत संयमके मार्गमें वर्तता है तब भी शुद्धात्मतत्वका साधकरूपसे जो मूल संयम है उसका तथा मूल संयमके साधक मूल शरीरका जिस तरह विनाश न हो उस तरह उत्सर्गकी अपेक्षा सहित वर्तता है—अर्थात् इस तरह वर्तन करता है जिसतरह संयमका नाश न हो। यह उत्सर्गकी अपेक्षा सहित अपवाद मार्ग है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने दयापूर्वक बहुत ही स्पष्ट रूपसे मुनि मार्गपर चलनेकी विधि बताई है। निश्चय मार्ग तो

अभेद रत्नत्रय स्वरूप है, वहां निज शुद्धात्माका श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, उसीका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है व उसीमें लीन होना सम्यग्चारित्र है—इसीको भावलिंग कहते हैं। यह निर्विकल्प दशा है, यही वीतराग सम्यग्दर्शन तथा वीतराग चारित्र है, यही उपेक्षा संयम है, यही सर्व सन्यास है, यही एकाग्रध्यानावस्था है। इसीमें वीतरागताकी अग्नि जलकर पूर्व बांधे हुए घोर कर्मोंकी निर्जरा कर देती है, यही आत्माके बलको बढ़ाती है, यही ज्ञानका अधिक प्रकाश करती है। जो भरतचक्रवर्तीके समान परम वीर साधु हैं वे इस अग्निको लगातार अंतर्मुहूर्त तक जलाकर उतने ही कालमें घातियाकर्मोंको दग्धकर केवलज्ञानी हो जाते हैं, परन्तु जो साधु इस योग्य न हों अर्थात् शुद्धात्माकी आराधनामें बराबर उपयोग न लगा सकें ऐसे थके हुए साधु, अथवा जो छोटी वयके व बडी वयके हों वा रोगपीड़ित हों इन सर्वसाधुओंको योग्य है कि *जबतक उपयोग शुद्धात्माके सन्मुख लगे वहीं जमे रहें। जब ध्या*नसे चलायमान हों तब व्यवहार धर्मका शरण लेकर जिस तरह अट्ठाईस मूलगुणोंमें कोई भंग न हो उस तरह वर्तन करें—क्षुधा शमन करनेको ईर्या समितिसे गमन करें, श्रावकके घर सन्मानपूर्वक पड़गाहे जानेपर शुद्ध आहार ग्रहण करके वनमें लौट आवें, शास्त्रका पठनपाठन उपदेशादि करें, कोमल पिच्छिकासे शोधते हुए शरीर, कमंडलु, शास्त्रादि रक्खें उठावें, आवश्यक्ता पडनेपर शौचादि करें। यह सब व्यवहार या अपवाद मार्ग है उसको साधन करें। निश्चय और व्यवहार दोनोंकी अपेक्षा व सहायतासे वर्तना सुगमचर्या है। जो मुनि हठसे ऐसा एकांत पकड़ले कि मैं तो शुद्धात्म-

ध्यानमें ही जमे रहूंगा वह थक जानेपर यदि अपवाद या व्यवहार मार्गको न पालेगा तो अवश्य संयमसे भृष्ट होगा व शरीरका नाश कर देगा। और जो कोई अज्ञानी शुद्धात्माकी भावनाकी इच्छा छोडकर केवल व्यवहार रूपसे मूल गुणोंके पालनेमें ही लगा रहेगा वह द्रव्यलिंगी रहकर भावलिंगरूप मूल संयमका घात कर डालेगा। इसलिये निश्चय व्यवहारको परस्पर मित्र भावसे ग्रहण करना चाहिये।

जब व्यवहारमें वर्तना पड़े तब निश्चयकी तरफ दृष्टि रक्खे और यह भावना भावे कि कब मैं शुद्धात्माके बागमें रमण करूं और जब शुद्धात्माके बागमें क्रीड़ा करते हुए किसी शरीरकी निर्बलताके कारण असमर्थ हो जावे तबतक निश्चय तथा व्यवहारमें गमनागमन करता हुआ मूल संयम और शरीरकी रक्षा करते हुए वर्तना ही मुनि धर्म साधनकी यथार्थ विधि है। इस गाथासे यह भी भाव झलकता है कि अठाईस मूलगुणोंकी रक्षा करते हुए अनशन ऊनोदर आदि तपोंको यथाशक्ति पालन करना चाहिये। जो शक्ति कम हो तो उपवास न करे व कम करे। वृत्ति परिसंख्यानमें कोई बड़ी प्रतिज्ञा न धारण करें। इत्यादि, आकुलता व आर्त्तध्यान चित्तमें न पैदा करके समताभावसे मोक्ष मार्ग साधन करना साधुका कर्तव्य है।

तात्पर्य यह है कि साधुको जिस तरह बने भावोंकी शुद्धिता बढ़ानेका यत्न करना चाहिये। मूलाचारमें कहा है—

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गइ होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी॥ ६६५॥

भावार्थ—जो अंतरंग भावोंसे वैरागी है वही विरक्त है। केवल

जो द्रव्यमात्र बाहरमें त्यागी है उसको उत्तम गति नहीं हो सक्ती है। इस कारणसे इंद्रियोंके विषयोंके रमणमें लोलुपी मनरूपी हाथीको अपने वशमें रखना चाहिये।

सामायिकपाठमें श्री अमितगति महाराज कहते हैं—

यो जागर्ति शरीरकार्यकरणे वृत्तो विधत्ते यतो
हेयादेयविचारशून्यहृदये नात्मक्रियायामसौ।
स्वार्थं लब्धुमना विमुंचतु ततः शश्वच्छरीरादरं
कार्यस्य प्रतिबंधके न यतते निष्पत्तिकामः सुधीः ॥७२॥

भावार्थ—जो कोई वर्तन करनेवाला शरीरके कार्यके करनेमें जागता है वह हेय उपादेयके विचारसे शून्य हृदय होकर आत्माके प्रयोजनको सिद्ध करना चाहता है, उसको शरीरका आदर छोडना चाहिये क्योंकि कार्यको पूर्ण करनेवाले बुद्धिवान कार्यके विघ्न करनेवालेका यत्न नहीं करते अर्थात् विघ्नकारकको दूर रखते हैं।

जो यथार्थ आत्मरसिक हैं और शारीरादिसे वैरागी हैं वे ही मुनिपदकी चर्या पाल सक्ते हैं ॥ ५० ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि अपवादकी अपेक्षा विना उत्सर्ग तथा उत्सर्गकी अपेक्षा विना अपवाद निषेधने योग्य है। तथा इस बातको व्यतिरेक द्वारसे दृढ़ करते हैं।

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥५१॥

आहारे व विहारे देशं कालं श्रमं क्षमामुपधिम्।
ज्ञात्वा तान् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी सः ॥ ५१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) यदि (समणो) साधु (आहारे व विहारे) आहार या विहारमें (देसं कालं समं खमं उवधिं ते जाणित्ता) देशको, समयको, मार्गकी थकनको, उपवासकी क्षमता या सहनशीलताको, तथा शरीररूपी परिग्रहकी दशाको इन पांचोंको जानकर (वट्टदि) वर्तन करता है (सो अप्पलेवी) वह बहुत कम कर्मबंधसे लिप्त होता है।

विशेषार्थ-जो शत्रु मित्रादिमें समान चित्तको रखनेवाला साधु तपस्वीके योग्य आहार लेनेमें तथा विहार करनेमें नीचे लिखी इन पांच बातोंको पहले समझकर बर्तन करता है वह बहुत कम कर्मबंध करनेवाला होता है (१) देश या क्षेत्र कैसा है (२) काल आदि किस तरहका है (३) मार्ग आदिमें कितना श्रम हुवा है व होगा (३) उपवासादि तप करनेकी शक्ति है या नहीं (४) शरीर बालक है, या वृद्ध है या थकित है या रोगी है। ये पांच बातें साधुके आचरणके सहकारी पदार्थ हैं। भाव यह है कि यदि कोई साधु पहले कहे प्रमाण कठोर आचरणरूप उत्सर्ग मार्गमें ही वर्तन करे और यह विचार करे कि यदि मैं प्रासुक आहार आदि ग्रहणके निमित्त जाऊंगा तो कुछ कर्मबंध होगा इस लिये अपवाद मार्गमें न प्रवर्ते तो फल यह होगा कि शुद्धोपयोगमें निश्चलता न पाकर चित्तमें आर्त्तध्यानसे संक्लेश भाव हो जायगा तब शरीर त्यागकर पूर्वकृत पुण्यसे यदि देवलोकमें चला गया तो वहां दीर्घकालतक संयमका अभाव होनेसे महान कर्मका बन्ध होवेगा इसलिये अपवादकी अपेक्षा न करके उत्सर्ग मार्गको साधु त्याग देता है तथा शुद्धात्माकी भावनाको साधन

करानेवाला थोड़ासा कर्मबन्ध हो तो लाभ अधिक है ऐसा जानकर अपवादकी अपेक्षा सहित उत्सर्ग मार्गको स्वीकार करता है। तैसे ही पूर्व सूत्रमें कहे क्रमसे कोई अपहृत संयम शब्दसे कहने योग्य अपवाद मार्गमें प्रवर्तता है वहां वर्तन करता हुआ यदि किसी कारणसे औषधि, पथ्य आदिके लेनेमें कुछ कर्मबन्ध होगा ऐसा भय करके रोगका उपाय न करके शुद्ध आत्माकी भावनाको नहीं करता है तो उसके महान कर्मका बंध होता है अथवा व्याधिके उपायमें प्रवर्तता हुआ भी हरीतकी अर्थात हड़के बहाने गुड़ खानेके समान इंद्रियोंके सुखमें लम्पटी होकर संयमकी विराधना करता है तौ भी महान कर्मबन्ध होता है। इसलिये साधु उत्सर्गकी अपेक्षा न करके अपवाद मार्गको त्याग करके शुद्धात्माकी भावनारूप व शुभोपयोगरूप संयमकी विराधना न करता हुआ औषधि पथ्य आदिके निमित्त अल्प कर्मबन्ध होते हुए भी बहुत गुणोंसे पूर्ण उत्सर्गकी अपेक्षा सहित अपवादको स्वीकार करता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथाका यह अर्थ है कि साधुको एकांतसे हठग्राही न होना चाहिये। उत्सर्ग मार्ग अर्थात् निश्चयमार्ग तथा अपवादमार्ग अर्थात् व्यवहारमार्ग इन दोनोंसे यथावसर काम लेना चाहिये। जबतक शुद्धोपयोगमें ठहरा जावे तबतक तो उत्सर्ग मार्गमें ही लीन रहे परन्तु जब उसमें उपयोग न लग सके तो उसको व्यवहारचारित्रका सहारा लेकर जिसमें फिर शीघ्रही शुद्धोपयोगमें चढ़ना हो जावे ऐसी भावना करके कुछ शरीरकी थकनको मेटे-उसका वैय्यावृत्य करे, भोजनपानके निमित्त नगरमें जावे, शुद्ध

आहार ग्रहण करे, शरीरको स्वस्थ रखता हुआ बारबार उत्सर्गमार्गमें आरूढ़ होता रहे। इसी विधिसे साधु संयमका ठीक पालन कर सक्ता है। जो ऐसा हठ करे कि मैं तो ध्यानमें ही बैठा रहूंगा न शरीरकी थकन मेटूंगा, न उसे आहार दूंगा, न शरीरसे मल हटानेको शौच करूँगा तो फल यह होगा कि शक्ति न होनेसे कुछ काल पीछे मन घबड़ा जायगा और पीड़ा चिन्तवन आर्तध्यान हो जावेगा। तथा मरण करके कदाचित देव आयु पूर्व बांधी हो तो देवगतिमें जाकर बहुत काल संयमके लाभ बिना गमावेगा। यदि वह अपवाद या व्यवहार मार्गमें आकर शरीरकी रक्षा करता रहता तो अधिक समय तक संयम पालकर कर्मोंकी निर्जरा करता इससे ऐसे उत्सर्ग मार्गका एकांत पकड़नेवालेने थोड़े कर्म बंधके भयसे अधिक कर्म बंधको प्राप्त किया। इसने लाभके बदले हानि ही उठाई। इसलिये ऐसे साधुको अपवादकी सहायता लेकर उत्सर्ग मार्ग सेवन करना चाहिये। दूसरा एकांती साधु मात्र अपवाद मार्गका ही सेवन करे। शास्त्र पढ़े विहार करे, शरीरको भोजनादिसे रक्षित करे, परन्तु शुद्धोपयोगरूप उत्सर्ग मार्गपर जानेकी भावना न करे। निश्चय नय द्वारा शुद्ध तत्वको न अनुभवे, प्रतिक्रमण व सामायिक पाठादि पढ़े तो भी भाव समाधिको न पाकर अपना सच्चा हित नहीं कर सकेगा अथवा व्यवहार मार्गका एकांती साधु शरीर शोषक कठिन कठिन तपस्या करे—भोजन आदि करूंगा तो कर्म बंध होगा ऐसा भय करके शरीरको स्वास्थ्ययुक्त व निराकुल न रक्खे और अपने उपयोगको शुद्धात्माके सन्मुख न करे तो वह भी एकांती साधु मो-

पनेको नहीं पावेगा–अथवा कोई व्यवहार आलम्बी साधु आहार पानका लोलुपी होकर अपवाद मार्गकी बिलकुल परवाह न करे तौ ऐसा साधु भी साधुपनेके फलको नहीं प्राप्त कर सकेगा, किन्तु महान कर्मका बंध करनेवाला होगा। इससे साधुको उत्सर्ग मार्ग सेवते हुए अपवादकी शरण व अपवाद मार्ग सेवते हुए निश्चय या उत्सर्गकी शरण लेते रहना चाहिये–किसी एक मार्गका हठ न करना चाहिये। जब साधु क्षपक श्रेणीपर चढ़ जाता है तब निश्चय व व्यवहार चारित्रका विकल्प ही नहीं रहता है। तब तो निश्चय चारित्रमें जमा हुआ अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञानी होजाता है।

यहां गाथामें यह बात स्पष्ट की है कि साधुको आहार व विहारमें पाच बातोंपर ध्यान दे लेना चाहिये।

(१) यह देश जहां मैं हूं व जहां मैं जाता हूं किस प्रकारका है। राजा न्यायी है या अन्यायी है, मंत्री न्यायी है या अन्यायी है, श्रावकोंके घर हैं या नहीं, श्रावक धर्मज्ञाता, बुद्धिमान हैं या मूर्ख हैं, श्रावकोंके घर थोड़े हैं या बहुत हैं, अजैनोंका जैन साधुओंपर यहां उपसर्ग है या नहीं। इस तरह विचारकर जहां संयमके पालनेमें कोई बाधा नहीं मालूम पड़े उस देशमें ही, उस ग्राम या नगरमें ही साधु विहार करें, ठहरें या आहारके निमित्त नगरमें जावें। जैसे मध्यदेशमें बारह वर्षका दुष्काल जानकर श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीने अपने चौवीस हजार मुनिसंघको यह आज्ञा की थी कि इस देशको छोड़कर दक्षिणमें जाना चाहिये। यह विचार सब अपवाद मार्ग है, परन्तु यदि साधु ऐसा न विचार करे तो निर्विघ्नपने शुद्धोपयोगरूप उत्सर्ग मार्गमें नहीं चल सके।

(२) कालका भी विचार करना जरूरी है। यह ऋतु कैसी है, शीत है या उष्ण है या वर्षाकाल है, अधिक उष्णता है या अधिक शीत है, सहनयोग्य है या नहीं, कालका विचार देशके साथ भी कर सक्ते हैं कि इस समय किस देशमें कैसी ऋतु है वहां संयम पल सकेगा या नहीं। भोजनको जाते हुए अटपटी आखड़ी देश व कालको विचार कर लेवे कि जिससे शरीरको पीड़ा न उठ जावे। जब शरीरकी शक्ति अधिक देखे तब कड़ी प्रतिज्ञा लेवे जब हीन देखे तब सुगम प्रतिज्ञा लेवे। जिस रस या वस्तुके त्यागसे शरीर बिगड़ जावे उसका त्याग न करे। ऋतुके अनुसार क्या भोजन लाभकारी होगा उसको चला करके त्याग न कर बैठे। प्रयोजन तो यह है कि मैं स्वरूपाचरणमें रमूं उसके लिये शरीरको बनाए रक्खूं। इस भावनासे योग्यताके साथ वर्तन करे।

(३) अपने परिश्रमकी भी परीक्षा करे—कि मैंने ग्रंथ लेखनमें, शास्त्रोपदेशमें, विहार करनेमें इतना परिश्रम किया है अब शरीरको स्वास्थ्य लाभ कराना चाहिये नहीं तो यह किसी कामका न रहेगा। ऐसा विचार कर शरीरको आहारादि करानेमें प्रमाद न करे।

(४) अपनी सहनशीलताको देखे कि मैं कितने उपवासादि तप व कायक्लेशादि तप करके नहीं घबडाऊंगा। जितनी शक्ति देखे उतना तप करे। यदि अपनी शक्तिको न देखकर शक्तिसे अधिक तप कर ले तो आर्तध्यानी होकर धर्मध्यानसे डिग जावे और उल्टी अधिक हानि करे।

(५) अपने शरीरकी दशाको देखकर योग्य आहार ले या थोड़ी या अधिक दूर विहार करे। मेरा शरीर बालक है या वृद्ध

है या रोगी है ऐसा विचार करके आहार विहार करे। वास्तवमें ये सब अपवाद या व्यवहार मार्गके विचार हैं, परंतु अभ्यासी साधकको ऐसा करना उचित है, नहीं तो वह धर्मध्यान निराकुलताके साथ नहीं कर सक्ता है। वीतराग चारित्रको ही ग्रहण करने योग्य मानके जब उसमें परिणाम न ठहरें तब सराग चारित्रमें वर्तन करे, तौभी वीतराग चारित्रमें शीघ्र जानेकी भावना करे।

इस तरह जो साधु विवेकी होकर देशकालादि देखकर वर्तन करते हैं वे कभी संयमका भंग न करते हुए सुगमतासे मोक्षमार्गपर चले जाते हैं। यही कारण है जिससे यह बात कही है कि साधु कभी अप्रमत्त गुणस्थानमें कभी प्रमत्त गुणस्थानमें वारम्वार आवागमन करते हैं—अप्रमत्त गुणस्थानमें ठहरना उत्सर्ग मार्ग है, प्रमत्तमें आना अपवाद मार्ग है। इसी छठे गुणस्थानमें ही साधु आहार, विहार, उपदेशादि करते हैं। सातवेंमें ध्यानस्थ होजाते हैं। यद्यपि हरएक दो गुणस्थानका काल अंतर्मुहूर्त है तथापि वार वार आते जाते हैं। कभी उपदेश करते विहार करते आहार करते हुए भी मध्यमें जघन्य या किसी मध्यम अंतमुहूर्तके लिये स्वरूपमें रमण कर लेते हैं।

प्रयोजन यही है कि जिस तरह इस नाशवंत देहसे दीर्घ काल तक स्वरूपका आराधन होसके उस तरह साधुको विचार पूर्वक वर्तन करना चाहिये। २८ मूलगुणोंकी रक्षा करते हुए कोमल कठोर जैसा अवसर हो चारित्र पालते रहना चाहिये। परिणामोंमें कभी संक्लेश भावको नहीं लाना चाहिये। कहा है सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र आचार्यने—

तथानुष्ठेयमेतद्धि पंडितेन हितैषिणा ।
यथा न विक्रियां याति मनोऽत्यर्थं विपत्स्वपि ॥१६६॥
संक्लेशो नहि कर्तव्यः संक्लेशो बन्धकारणं ।
संक्लेशपरिणामेन जीवो दुःखस्य भाजनं ॥ १६७ ॥
संक्लेशपरिणामेन जीवः प्राप्नोति भूरिशः ।
सुमहत्कर्मसम्बन्धं भवकोटिषु दुःखदम् ॥ १६८ ॥

भावार्थ–आत्महितको चाहनेवाले पंडितजनका कर्तव्य है कि इस तरह चारित्रको पाले जिससे विपत्ति या उपसर्ग परीषह आनेपर भी मन अतिशय करके विकारी न हो, मनमें संक्लेश या दुःखित परिणाम कभी नहीं करना चाहिये।

क्योंकि यह संक्लेश कर्मबंधका कारण है। ऐसे आर्त्तभावोंसे यह जीव दुःखका पात्र हो जाता है–संक्लेश भावसे यह जीव करोड़ों भवोंमें दुःख देनेवाले महान् कर्मबन्धको प्राप्त होजाता है।

भाव यही है कि मनमें शुद्धोपयोग और शुभोपयोग इन दोके सिवाय कभी अशुभोपयोगको स्थान नहीं देना चाहिये।

इस तरह 'उवयरणं जिणमग्गे' इत्यादि ग्यारह गाथाओंसे अपवाद मार्गका विशेष वर्णन करते हुए चौथे स्थलका व्याख्यान किया गया। इस तरह पूर्व कहे हुए क्रमसे ही "णिरवेक्खो-जोगो" इत्यादि तीस गाथाओंसे तथा चार स्थलोंसे अपवाद नामका दूसरा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ९१ ॥

इसके आगे चौदह गाथाओं तक श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग नामका अधिकार कहा जाता है। इसके चार स्थल हैं उनमेंसे पहले ही आगमके अभ्यासकी मुख्यतासे "एयग्गमणो" इत्यादि यथाक्रमसे पहले स्थलमें चार गाथाएं हैं। इसके पीछे भेद व

अभेद रत्नत्रय स्वरूप ही मोक्षमार्ग है ऐसा व्याख्यान करते हुए " आगमपुव्वा दिट्ठी " इत्यादि दूसरे स्थलमें चार सूत्र हैं। इसके पीछे द्रव्य व भाव संयमको कहते हुए "चागो य अणारंभो" इत्यादि तीसरे स्थलमें गाथाएं चार हैं। फिर निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गका संकोच करनेकी मुख्यतासे " मज्झदिवा " इत्यादि चौथे स्थलमें गाथा दो हैं। इस तरह तीसरे अंतर अधिकारमें चार स्थलोंसे समुदाय पातनिका है-सो ही कहते हैं।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि जो अपने स्वरूपमें एकाग्र है वही श्रमण है तथा सो एकाग्रता आगमके ज्ञानसे ही होती है।

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥५२॥

एकाग्रगतः श्रमणः एकाग्रं निश्चितस्य अर्थेषु ।
निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा ॥ ५२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(एयग्गगदो) जो रत्नत्रयकी एकताको प्राप्त है वह (समणो) साधु है। (अत्थेसु णिच्छिदस्स) जिसके पदार्थोंमें श्रद्धा है उसके (एयग्गं) एकाग्रता होती है। (आगमदो णिच्छित्ती) पदार्थोंका निश्चय आगमसे होता है (तदो) इसलिये (आगमचेट्ठा) शास्त्रज्ञानमें उद्यम करना (जेट्ठा) उत्तम है या प्रधान है।

विशेषार्थ-तीन जगत व तीन कालवर्ती सर्व द्रव्योंके गुण और पर्यायोंको एक काल जाननेको समर्थ सर्व तरहसे निर्मल केवलज्ञान लक्षणके धारी अपने परमात्मतत्वके सम्यक श्रद्धान, ज्ञान और चारित्ररूप एकताको एकाग्र कहते हैं। उसमें जो तन्मयी भावसे

लगा हुआ है सो श्रमण है। टांकीमें उकेरेके समान ज्ञाता दृष्टा एक स्वभावका धारी जो परमात्मा पदार्थ है उसको आदि लेकर सर्व पदार्थोंमें जो साधु श्रद्धाका धारी हो उसीके एकाग्रभाव प्राप्त होता है। तथा इन जीवादि पदार्थोंका निश्चय आगमके द्वारा होता है। अर्थात् जिस आगममें जीवोंके भेद तथा कर्मोंके भेदादिका कथन हो उसी आगमका अभ्यास करना चाहिये। केवल पढ़नेका ही अभ्यास न करे किन्तु आगमोंमें सारभूत जो चिदानंदरूप एक परमात्मतत्वका प्रकाशक अध्यात्म ग्रंथ है व जिसके अभ्याससे पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है उसका मनन करे। इस कारणसे ही उस ऊपर कहे गए आगम तथा परमागममें जो उद्योग है वह श्रेष्ठ है। ऐसा अर्थ है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बतलाया है कि शुद्धोपयोगका लाभ उसी समय होगा जब कि जीव अजीव आदि तत्वोंका यथार्थज्ञान और श्रद्धान होगा। जिसने सर्व पदार्थोंके स्वभावको समझ लिया है तथा अध्यात्मिक ग्रन्थोंके मननसे निज आत्माको परमशुद्ध केवलज्ञानका धनी निश्चय किया है वही श्रद्धा तथा ज्ञान पूर्वक स्वरूपाचरणमें रमण कर सक्ता है। पदार्थोंका ज्ञान जिन आगमके अच्छी तरह पठन पाठन व मनन करनेसे होता है इस लिये साधुको जिन आगमके अभ्यासकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये, विना आगमके अभ्यासके भाव लिंगका लाभ होना अतिशय कठिन है, उपयोगकी थिरता पाना बहुत कठिन काम है। ज्ञानी जीव ज्ञानके बलसे पदार्थोंका स्वरूप ठीक ठीक समझके समदर्शी होसक्ता है।

व्यवहानयसे पदार्थोंका स्वरूप अनेक भेदरूप व अनेक पर्यायरूप है जब कि निश्चयनयसे हरएक पदार्थ अपने२ स्वरूपमें

[illegible] संसारी [illegible]
[illegible] होती है [illegible]
[illegible] निश्चयनयसे जब इसको यह ज्ञान हो जाता है कि मेरा
आत्मा शुद्ध है [illegible] है न परभावका कर्ता है न परभावका
भोक्ता है अपनी निज परिणतिमें सदा परिणमन करता हुआ अपने
शुद्ध भावका ही कर्ता व भोक्ता है। जितने रागादिभाव हैं सब
मोहनीय कर्मकी उपाधिसे होते हैं। मैं निश्चयसे सर्व कर्मोंकी उपा-
धिसे रहित परम वीतराग हूं, ऐसी दृढ़ श्रद्धा जैसी अपने स्व-
भावकी होती है वैसी ही सर्व अन्य आत्माओंकी होती है।
इस निश्चयनयसे जब पदार्थोंका ज्ञान बुद्धिमें झलकने लगता है तब
ज्ञाताका ज्ञान आकुलित नहीं होता तथा इसके मनसे रागद्वेषकी
कालिमा दूर हो जाती है। तब उसके न कोई शत्रु दिखता है न
मित्र दिखता है। जब ऐसी स्थिति ज्ञानकी हो जाती है तब ही
यथार्थ श्रद्धा प्राप्त होती है और तब ही अपने स्वरूपमें रमणता
होती है तथा तब ही वह श्रमणभाव श्रमण है व शुद्धोपयोगका
रखनेवाला है। आगम ज्ञान इतना आवश्यक है कि इसके प्रतापसे
आयुके सिवाय सब मोहनीय आदि सात कर्मोंकी स्थिति घट जाती
है और परिणामोंमें कषायोंकी अनुभाग शक्ति घटनेसे विशुद्धता
बढ़ती जाती है। जितनी विशुद्धता बढ़ती है उतनी और कषायोंकी
अनुभाग शक्ति कम हो जाती है। इस तरह आगमके मननसे ही
यह जीव देशनालब्धिसे प्रायोग्यलब्धि पाकर सम्यग्दृष्टी हो जाता
है। सम्यग्दृष्टीको आत्मानुभव होता ही है ॥

वश ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव चौथे पांचवें गृहस्थके गुणस्थानोंमें भी थोड़ी२ एकाग्रता अपने स्वरूपमें प्राप्त करता है, फिर जब साधु हो जाता है तब इस रत्नत्रय धर्मके प्रतापसे स्वरूपकी एकाग्रतारूप उत्कृष्ट मार्गको या शुद्धोपयोगको भले प्रकार प्राप्त कर लेता है। प्रयोजन कहनेका यही है कि आगमज्ञान ही भाव मुनिपदका मूल कारण है। मूलाचारमें कहा भी है—

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥७९॥
बारसविधह्मिवि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥४०६॥
सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ॥८०॥

भावार्थ—जो साधु स्वाध्याय करता है वही पंचेन्द्रियोंको संकोचित रखता हुआ, मन वचन कायकी गुप्तिमें लगा हुआ, एकाग्र मन रखता हुआ विनय सहित होता है। स्वाध्यायके विना इंद्रिय मनका निरोध व स्वरूपमें एकाग्रता तथा रत्नत्रयका विनय नहीं हो सक्ता है। तीर्थंकरादिने जो अभ्यन्तर बाहरे बारह प्रकारका तप प्रदर्शित किया है उनमें स्वाध्याय करनेके समान न कोई तप है, न कभी हुआ है, न कभी होगा। जैसे सूतमें परोई हुई सुई प्रमाद दोषसे भी नहीं नष्ट होती है अर्थात् भूल जानेपर भी मिल जाती है, वैसे ही जो शास्त्रका अभ्यासी पुरुष है वह प्रमाद दोषसे नष्ट होकर संसाररूपी गर्तमें नहीं पड़ता है। शास्त्रज्ञान सदा ही परिणामोंको मोक्ष मार्गमें उत्साहित रखता है। इसलिये साधुको शास्त्रोंका अभ्यास निरंतर करना चाहिये कभी भी शास्त्रका

आलम्बन न छोड़ना चाहिये। वास्तवमें ज्ञानके विना ममत्त्वका नाश नहीं हो सक्ता है।

श्री पूज्यपाद-महाराज समाधिशतकमें कहते हैं—

यस्य सस्पन्दमाभाति निष्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स समं याति नेतरः॥ ६७॥

भावार्थ—जिसके ज्ञानमें यह चलता फिरता क्रिया करता हुआ जगत ऐसा भासता है कि मानो निश्चल क्रिया रहित है, बुद्धिके विकल्पोंसे शून्य है तथा कार्य और भोगोंसे रहित एक रूप अपने स्वभावमें है उसीके भावोंमें समता पैदा होती है। दूसरा कोई समताको नहीं प्राप्त कर सक्ता है।

अतएव यह बात अच्छी तरह सिद्ध है कि साधुपदमें आगम ज्ञानकी वड़ी आवश्यक्ता है॥ ५२॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जिसको आगमका ज्ञान नहीं है उसके कर्मोंका क्षय नहीं होसक्ता है।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥५३॥

आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं विजानाति।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः॥ ५३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(आगमहीणो) शास्त्रके ज्ञानसे रहित (समणो) साधु (णेवप्पाणं परं) न तो आत्माको न अन्यको (वियाणादि) जानता है। (अत्थे अविजाणंतो) परमात्मा आदि पदार्थोंको नहीं समझता हुआ (भिक्खू) साधु (किध) किस तरह (कम्माणि) कर्मोंको (खवेदि) क्षय कर सक्ता है।

विशेषार्थ—" गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य, उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा " श्री गोमटसारकी इस गाथाके अनुसार जिसका भाव यह है कि इस गोमटसार जीव-कांडमें २० अध्याय हैं, १ गुणस्थान, २ जीवसमास, ३ पर्याप्ति, ४ प्राण, ५ संज्ञा, ६ गतिमार्गणा, ७ इंद्रिय मा०, ८ काय मा०, ९ योग मा०, १० वेद मा०, ११ कषाय मा०, १२ ज्ञान मा०, १३ संयम मा०, १४ दर्शन मा०, १५ लेश्या मा०, १६ भव्य मा०, १७ सम्यक्त मा०, १८ संज्ञि मा०, १९ आहार, २० उप-योगसे जिसने व्यवहारनयसे आगमको नहीं जाना तथा—

" भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहपरमत्थु।
सो अद्धउ अवरद्धाहं किं वादरिसइपत्थु ॥

इस दोहा सूत्रके अनुसार जिसका भाव यह है कि जिसने अपनी देहसे परमपदार्थ आत्माको भिन्न नहीं जाना वह आर्त्तरौद्रध्यानी किस तरह अपने आत्म पदार्थको देख सक्ता है, समस्त आगममें सारभूत अधात्म शास्त्रको नहीं जाना वह पुरुष रागादि दोषोंसे रहित तथा अव्याबाध सुख आदि गुणोंके धारी अपने आत्म द्रव्यको भाव कर्मसे कहने योग्य राग द्वेषादि नाना प्रकार विकल्प जालोंसे निश्चयनयसे भेदको नहीं जानता है और न कर्मरूपी शत्रुको विध्वंश करनेवाले अपने ही परमात्म तत्वको ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंसे जुदा जानता है और न शरीर रहित शुद्ध आत्म पदार्थको शरीरादि नोकर्मोंसे जुदा समझता है। इस तरह भेद ज्ञानके न होनेपर वह शरीरमें विराजित अपने शुद्धात्माकी भी रुचि नहीं रखता है और न उसकी भावना सर्व रागादिका त्याग करके करता है, ऐसी दशामें

उसके कर्मोंका क्षय किस तरह होसक्ता है ? अर्थात् कदापि नहीं होसक्ता है । इसी कारणसे मोक्षार्थी पुरुषको परमागमका अभ्यास ही करना योग्य है, ऐसा तात्पर्य है । इस गाथाका भावार्थ इस गाथामें आचार्यने और भी प्रगट कर दिया है कि शास्त्रज्ञान जिसको नहीं ऐसा अज्ञानी जीव आत्माको भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्मसे भिन्न नहीं जानता हुआ तथा उसके भिन्न भावका अनुभव न पाता हुआ किसी भी तरह कर्मोंका क्षय नहीं कर सक्ता है, इसलिये साधुको निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंसे पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होना चाहिये । व्यवहार नयसे जीवादि तत्वोंको बतानेवाले ग्रंथ श्री तत्वार्थसूत्र व उसकी वृत्तियें सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि व श्री गोमटसारादि हैं । कमसे कम इन ग्रन्थोंका तो अच्छा ज्ञान प्राप्त करले जिससे यह जाननेमें आजावे कि कर्मोंका बंध जीवके साथ किस तरह होता है व कर्मबंधके कारण संसारमें कैसी २ अवस्थाएं होती हैं तथा कर्मोंके नाशका क्या उपाय है तथा उसका अंतिम फल मोक्ष है । व्यवहारनयसे जानकर निश्चयनयकी मुख्यतासे आत्माको सर्व अनात्माओंसे भिन्न दिखानेवाले ग्रन्थ परमात्मप्रकाश, समयसार, समाधिशतक, इष्टोपदेश आदि पढ़े जिससे बुद्धिमें भिन्न आत्माकी अनुभूति होने लगे । इस तरह जब शास्त्रोंका रहस्य समझ जावेगा तब इसीके भेदज्ञान हो जायगा । भेदज्ञानके द्वारा अपने शुद्ध आत्म पदार्थको सबसे जुदा अनुभव करता हुआ साम्यभावरूपी चारित्रको पाकर ध्यानकी अग्निसे कर्मोंका क्षय कर पाता है । इसीलिये साधुको शास्त्रके रहस्यके जाननेकी

अत्यन्त आवश्यक्ता है। (क्योंकि) आगमके ज्ञानके विना आत्म मनन कभी नहीं हो सक्ता है। सूत्रपाहुड़में कहा है—

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि॥

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणदि सो हु सद्दिट्ठी॥

भावार्थ—जो शास्त्रोंका जाननेवाला है वही संसारके नाश करनेका नाश करता है। जैसे लोहेकी सूई डोरे विना नष्ट होती और परन्तु डोरा सहित होनेपर नष्ट नहीं होती है। सूत्रके अर्थको जिनेन्द्र भगवानने कहा है तथा सूत्रमें जीव अजीव आदि बहुत प्रकार पदार्थोंका वर्णन किया गया है तथा यह बताया गया है कि त्यागने योग्य क्या है तथा ग्रहण करने योग्य क्या है जो सूत्रको जानता है वही सम्यग्दृष्टी है। इसलिये आगमज्ञानको बड़ा भारी अवलंबन मानना चाहिये। विना इसके स्वपरका ज्ञान नहीं होगा और न स्वात्मानुभव होगा जो कर्मोंके नाशमें मुख्य हेतु है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि मोक्ष मार्गपर चलनेवालोंके लिये आगम ही उनकी दृष्टि है—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥ ५४॥

आगमचक्षुः साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि।
देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धाः पुनः सर्वतश्चक्षुषः॥ ५४॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(साहू) साधु महाराज (आगमचक्खू) आगमके नेत्रसे देखनेवाले हैं (सव्वभूदाणि) सर्व संसारी जीव (इंदियचक्खूणि) इंद्रियोंके द्वारा जाननेवाले हैं (देवा य ओहि चक्खू) और देवगण अवधिज्ञानसे जाननेवाले हैं (पुण) परन्तु (सिद्धा सव्वदो चक्खू) सिद्ध भगवान सब तरफसे सब देखनेवाले हैं।

विशेषार्थः—निश्चय रत्नत्रयके आधारसें निज शुद्धात्माके साधनेवाले साधुगण शुद्धात्मा आदि पदार्थोंका समझानेवाला जो परमागम है उसकी दृष्टिसे देखनेवाले होते हैं। सर्व संसारी जीव सामान्यसे निश्चयनयसे यद्यपि अतीन्द्रिय और अमूर्त केवलज्ञानादि गुण स्वरूप हैं तथापि व्यवहार नयसे अनादि कर्मबंधके वशसे इंद्रियाधीन होनेके कारणसे इंद्रियोंके द्वारा जाननेवाले होते हैं। चार प्रकारके देव सूक्ष्म मूर्तीक पुद्गल द्रव्यको जाननेवाले अवधिज्ञानके द्वारा देखनेवाले होते हैं परन्तु सिद्ध भगवान शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमई जो—अपने जीव अजीवसे भरे हुए लोकाकाशके प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेश—उन सर्व प्रदेशोंसे देखनेवाले हैं इससे यह बात कही गई है कि सर्व शुद्धात्माके प्रदेशोंमें देखनेकी योग्यताकी उत्पत्तिके लिये मोक्षार्थी पुरुषोंको उस स्वसंवेदन ज्ञानकी ही भावना करनी योग्य है जो निर्विकार है और परमागमके उपदेशसे उत्पन्न होता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने साधुको चारित्र पालनके लिये आगम ज्ञानकी और भी आवश्यक्ता बता दी है और यह बता दिया है कि यद्यपि साधुके सामान्य मनुष्योंकी तरह इंद्रियां हैं और मन है, परन्तु उनसे वह ज्ञान नहीं होसक्ता जिसकी आवश्यक्ता

है। इसलिये साधुओंके लिये मुख्य चक्षु आगमका ज्ञान है। विना शास्त्रोपदेशके वे सूक्ष्म दृष्टिसे जीव अजीवके भेदको नहीं जान सक्ते हैं, और न वे उस स्वसंवेदनज्ञानकी प्राप्ति कर सक्ते हैं जो साक्षात् मुक्तिका कारण है। यहांपर दृष्टांत दिये हैं कि जैसे एकेंद्रिय जीव स्पर्शन इंद्रियसे, द्वेंद्रिय जीव स्पर्शन और रसना दो इंद्रियोंसे, तेंद्रिय जीव स्पर्शन, रसना व घ्राण ऐसी तीन इंद्रियोंसे, चौन्द्रिय जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इंद्रियोंसे व पंचेंद्रिय असैनी कर्ण सहित पांचों इंद्रियोंसे व सैनी पंचेंद्रिय जीव पांच इंद्रिय और मन छहोंसे जानते तथा देवगण मुख्यतासे दूर-वर्ती व सूक्ष्म पदार्थोंको अवधिज्ञानसे जानते हैं और परम परमात्मा अरहंत और सिद्ध अपने सर्व आत्म प्रदेशोंमें प्रगट केवलज्ञान और केवलदर्शनसे जानते हैं वैसे साधुगण आगमज्ञानसे पदार्थोंको जानते हैं। शास्त्रज्ञान ही बुद्धिको खोल देता है, चित्तको आत्म चिंत-नमें रत रखता है। यही चारित्रके पालनमें जीव रक्षाका मार्ग बताता है। इससे साधुको शास्त्राभ्यास-साधन कभी नहीं छोड़ना चाहिये। कहा है:—

णाणं पयासओ तवो सोधओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि य स जोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥८९९॥
णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपावेण ॥ ९ ॥

भावार्थ—मोक्ष मार्गीके लिये ज्ञान पदार्थोंके स्वरूपको प्रकाश करनेवाला है। ध्यान रूपी तप कर्मोंसे आत्माको शुद्ध करनेवाला है, इंद्रिय संयम व प्राण संयम कर्मोंके आनेको रोकनेवाले हैं इन तीनोंके ही संयोगसे मोक्ष होती है ऐसा जिन शासनमें कहा गया

है। चारित्ररूपी नाव है, ध्यानरूपी हवा है, ज्ञानरूपी नावको चलानेवाला है। इन तीनोंकी सहायतासे भव्य जीव संसार सागरको तिर जाते हैं। जैसे चलानेवाले नाविकके विना नाव समुद्रमें ठीक नहीं चल सकती और इच्छित स्थानको पहुंच सकती है। नाविकका होना जैसे अत्यन्त जरूरी है वैसे ही आगमज्ञानीका आवश्यक है कि विना इसके मोक्षमार्गको देख ही नहीं सक्ता, तब कैसे चलेगा कैसे पहुंचेगा ऐसे ॥

केवलज्ञानकी प्राप्तिका साक्षात् कारण स्वात्मानुभव स्वसंवेदन ज्ञान है और स्वसंवेदनका कारण शास्त्रोंका यथार्थ ज्ञान है इसलिये ज्ञानके विना मोक्षमार्गका काम नहीं हो सक्ता है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आगमके द्वारा ही सर्व दिखता है :—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥ ५२ ॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः।
जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥ ५२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(चित्तेहिं गुणपज्जएहिं) नाना प्रकार गुण पर्यायोंके साथ (सव्वे अत्था) सर्व पदार्थ (आगमसिद्धा) आगमसे जाने जाते हैं। (आगमेण) आगमके द्वारा (हि) निश्चयसे (तेवि) तिन सर्वको (पेच्छित्ता) समझकर (जाणंति) जो जानते हैं (ते समणा) वे ही साधु हैं।

विशेषार्थ—विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी परमात्म पदार्थको लेकर सर्व ही पदार्थ तथा उनके सर्व गुण और पर्याय परमागमसे

द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान रूप आगम केवलज्ञानके समान है। आगम द्वारा पदार्थोंको जान लेनेपर जब स्वसंवेदन ज्ञान या स्वात्मानुभव पैदा हो जाता है तब उस स्वसंवेदनके बलसे जब केवल ज्ञान पैदा होता है तब वे ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसी कारणसे आगमकी चक्षुसे परम्परा सर्व ही दीख जाता है।

भावार्थ-इस गाथामें यह बात बताई है कि श्रुतज्ञान या शास्त्रज्ञानमें बड़ी शक्ति है। जैसे केवलज्ञानी सर्व पदार्थोंको जानते हैं वैसे श्रुतज्ञानी सर्व पदार्थोंको जानते हैं। केवल अंतर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। अरहंतकी वाणीसे जो पदार्थोंका स्वरूप प्रगट हुआ है उसीको गणधरोंने धारणामें लेकर आचारांग आदि द्वादश अंगकी रचना की। उसके अनुसार उनके शिष्य प्रशिष्योंने और शास्त्रोंकी रचना की। जैन शास्त्रोंमें वही ज्ञान मिलता है जो केवली महाराजने प्रत्यक्ष ज्ञानसे प्रगट किया। इसलिये आगमके द्वारा हम सब कुछ जानने योग्य जान सके हैं।

वास्तवमें जानने योग्य इस लोकके भीतर पाए जानेवाले छः द्रव्य हैं-असंतानंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात काल द्रव्य। इन सबका स्वरूप जानना चाहिये-कि इनमें सामान्य गुण क्या क्या हैं तथा विशेष गुण क्या क्या हैं। आगम अच्छी तरह बता देता है कि अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व ये छः प्रसिद्ध सामान्य गुण हैं। तथा चेतना जीवके विशेष गुण, स्पर्शादि पुद्गलके विशेष गुण, गति सहकारी धर्मका विशेष गुण, स्थिति सहकारी अधर्मका, अवकाश दान सहकारी आकाशका, वर्तना सहकारी कालका विशेष

गुण है । गुणोंमें जो परिणाम या अवस्थाएं होती हैं वे ही पर्यायें हैं । जैसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, कृष्णवर्ण, पीतवर्ण आदि ।

आगमके द्वारा हमको छः द्रव्योंके गुणपर्याय पृथक् २ विदित होजाते हैं तथा हम अच्छी तरह जान लेते हैं कि छः द्रव्योंमें एक दूसरेसे विल्कुल भिन्नता है तथा हम यह भी जान लेते हैं कि आत्मामें अनादिकालीन कर्म बंधका प्रवाह चला आया है इसलिये यह संसारी आत्मा अशुद्धताको भोगता हुआ रागी द्वेषी मोही होकर पाप व पुण्यको बांधता है तथा उसके फलसे सुख दुःखको भोगता है ।

व्यवहार व निश्चयनयसे छः द्रव्योंका ज्ञान आगमसे होजाता है । पदार्थोंमें नित्यपना है, अनित्यपना है, अस्तिपना है, नास्तिपना है, एकपना है, अनेकपना है, आदि अनेक स्वभावपना भी आगमके ज्ञानसे मालूम होजाता है । पदार्थोंके जाननेका प्रयोजन यही है जो हम अपने आत्माको सर्व अन्य आत्माओंसे व पुद्गलादि द्रव्योंसे, व रागादिक नैमित्तिक भावोंसे जुदा एक शुद्ध स्फटिकमय अपने स्वाभाविक ज्ञानदर्शनादि गुणोंका पुंज जानकर उसके स्वरूपका भेद मालूम करके भेदज्ञानी होजावें जिससे हमको वह स्वसंवेदन ज्ञान व स्वानुभव हो जावे जिसके प्रतापसे यह आत्मा कर्मबंधको काटकर केवलज्ञानी हो जाता है । तव जिन पदार्थोंको कुछ गुण पर्यायों सहित क्रम क्रमसे परोक्ष ज्ञानसे जानता था उन सर्व पदार्थोंको सर्व गुण पर्यायों सहित विना क्रमके प्रत्यक्ष ज्ञानसे जान लेता है । वास्तवमें केवलज्ञान प्राप्तिका कारण मति, अवधि व मनःपर्यय ज्ञान नहीं हैं किन्तु एक श्रुतज्ञान है । इसीलिये जो मोक्षार्थी हैं उनको अच्छी तरह आगमकी सेवा करके तत्वज्ञानी होना चाहिये ।

जिन आगमको स्याद्वाद भी कहते हैं। क्योंकि इसमें पदार्थोंके भिन्न२ स्वभावोंको भिन्न२ अपेक्षाओंसे बताया गया है।

श्री समंतभद्राचार्य आप्तमीमांसामें स्याद्वादको केवलज्ञानके समान बताते हैं, जैसे—

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

भावार्थ—स्याद्वाद और केवलज्ञानमें सर्व तत्वोंके प्रकाशनेकी अपेक्षा समानता है, केवल प्रत्यक्ष और परोक्षका ही भेद है। यदि दोनोंमेंसे एक न होय तो वस्तु ही न रहे। जो पदार्थ केवलज्ञानसे प्रगट होते हैं उन सबको परोक्षरूपसे शास्त्र बताता है। इसलिये सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंको दोनों बताते हैं—केवलज्ञान न हो तो स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो—और यदि स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो तो केवलज्ञान सबको जानता है यह बात कौन कहे। जो जिनवाणीसे तत्वोंको निश्चय तथा व्यवहार नयसे ठीक २ समझ लेता है वह ज्ञानापेक्षा परम संतुष्ट होजाता है। जैसे केवलज्ञानी ज्ञानापेक्षा निराकुल और संतोषी हैं वैसे शास्त्रज्ञानी भी निराकुल और संतोषी होजाता है। मूलाचार अनागार भावनामें कहा है कि साधु ऐसे ज्ञानी होते हैं—

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलवुद्धी।
णिउणत्थ सत्थकुसला परमपदवियाणया समणा ॥६७॥

भावार्थ—श्रुतरूपी रत्नसे जिनके कान भरे हुए हैं अर्थात् जो शास्त्रके ज्ञाता हैं, हेतु और नयके ज्ञाता पंडित हैं, तीव्र बुद्धि वाले हैं, अनेक सिद्धांत व्याकरण, तर्क, साहित्यादि शास्त्रोंमें कुशल

हैं वे ही साक्षात् परमपदरूप मुक्तिके ज्ञाता होते हैं।
वास्तवमें जो आगमके ज्ञाता हैं वे सर्व ज्ञेयोंके मूल स्वरूपके ज्ञाता हैं।
इस तरह आगमके अभ्यासको कहते हुए प्रथम स्थलमें चार सूत्र पूर्ण हुए ॥ ५९ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आगमका ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा श्रद्धान ज्ञानपूर्वक चारित्र इन तीनोंकी एकता ही मोक्षमार्ग है।

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीति भणइ सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो ॥ ६० ॥

आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य।
नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥ ६० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(इह) इसलोकमें (जस्स) जिस जीवके (आगमपुव्वा) आगमज्ञान पूर्वक (दिट्ठी) सम्यग्दर्शन (ण भवदि) नहीं है (तस्स) उस जीवके (संजमो णत्थीत्ति सुत्तं भणइ) संयम नहीं है ऐसा सूत्र कहता है। (असंजदो) जो असंयमी है वह (किध) किस तरह (समणो) श्रमण या साधु (हवदि) होसक्ता है?

विशेषार्थ—दोषरहित अपनी शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है। ऐसी रुचि सहित सम्यग्दर्शन जिसके नहीं है वह परमागमके बलसे निर्मल एक ज्ञानस्वरूप आत्माको जानते हुए भी न सम्यग्दृष्टि है और न सम्यग्ज्ञानी है। इन दोनोंके अभाव होते हुए पंचेंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा तथा छः प्रकार जीवोंके वधसे अलग रहनेपर भी कोई जीव संयमी नहीं होसक्ता है। इससे यह सिद्ध किया गया कि परमागमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमपना ये तीनों ही एक साथ मोक्षके कारण होते हैं।

है । क्योंकि ज्ञानावरणीय और मोहनीय कर्मोंका उदय अभी विद्यमान है । इन्हीं कर्मोंके नाशके लिये सम्यग्दृष्टिको स्वानुभूतिकी लब्धि प्राप्त होजाती है । कषायोंके कारणसे यद्यपि सम्यग्दृष्टि गृहस्थको गृहस्थारंभमें, राज्यकार्यमें, व्यापारमें, शिल्पकर्म व कृषिकर्म आदिमें वर्तन करना पड़ता है तथापि वह अंतरंगसे इनकी ऐसी गाढ़ रुचि नहीं रखता है जैसी गाढ़रुचि उसको स्वानुभव करनेकी होती है इसलिये वह अपना समय स्वानुभव करनेके लिये निकालता रहता है । इसी स्वानुभवके अभ्याससे सत्तामें स्थित कषायोंकी शक्ति घटती जाती है । जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय दब जाता है तब वह बाहरी आकुलता घटानेको श्रावकके बारह व्रतोंको पालने लगता है । इसी तरह स्वानुभवका अभ्यास भी बढ़ता जाता है । इस बढ़ते हुए स्वरूपाचरणके प्रतापसे जब प्रत्याख्यानावरण कषाय भी दब जाते हैं तब मुनिका पद धारणकर तथा सर्व परिग्रहका त्याग कर परम वीतरागी हो आत्मध्यान करता है और उसी समय उसको यथार्थ श्रमण या मुनि कहते हैं । इसीलिये यदि कोई सम्यक्तके विना इंद्रियदमन करे, प्राणी-रक्षा पाले, साधुके सर्व बाहरी चारित्रका अभ्यास करे तब भी वह संयमी नहींहोसक्ता है, क्योंकि वह न स्वरूपाचरणको पहचानता है और न उसकी प्राप्तिका यत्न ही करता है । इसलिये यही मोक्षमार्ग है, जहां सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र तीनों एक साथ हों, इसी मार्गपर जो आरूढ़ है वही सयंमी है या साधु है । जबतक भावमें सम्यग्दर्शन नहीं होता है तबतक साधुपना नहीं होता है । भावपाहुड़में स्वामी कुन्दकुन्दने कहा है—

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ ७३ ॥

भावार्थ–जो पहले मिथ्यात्व अज्ञान आदि दोषोंको त्यागकर अपने भावोंमें नग्न होकर एक रूप शुद्ध आत्माका श्रद्धान ज्ञान आचरण करता है वही पीछे द्रव्यसे जिन आज्ञा प्रमाण बाहरी नग्न भेष मुनिका प्रगट करै, क्योंकि धर्मका स्वभाव भी यही है। जैसा वहीं कहा है—

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ८५ ॥

भावार्थ–रागादि सकल दोपोंको छोड़कर आत्माका आत्मामें रत होना सो ही संसार समुद्रसे तारनेका कारण धर्म है ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है।

जो रत्नत्रय धर्मका सेवन करता है वही साधु होसक्ता है ॥९६॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आगमका ज्ञान, तत्त्वार्थका श्रद्धान तथा संयमपना इन तीनोंका एक कालपना व एक साथपना नहीं होवे तो मोक्ष नहीं होसक्ती है।

णहि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ ९७ ॥

न ह्यागमेन सिद्ध्यति श्रद्धानं यदि नास्त्यर्थेषु।
श्रद्दधान अर्थानसंयतो वा न निर्वाति ॥ ५७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जदि) यदि (अत्थेसु सद्दहणं न अत्थि) पदार्थोंमें श्रद्धान नहीं होवे तो (नहि आगमेन सिद्धचति) मात्र आगमके ज्ञानसे सिद्ध नहीं होसक्ता है। (अत्थे सद्दहमाणो)

पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ (असंजदो वा ण णिव्वादि) यदि असंजम है तो भी निर्वाणको नहीं प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ—यदि कोई परमात्मा आदि पदार्थोंमें अपना श्रद्धान नहीं रखता है तो वह आगमसे होनेवाले मात्र परमात्माके ज्ञानसे सिद्धि नहीं पासक्ता है तथा चिदानन्दमई एक स्वभाव रूप अपने परमात्मा आदि पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ भी यदि विषयों और कषायोंके आधीन रहकर असंयमी रहता है तो भी निर्वाणको नहीं पासक्ता है ।

जैसे किसी पुरुषके हाथमें दीपक है तथा उसको यह निश्चय नहीं है कि यदि दीपकसे देखकर चलूँगा तो कूएंमें मैं न गिरूँगा इससे दीपक मेरा हितकारी है, तो उसके पास दीपक होनेसे भी कोई लाभ नहीं है । तैसे ही किसी जीवको परमागमके आधारसे अपने आत्माका ऐसा ज्ञान है कि यह आत्मा सर्व पदार्थ जो जानने योग्य हैं उनके आकारोंको स्पष्ट जाननेको समर्थ ऐसा एक अपूर्व ज्ञान स्वभावको रखनेवाला हैं तौ भी यदि उसको यह निश्चयरूप श्रद्धान नहीं है कि मेरा आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है तो उसके लिये दीपकके समान आगम क्या कर सक्ता है ? कुछ भी नहीं कर सक्ता है । अथवा जैसे वही दीपकको रखनेवाला पुरुष अपने पुरुषार्थके बलसे दीपकसे काम न लेता हुआ कूप पतनसे यदि नहीं बचता है तो उसका यह श्रद्धान कि दीपक मेरेको बचानेवाला है कुछ भी कार्यकारी नहीं हुआ, तैसे ही यह जीव श्रद्धान और ज्ञान सहित भी है, परन्तु पौरुषरूप चारित्रके बलसे रागद्वेषादि विकल्परूप असंयम भावसे यदि अपनेको नहीं

हटाता है तौ उसका श्रद्धान तथा ज्ञान उसका क्या हित कर सक्ते हैं? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सक्ते।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमागम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमपना इन तीनोंमेंसे केवल दो से वा मात्र एकसे निर्वाण नहीं होसक्ता है, किन्तु तीनोंके मिलनेसे ही मोक्ष होगा।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है इस बातको प्रगट किया है।

श्रद्धान चाहे जैसा करले परन्तु वह श्रद्धान आगम ज्ञानके आधारपर न हो तो उसका ज्ञानरहित श्रद्धान कुछ भी आत्माका हित नहीं कर सक्ता और यदि आगम ज्ञान हो परन्तु श्रद्धान न हो तो वह ज्ञान भी कुछ आत्म-हित नहीं कर सक्ता। यदि मात्र विषय कषायोंको रोके परन्तु तत्वका श्रद्धान व ज्ञान न हो तौ भी ऐसे कुचारित्रसे कुछ स्वहित नहीं होसक्ता। इसलिये तीनों अकेले अकेले आत्मकल्याण नहीं कर सक्ते हैं। यदि तीनोंमेंसे दो दो साथ हों तोभी मुक्तिका उपाय नहीं बन सक्ता है। यदि विना ज्ञानके मूढ़-श्रद्धासहित चारित्र पाले तो भी मोक्षमार्ग नहीं, अथवा श्रद्धा विना मात्र ज्ञान संहित चारित्र पाले तोभी मुक्तिका उपाय नहीं होसक्ता, अथवा चारित्र न पालकर केवल आगमज्ञान और श्रद्धानसे मुक्ति चाहे तौभी वह मोक्षमार्ग नहीं पासक्ता। मुक्तिका उपाय तीनोंकी एकता है। इसलिये आचार्य महाराजका यह उपदेश है कि—

परमागमसे तत्वोंको समझकर तथा उनका मनन कर मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषायको जीतकर सम्यग्दर्शनको

प्राप्त करे। तब सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञानका नाम भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है। श्रद्धान और ज्ञान हो जानेपर भी इस जीवको संतोष न मान लेना चाहिये कि अब हमने अपने आत्माको " परका कर्ता व भोक्ता नहीं है " ऐसा निश्चय कर लिया है- हमको अब कर्म बंध नहीं होगा इसलिये हमको संयम पालनेकी कोई जरूरत नहीं है। उसके लिये आचार्य कहते हैं कि जब श्रद्धान ज्ञान होजावे तब उसकी वीतरागता बढ़ाने तथा कषायोंको नाश करनेके लिये अवश्य चारित्र पालना चाहिये। जहां श्रद्धान ज्ञान सहित चारित्र होता है वहीं यथार्थ धर्म-ध्यान शुक्ल-ध्यान होता है, जिनके प्रतापसे यह आत्मा सर्व कर्मोंको जलाकर एक दिन बिलकुल मुक्त होजाता है। इसलिये रत्नत्रय ही मोक्ष मार्ग है ऐसा निश्चय रखना चाहिये।

अनगार धर्मामृतमें पं० आशाधरजी कहते हैं—

श्रद्धानबोधानुष्ठानैस्तत्त्व मिष्टार्थसिद्धिकृत् ।
समस्तैरेव न व्यस्तै रसायनमिवौषधम् ॥ ६४ ॥ प्र० अ०

भावार्थ—रसायनरूप औषधिका श्रद्धान व ज्ञान होनेपर जब वह सेवन की जायगी तब ही उससे फल होसकेगा। इसी तरह जब आत्मतत्वका श्रद्धान, ज्ञान होकर उसका साधन किया जायगा तब ही इष्ट पदार्थकी सिद्धि होसकेगी। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों मिल करके ही मोक्षमार्ग होसक्ते हैं अलग अलग नहीं। और भी कहा है—

श्रद्धानगन्धसिन्धुरमदुष्टमुद्यदवगममहामात्रम् ।
धीरोव्रतबलपरिवृतमारूढोऽरीन् जयेत्प्रणिधिहेत्या ॥६५॥

भावार्थ—जो मोक्षका इच्छक धीर पुरुष है वह प्रकाशमान ज्ञान रूपी महावतसे चलाए हुए श्रद्धानरूपी निर्मल गंधहस्तीपर आरूढ़ होकर चारित्ररूपी सेनाके परिवारसे वेष्ठित हो आत्मसमाधि रूपी अस्त्रसे कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लेता है।

श्री नागसेन मुनिने तत्वानुशासनमें भी कहा है:—

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥

भावार्थ—जो वीतरागी आत्मा अपने आत्मामें अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माको देखता जानता है वही सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र स्वरूप निश्चयसे मोक्षमार्गी है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है।

इसलिये रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षमार्ग है यह निश्चय करना योग्य है।

वृत्तिकारने दीपकका दृष्टांत दिया है कि जिसके दीपकका ज्ञान है कि इससे देखके चलना होता है व यह श्रद्धान है कि इसके द्वारा देखकर चलनेसे खाई खंधकमें गिरना नहीं होगा और फिर वह जब चलाता है तब दीपकसे देखकर चलता है तब ही दीपकसे वह अपना कल्याण कर सक्ता है। इसी तरह साधुको परमागमका ज्ञान व श्रद्धान करके उसके अनुसार चारित्र पालना चाहिये। निश्चय स्वरूपाचरणके लिये व्यवहार रत्नत्रयका साधन करना चाहिये। तब ही ज्ञानकी व श्रद्धानकी सफलता है।

इस तरह भेद और अभेद स्वरूप रत्नत्रयमई मोक्षमार्गको स्थापनकी मुख्यतासे दूसरे स्थलमें चार गाथाएँ पूर्ण हुई।

यहां यह भाव है कि बहिरात्मा अवस्था, अंतरात्मा अवस्था,

परमात्मा अवस्था या मोक्षअवस्था ऐसी तीन अवस्थाएं जीवकी होती हैं--इन तीनों अवस्थाओंमें जीव द्रव्य बरावर चला जाता है। इस तरह परस्पर अपेक्षासहित द्रव्यपर्यायरूप जीव पदार्थको जानना चाहिये। अब यहां मोक्षका कारण विचारा जाता है। मिथ्यात्व रागादि रूप जो बहिरात्मा अवस्था है वह तो अशुद्ध है इसलिये मोक्षका कारण नहीं होसक्ती है। मोक्षावस्था तो शुद्धात्मा रूप अर्थात् फलरूप है जोकि सबसे उत्कृष्ठ है। इन दोनों बहिरात्मावस्था और मोक्षावस्थासे भिन्न जो अंतरात्मावस्था है वह मिथ्यात्व रागादिसे रहित होनेके कारणसे शुद्ध है। जैसे सूक्ष्म निगोदिया जीवके ज्ञानमें और ज्ञानावरणीयका आवरण होनेपर भी क्षयोपशम ज्ञानका सर्वथा आवरण नहीं है तैसे इस अन्तरात्मा अवस्थामें केवलज्ञानावरणके होते हुए भी एक देश क्षयोपशम ज्ञानकी अपेक्षा आवरण नहीं है। जितने अंशमें क्षयोपशम ज्ञानावरणसे रहित होकर तथा रागादि भावोंसे रहित होकर शुद्ध है उतने अंशमें वह अंतरात्माका वैराग्य और ज्ञान मोक्षका कारण है। इस अवस्थामें शुद्ध पारिणामिक-भाव स्वरूप जो परमात्मा द्रव्य है वह तो ध्यान करनेके योग्य है। सो परमात्मा द्रव्य उस अंतरात्मापनेकी ध्यानकी अवस्था विशेषसे किसी अपेक्षा भिन्न है। यदि एकांतसे अंतरात्मावस्था और परमात्मावस्थाको अभिन्न या अभेद माना जायगा तो मोक्षमें भी ध्यान प्राप्त होजायगा अथवा इस ध्यान पर्यायके विनाश होते हुए पारणामिक भावका भी विनाश होजायगा, सो हो नहीं सक्ता। इस तरह बहिरात्मा, अंतरात्मा तथा परमात्माके कथन रूपसे मोक्षमार्ग जानना चाहिये।

भावार्थ यह है—जो जीव द्रव्यको क्षणिक मानते उनके मतमें मोक्ष नहीं सिद्ध होती अथवा जो जीव द्रव्यको पर्याय रहित कूटस्थ नित्य मान लेते हैं उनके मतमें भी संसारावस्थासे मोक्षावस्था नहीं बन सकी परन्तु जो द्रव्य पर्यायरूप अथवा नित्यानित्यरूप जीवको मानते हैं वहीं आत्माकी अवस्थाएं होसकी हैं। ऐसा जीव द्रव्यको मानते हुए जब इस जीवके "अपना शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है" ऐसी रुचि पैदा होजाती है, तबसे उसमें अंतरात्मावस्था पैदा हो जाती है। यही अवस्था मोक्षका हेतु है। इसी कारण रूप भावका ध्यान करते करते यह आत्मा गुणस्थानोंकी परिपाटीके क्रमसे अरहंत परमात्मा होकर फिर गुणस्थानोंसे बाहर परमात्मा होजाता है॥९७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना इन भेदरूप रत्नत्रयोंके मिलाप होनेपर भी जो अभेद रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधिमई आत्मज्ञान है वहीं निश्चयसे मोक्षका कारण है:—

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण॥ ५८॥

यदज्ञानी कर्म्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभिः।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण॥ ५८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अण्णाणी) अज्ञानी (जं कम्मं) जिस कर्मको (भवसयसहस्सकोडीहिं) एकलाखकोड़भवोंमें (खवेइ) नाश करता है। (तं) उस कर्मको (णाणी) आत्मज्ञानी (तिहिंगुत्तो) मन वचन काय तीनोंकी गुप्ति सहित होकर (उस्सासमेत्तेण) एक उच्छ्वास मात्रमें (खवेइ) क्षय कर देता है।

विशेषार्थ–निर्विल्प समाधिरूप निश्चय रत्नत्रयमई विशेष भेद ज्ञानको न पाकर अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मोंमें जिस कर्मबंधको क्षय करता है उस कर्मको ज्ञानी जीव तीन गुप्तिमें गुप्त होकर एक उच्छ्वासमें नाश कर डालता है। इसका भाव यह है कि बाहरी जीवादि पदार्थोंके सम्बन्धमें जो सम्यग्ज्ञान परमागमके अभ्यासके बलसे होता है तथा जो उनका श्रद्धान होता है और श्रद्धान ज्ञानपूर्वक व्रत आदिका चारित्र पाला जाता है, इन तीन रूप व्यवहार रत्नत्रयके आधारमे सिद्ध परमात्माके स्वरूपसें सम्यक्-श्रद्धान तथा सम्यग्ज्ञान होकर उनके गुणोंका स्मरण करना इसीके अनुकूल जो चारित्र होता है। फिर भी इसी प्रकार इन तीनके आधारसे जो उत्पन्न होता है। निर्मल अखंड एक ज्ञानाकार रूप अपने ही शुद्धात्मामें जानन रूप सविकल्प ज्ञान तथा "शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है" ऐसी रुचिका विकल्प रूप सम्यग्दर्शन और इसी ही आत्माके स्वरूपमें रागादि विकल्पोंको छोड़ते हुए जो सविकल्प चारित्र फिर भी इन तीनोंके प्रसादसे जो उत्पन्न होता है विकल्प रहित समाधिरूप निश्चय रत्नत्रयमई विशेष स्वसंवेदन ज्ञान उसको न पाकर अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मोंमें जिस कर्मका क्षय करता है उस कर्मको ज्ञानी जीव पूर्वमें कहे हुए ज्ञान गुणके होनेसे मन वचन कायकी गुप्तिमें लवलीन होकर एक श्वास मात्रसे ही या लीला मात्रसे ही नाश कर डालता है। इससे यह बात जानी जाती है कि परमागम ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना इन व्यवहार रत्नत्रयोंके होनेपर भी अभेद या निश्चय रत्नत्रय स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञानकी ही मुख्यता है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मज्ञान ही यथार्थ मोक्षका मार्ग है, क्योंकि आत्मज्ञानके प्रभावसे ज्ञानी जीव करोड़ों भवोंमें क्षय करने योग्य कर्म बंधनोंको क्षण मात्रमें क्षय कर डालता है। आत्मज्ञान रहित जिन कर्मोंको करोड़ों जन्म ले लेकर और उनका फल भोग भोगकर क्षय करता है उन कर्मोंको ज्ञानी जीव विना ही उनका फल भोगे उनकी अपनी सत्तामे निर्जरा कर डालता है। यह आत्मज्ञान निश्चय रत्न-त्रय स्वरूप है। यही स्वानुभव है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्र है। यही ध्यानकी अग्नि है जिसकी तीव्रतासे भरत चक्रवर्तीने एक अंतर्मुहूर्तमें चारों घातिया कर्मोंका क्षय कर डाला। जिनको यह स्वानुभवरूप आत्मज्ञान नहीं प्राप्त है वे व्यवहार रत्नत्रयके धारी हैं तौ भी मोक्षमार्गी नहीं हैं।

वृत्तिकारने आत्मज्ञान पैदा होनेकी सीढ़ियां बताई हैं पहली (१) सीढ़ी यह है कि जिनवाणीको अच्छी तरह पढ़कर हमे सात तत्त्वोंको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिये तथा विषय कषा-योंके घटानेके लिये मुनि वा गृहस्थके योग्य व्रतादि पालना चाहिये। (२) दूसरी सीढ़ी यह है कि सिद्ध परमात्माका ज्ञान, श्रद्धान करके उनके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। (३) तीसरी सीढ़ी यह है कि अपने ही आत्माके निश्चयसे शुद्ध परमात्मा जानना, श्रद्धान करना व रागादि छोड़ उसीकी भावना भानी। (४) चौथी सीढ़ी यह है कि विकल्प रहित स्वानुभव प्राप्त करना। जहां यद्यपि श्रद्धान ज्ञान, चारित्र है तथापि कोई विकल्प या विचार नहीं है मात्र अपने स्वरूपानंदमें मग्नता है। यही आत्मज्ञान है। यह सीढ़ी साक्षात्

मुक्ति सुन्दरीके महलमें पहुंचानेवाली है, अतएव जिनको यह चौथी सीढ़ी प्राप्त है वे ही कर्मोंको दग्धकर केवलज्ञानी हो जाते हैं।

स्वानुभव रूप सीढ़ीका लाभ अविरत सम्यग्दर्शनके चौथे गुणस्थानसे ही होजाता है, क्योंकि स्वानुभव दशा शक्तिके अभावसे अधिक कालतक "जबतक क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ़े" नहीं रह सक्ती है इसलिये अभ्यास करनेवालेको साधक अवस्थामें नीचेकी तीन सीढ़ियोंका भी आलम्बन लेना पड़ता है। आत्मस्वरूपमें तन्मयता ही अपूर्व काम करती है। कहा है—

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं ।
झाणोवओगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥ ८८१ ॥

भावार्थ—जो महारिषी इन्द्रियोंको दमन करते हुए राग द्वेषोंको त्यागकर ध्यानके उपयोगमें तन्मय हो जाते हैं वे मोह कर्मको नाश कर फिर सर्व कर्मोंको नाश कर डालते हैं।

पं० आशाधर अनगारधर्मामृतमें कहते हैं—

अहो योगस्य माहात्म्यं यस्मिन् सिद्धेऽस्ततत्पथः ।
पापान्मुक्तः पुमाल्लंब्धस्वात्मा नित्यं प्रमोदते ॥ १५८ ॥

भावार्थ—अहो यह ध्यानकी ही महिमा है जिस ध्यानकी सिद्धि होनेपर सर्व विकल्प मार्गको त्यागे हुए पापोंसे मुक्त हो अपने आत्माको अनुभव करता हुआ यह पुरुष नित्य आनन्दमें मग्न रहता है।

वास्तवमें स्वभावकी तन्मयता ही मुक्तिका बीज है। स्वामी कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड़में कहते हैं—

परदव्वरओ वज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स ॥ १३ ॥

भावार्थ-जो पर द्रव्योंमें लीन है वह बंधको प्राप्त होता है, परंतु जो विरक्त है वह नानाप्रकार कर्मोंसे मुक्त होजाता है ऐसा जिनेन्द्रका उपदेश बंध मोक्षके सम्बन्धमें संक्षेपसे जानना चाहिये ॥९८॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं जो पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण आत्मज्ञानसे रहित है उसके एक साथ आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा संयमपना होना भी कुछ कार्यकारी नहीं है। मोक्ष प्राप्तिमें अकिंचित्कर है:—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥५९॥

परमाणु प्रमाणं वा मूर्छा देहादिकेषु यस्य पुनः।
विद्यते यदि सः सिद्धिं न लभते सर्वागमधरो पि ॥ ५९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पुणो) तथा (जस्स) जिसके भीतर (देहादियेसु) शरीर आदिकोंसे (परमाणुपमाणं वा) परमाणु मात्र भी (मुच्छा) ममत्वभाव (जदि विज्जदि) यदि है तो (सो) वह साधु (सव्वागम धरो वि) सर्व आगमको जाननेवाला है तौ भी (सिद्धिं ण लहदि) मोक्षको नहीं पासक्ता है।

विशेषार्थ-सर्व आगमज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना एक कालमें होते हुए जिसके शरीरादि पर द्रव्योंमें ममता जरासी भी है उसके पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय रत्नत्रय मई स्वसंवेदनका लाभ नहीं है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि तत्वज्ञानी साधुको सर्व प्रकारसे रागद्वेष या ममत्वभावसे शून्य होकर ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण होजाना चाहिये। सिवाय अपने

शुद्ध आत्म द्रव्यके उसके शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंके व उसकी शुद्ध सिद्ध पर्यायके और कोई द्रव्य, गुण, पर्याय मेरा नहीं है ऐसा यथार्थ श्रद्धान तथा ज्ञान होना चाहिये–पर पदार्थके आलम्बनसे इंद्रियोंके द्वारा जो सुख तथा ज्ञान होता है वह न यथार्थ स्वाधीन सुख है, न ज्ञान है, ऐसा दृढ़ विश्वास जिसको होता है वही सर्व पदार्थोंसे ममता रहित होकर अपने आत्माके मननमें तन्मयता प्राप्त करता है और आत्माके अभेद रत्नत्रय स्वभावके ध्यानसे मुक्त होजाता है। जो कोई ग्यारह अंग १० पूर्व तक भी जाने परन्तु निज आत्मीक सुख व ज्ञानके सिवाय शरीर व इंद्रियोंके सुखमें किंचित् भी ममता रक्खे तो वह निर्विकल्प शुद्ध ध्यानको न पाता हुआ कभी भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सक्ता है। उसको तो ऐसा पक्का श्रद्धान होना चाहिये जैसा कि देवसेनाचार्यने तत्त्वसारमें कहा है—

परमाणुमित्तएयं जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि ।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ सवणो ॥५३ ॥

भावार्थ–जो योगी अपने मनसे परमाणु मात्र भी रागको न छोड़े तो वह साधु परमार्थ ज्ञाता होनेपर भी कर्मोंसे मुक्त नहीं हो सक्ता है।

ण मुयइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं।
सो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥ ५५ ॥

भावार्थ–जो अपने आत्मिक भावको न छोड़े और परभावोंमें न परिणमें तथा निज आत्माका ही ध्यान करे सो जीव प्रगटपने संवर और निर्जरा रूप कहा गया है।

परदव्वं देहाई कुणइ ममत्तिं च जाम तस्सुवरिं।
परसमयरदो तावं वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं॥ ३४॥

भावार्थ—देहादिक परद्रव्य हैं। जबतक इनके ऊपर ममता करता है तबतक परसमयरत है और नाना प्रकार कर्मोंसे बंधता है।

दंसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणियं।
जो वेयइ अप्पाणं सचेयणं सुद्धभावट्ठं॥ ४५॥

भावार्थ—जो शुद्ध भावोंमें स्थित ज्ञानचेतना सहित अपने आत्माको अनुभवमें लेता है उसीके ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र निश्चयनयसे कहे गए हैं।

सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

निर्ममत्वं परं तत्त्वं निर्ममत्वं परं सुखं।
निर्ममत्वं परं बीजं मोक्षस्य कथितं बुधैः॥ २३४॥
निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिच्छेदनम्।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति॥ २३५॥

भावार्थ—ममतारहितपना ही उत्कृष्ट तत्त्व है। यही परम सुख है, यही मोक्षका बीज है ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है। जो आत्मा ममतारहित भावमें स्थिति प्राप्त कर लेता है उसको परम उत्तम संसारकी स्थितिको छेदनेवाला सुख उत्पन्न हो जाता है।

इसलिये जहां पूर्ण स्वस्वरूपमें रमणता न होकर कुछ भी किसी जातिका पर पदार्थसे रागका अंश है वह कभी भी मुक्ति नहीं प्राप्त करसक्ता है। युधिष्ठिरादि पांच पांडव शत्रुंजय पर्वतपर आत्मध्यान कर रहे थे जब उनके शत्रुओंने गर्म गर्म लोहेके गहने पहनाए तब तीन बड़े भाई तो ध्यानमें मग्न निश्चल रहे किंचित् भी किसीकी ममता न करी इससे वे उसी भवमें मोक्ष होगए, परंतु

नकुल, सहदेवके मनमें यह राग उपज आया कि हमारे भाई दुःखसे पीड़ित हैं । इस जरासे राग भावके कारण वे दोनों मुक्ति न पहुंचकर सर्वार्थसिद्धिमें गए । इसलिये परम वैराग्य ही सिद्धिका कारण है, न कि केवल शास्त्रज्ञान ॥ ५९ ॥

उत्थानिका-आगे द्रव्य तथा भाव संयमका स्वरूप बताते हैं-

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाणं ।
सो संजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ॥ ६० ॥

त्यागश्च निरारंभो विषयविरागः क्षयः कषायाणां ।
स संयमेति भणितः प्रव्रज्यायां विशेषेण ॥ ६० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(चागो य) त्याग और (अणारंभो) व्यापार रहितपना (विसयविरागो) विषयोंसे वैराग्य (कसायाणं खओ) कषायोंका क्षय है (सो संजमोत्ति भणिदो) वही संयम है ऐसा कहा गया है । (पव्वज्जाए) तपके समय (विसेसेण) वह संयम विशेषतासे होता है ।

विशेषार्थ-निज शुद्धात्माके ग्रहणके सिवाय बाहरी और भीतरी २४ प्रकारकी परिग्रहका त्याग सो त्याग है । क्रिया रहित अपने शुद्ध आत्म द्रव्यमें ठहरकर मन वचन कायके व्यापारोंसे छूट जाना सो अनारम्भ है । इंद्रिय विषय रहित अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखमें तृप्ति रख करके पंचेन्द्रियोंके सुखोंकी इच्छाका त्याग सो विषय विराग है । कषाय रहित निज शुद्धात्माकी भावनाके बलसे क्रोधादि कषायोंका त्याग सो कषाय क्षय है । इन गुणोंसे संयुक्तपना जो होता है सो संयम है ऐसा कहा गया है । सामान्य करके यह संयमका लक्षण है । तपश्चरणकी अवस्थामें

यह संयम विशेष करके होता है। यहां अभ्यंतर परिणामोंकी शुद्धिको भाव संयम तथा बाह्यमें त्यागको द्रव्यसंयम कहते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें संयमके चार विशेषण बताए हैं—(१) त्याग अर्थात् जहां जो कुछ त्याग कर सकता है सो उसे छोड़ देना चाहिये। जन्मनेके पीछे जो कुछ वस्त्रादि परिग्रह ग्रहण की थी सो सब त्याग देना, भीतरसे औपाधिक भावोंको भी छोड़ देना, यहां तक कि शरीरसे भी ममता छोड़ देना सो त्याग है (२) अनारंभ—अर्थात् असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छः प्रकारके साधनोंसे आजीविका नहीं करना तथा बुहारी, उखली, चक्की, पानी, रसोई आदि बनानेका आरम्भ नहीं करना, मन वचन कायको आत्माके आराधनमें व संयमके पालनमें लवलीन रखना, गृहस्थके योग्य कोई व्यापार नहीं करना। (३) विषय विरागता—अर्थात् पांचों इन्द्रियोंकी इच्छाओंको रोककर आत्मानंदकी भावनामें तृप्ति पानेका भाव रखना। संसार शरीर व भोगोंसे उदासीनता भजना। (४) कषाय क्षय—क्रोध, मान, माया, लोभ व हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इन सर्व अशुद्ध भावोंको बुद्धिपूर्वक त्याग देना, अबुद्धिपूर्वक यदि कभी उपज आवें तो अपनी निन्दा गर्हा करके प्रायश्चित्त लेकर भावोंमें वीतरागताको जमाते रहना। ये चार विशेषण जहां होते हैं वहां ही मुनिका संयम होसक्ता है। वहां नियमसे परिणामोंमें भी वैराग्य होता है तथा बाहरी क्रियामें भी-आहार विहार आदिमें भी-यत्नाचार पूर्वक वर्तन पाया जाता है। द्रव्य संयम और भाव संयम तथा इंद्रिय संयम और प्राण संयम जहां हो वही मुनिका संयम

है । ऐसा संयमी मुनि जब निज आत्मानुभवमें तल्लीन होकर ध्यानस्थ होता है तब विशेष संयमी हो जाता है, क्योंकि शुभोपयोगसे हटकर शुद्धोपयोगमें जम जाता है जो साक्षात् भाव मुनिपना है । भाव मुनिपना ही कर्मकी निर्जराका कारण है । मोक्षपाहुड़में स्वयं आचार्य कहते हैं—

सव्वे कसायमुत्तं गारवमयरायदोसवामोहं ।
लोयववहारविरदो अप्पा झायइ झाणत्थो ॥ २७ ॥
मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
माणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥ २८ ॥

भावार्थ–सर्व क्रोधादि कषायोंको, गारव अर्थात् रस, ऋद्धि व साताका अहंकार, मद, राग, द्वेष, मोहको छोड़कर तथा लौकिक व्यवहारसे विरक्त होकर ध्यानमें ठहरकर आत्माको ध्याना चाहिये तथा मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य व पाप कर्मको मन वचन कायसे छोड़कर योगीको ध्यानमें तिष्ठकर मौन सहित आत्माको अनुभवमें लाना चाहिये ॥ ६० ॥

उत्थानिका–आगे आगमका ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान, संयमपना इन तीनोंकी भेद रूपसे एक कालमें प्राप्ति तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान इन दोनोंका संभवपना दिखलाते हैं अर्थात् इन सविकल्प और अविकल्प भावके धारीका स्वरूप बताते हैं—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ ६१ ॥

पंचसमितस्त्रिगुप्तः पंचेन्द्रियसंवृतो जितकषायः ।
दर्शनज्ञानसमग्रः श्रमणः स संयतो भणितः ॥ ६१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पंचसमिदो) जो पांच समितियोंका धारी है, (तिगुत्तो) तीन गुप्तिमें लीन है, (पंचेदियसंवुडो) पांच इंद्रियोंका विजयी है, (जिदकसाओ) कषायोंको जितनेवाला है (दंसणणाणसमग्गो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है (सो समणो) वह साधु (संजदो) संयमी (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थ-जो व्यवहार नयसे पांच समितियोंसे युक्त है, परंतु निश्चय नयसे अपने आत्माके स्वरूपमें भले प्रकार परिणमन कर रहा है; जो व्यवहार नयसे मन वचन कायको रोक करके त्रिगुप्त है, परंतु निश्चय नयसे अपने स्वरूपमें लीन है; जो व्यवहारकरके स्पर्शनादि पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे हटकरके संवृत है, परतु निश्चयसे अतींद्रिय सुखके स्वादमें रत है; जो व्यवहार करके क्रोधादि कषायोंको जीत लेनेसे जितकषाय है, परंतु निश्चयनयसे कषाय रहित आत्माकी भावनामें रत है; तथा जो अपने शुद्धात्माका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन तथा स्वसंवेदन ज्ञान इन दोनोंसे पूर्ण है सोही इन गुणोंका धारी साधु संयमी है ऐसा कहा गया है। इससे यह सिद्ध किया गया कि व्यवहारमें जो बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धमें व्याख्यान किया गया उससे सविकल्प सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोंका एक साथ होना चाहिये, भीतरी आत्माकी अपेक्षा व्याख्यानसे निर्विकल्प आत्मज्ञान लेना चाहिये। इस तरह एक ही सविकल्प भेद सहित तीनपना तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान दोनों घटते हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बात झलका दी है कि आत्मज्ञान या आत्मध्यान ही मुनिपना है तथा वही संयम है जो

मुक्तिद्वीपमें लेजाता है। जहां आत्मध्यान होता है वहां निश्चय और व्यवहार दोनों ही मोक्षमार्ग पाए जाते हैं–ईर्या, भाषा, एषणा आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापण इन पांच समितियोंमें यत्नाचारसे वर्तन करूं यह तो व्यवहार धर्म है और जहां आत्मध्यानमें मग्नता है वहां ये पांचों ही उसके अपने स्वरूपकी सावधानीमें गर्भित हैं यह निश्चयधर्म है। मन, वचन कायको दंड करके वश रक्खूं यह व्यवहार धर्म है। अपने आत्म स्वरूपमें गुप्त होजाना निश्चय धर्म है जहां मन वचन कायका वश होना गर्भित है। पांचों इंद्रियोंकी इच्छाओंको निरोधूं यह व्यवहार धर्म है, अपने शुद्ध स्वरूपमें संवर रूप होजाना निश्चय धर्म है वहां इंद्रिय निरोध गर्भित है। क्रोधादि चार कषायोंको वश रक्खूं यह व्यवहार धर्म है, कषाय रहित आत्मामें एकरूप होजाना यह निश्चयधर्म है इसमें कषाय विजयगर्भित है। तत्वार्थोंका श्रद्धान करना व्यवहार धर्म है। निज आत्माका परसे भिन्न श्रद्धान करना निश्चयधर्म है इसमें तत्वार्थ श्रद्धान गर्भित है, आगमका ज्ञान व्यवहार धर्म है, अपने आत्मामें आत्माका अनुभव करना निश्चय धर्म है। इस स्वसंवेदन ज्ञानमें आगमज्ञान गर्भित है।

जब कोई निश्चयधर्ममें आरूढ़ होजाता है तब व्यवहार मार्ग और निश्चयमार्ग उससे छूट नहीं जाते, किन्तु उन मार्गोंका विकल्प छूट जाता है। जहां तक विचार है वहां तक मार्गमें चलनेका विकल्प है, जहां आत्मामें थिरता है वहां विचार नहीं है। उस समय जैसे नमककी डली पानीमें डूबकर पानीके साथ एकमेक होजाती है उसी तरह ज्ञानोपयोग आत्माके स्वभावमें डूबकर उससे एकमेक होजाता है। स्वरूपमें थिरता पानेके पहले जबतक व्यवहार धर्मका विकल्प

था कि मैं समिति पालूं, गुप्ति रक्खूं, इंद्रिय दमूं, कषायोंको जीतूं, सात तत्व ही यथार्थ हैं, आगमसे ही श्रुतज्ञान होता है तबतक व्यवहार मार्गपर चल रहा था। जब यह विकल्प रह गया कि मेरा आत्मा ही सब कुछ है, वही एक मेरा निजद्रव्य है, उसीमें ही तन्मय होना चाहिये तब वह निश्चय मार्गपर चल रहा है। इस तरह चलते २ अर्थात् आत्माकी भावना करते २ जब स्वानुभव प्राप्त करलेता है तब विचारोंकी तरंगोंसे छूटकर कल्लोल रहित समुद्रके समान निश्चल होजाता है। इसीको आत्मध्यान कहते हैं। यद्यपि यह ध्यान निश्चय और व्यवहार नयके विकल्पसे रहित है तथापि वहां दोनों ही मार्ग गर्भित हैं। उसने एक आत्माको ही ग्रहण किया है इससे निश्चय मार्ग है तथा उसकी इंद्रियां निश्चल हैं, मन थिर है, कषायोंका वेग नहीं है, गमन भोजन शौचादि नहीं हैं, तत्वार्थश्रद्धान व आत्मश्रद्धान है, आगमका यथार्थज्ञान है तथा निज आत्माका ज्ञान है; ये सब उस आत्मध्यानमें इसी तरह गर्भित है जैसे एक शर्बतमें अनेक पदार्थ मिले हों, एक चटनीमें अनेक मसाले मिले हों, एक औषधिमें अनेक औषधियें मिली हों। इस तरह जहां आत्मज्ञान है उसी समय वहां तत्वार्थश्रद्धान, आगमज्ञान तथा संयमपना है—इन सबकी एकता है। इस एकतामें रमणकर्ता ही संयमी श्रमण है। जैसा श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता यूयं झाणं समब्भसह॥

अर्थात्—मुनि ध्यानमें ही निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गको

नियमसे प्राप्त कर लेते हैं इसलिये तुम सब लोग प्रयत्नचित होकर एक आत्मध्यानका ही अभ्यास करो ।

श्रीअमृतचंद्र आचार्यने तत्त्वार्थसारमें कहा है:—

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥ ३ ॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥ ४ ॥
आत्माज्ञाततयाज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः ।
स्वस्थो दर्शनचारित्र मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥ ७ ॥
पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८ ॥

भावार्थ—अपने ही शुद्ध आत्माका जो श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र है वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग है। परद्रव्योंकी अपेक्षासे तत्वोंका श्रद्धान, आगमका ज्ञान, व्यवहार तेरह प्रकार चारित्र पालन सो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। आत्मा ज्ञाता है इसने वही ज्ञान, सम्यक्त व चारित्र रूप होता हुआ, मिथ्यात्व और कषायोंकी वायुसे चलायमान न होता हुआ, अपने आत्मामें ठहरा हुआ अपने स्वरूपको ही श्रद्धता है जानता है; व आचरता है इसलिये एक वह आत्मा ही दर्शन ज्ञान चारित्र तीन स्वरूप होकर भी एक रूप कहा गया है। इसका भाव यही है कि जब निर्विकल्प आत्मध्यान व स्वसंवेदन ज्ञान व आत्मानुभव होता है तब वहां निश्चय और व्यवहार दोनों ही मोक्षमार्ग गर्भित हैं। इसमें तात्पर्य यह निकला कि हमको व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गके द्वारा अपने स्वरूपमें ही तन्मय

होकर आत्मरसका ही पान करना चाहिये। जो ऐसे साधु हैं वे ही सच्चे संयमी हैं व मोक्षमार्गी हैं ॥ ६१ ॥

उत्थानिका—आगे आगमका ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान, संयमीपना इन तीन विकल्परूप लक्षणसे एकसाथ युक्त तथा तब ही निर्विकल्प आत्मज्ञानमें युक्त जो कोई संयमी होता है उसका क्या लक्षण है ऐसा उपदेश करते हैं। यहां "इति उपदेश करते हैं" इसका यह भाव लेना कि शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हैं। इस तरह प्रश्नोत्तरको दिखानेके लिये कहीं २ यथासंभव इति शब्दका अर्थ लेना योग्य है।

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्टुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥६२॥

समशत्रुबन्धुवर्गः समसुखदुःखः प्रशंसानिन्दासमः।
समलोष्टकांचनः पुनर्जीवितमरणे समः श्रमणः ॥ ६२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(समसत्तुबंधुवग्गो) जो शत्रु व मित्र समुदायमें समान बुद्धिका धारी है, (समसुहदुक्खो) जो सुख दुःखमें समानभाव रखता है, (पसंसणिंदसमो) जो अपनी प्रशंसा व निन्दामें समताभाव करता है, (समलोट्टुकंचणो) जो कंकड़ और सुवर्णको समान समझता है, (पुण) तथा (जीविदमरणे समो) जो जीवन तथा मरणको एकसा जानता है वही (समणो) श्रमण या साधु है।

विशेषार्थ—शत्रु बंधु, सुख दुःख, निन्दा प्रशंसा, लोष्ट कंचन तथा जीवन मरणमें समताकी भावनामें परिणमन करते हुए अपने ही शुद्धात्माका सम्यग्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरणरूप जो

निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न जो निर्विकार परम आल्हादरूप एक लक्षणधारी सुखरूपी अमृत उसमें परिणमन स्वरूप जो परम समताभाव सो ही उस तपस्वीका लक्षण है जो परमागमका ज्ञान, तत्वार्थका श्रद्धान, संयमपना इन तीनोंको एक साथ रखता हुआ निर्विकल्प आत्मज्ञानमें परिणमन कररहा है ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बता दिया है कि साधु वही है जो इस जगतके चारित्रको नाटकके समान देखता है। जैसे नाटकमें हर्ष विषादके अनेक अवसर आते हैं। ज्ञानी जीव उन सबको एक दृश्यरूप देखता हुआ उनमें कुछ भी हर्ष विषाद नहीं करता है। साधु महाराज सिवाय अपनी आत्माकी विभूतिके और कोई वस्तु अपनी नहीं जानते हैं। आत्माका धन शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र सुखादि है, उसको न कोई शत्रु बिगाड़ सक्ता न कोई मित्र उसे देसक्ता। इस तरह अपने स्वधनमें प्रेमालु होते हुए संसार शरीर भोगोंसे अत्यन्त उदास होते हैं। तब यदि कोई उनका उपकार करे तो उससे हित नहीं जनाते व कोई बिगाड़ करे तो उससे द्वेष नहीं रखते हैं। सांसारिक साता व असाताको वह कर्मोदय जान न सातामें सुख मानते न असातामें दुःख मानते, कोई उनकी प्रशंसा करे तो उससे राजी नहीं होते कोई उनकी निन्दा करे तो उसमें नाराज नहीं होते। यदि कोई सुवर्णके ढेर उनके आगे करदे तो वह उससे लोभी नहीं होते या कोई कंकड़ पत्थरके ढेर कर दे तो उससे घृणा नहीं करते। यदि आयु कर्मानुसार जीते रहे तो कुछ हर्ष नहीं और यदि आयु कर्मके क्षयसे मरण होजाय तो कुछ विषाद नहीं। इस तरह समताभाव

जिस महात्माके भीतर राजता है वही जैन साधु है। वास्तवमें सुखदुःख मानने, अच्छाबुरा समझने, मान अपमान गिननेके जितने भाव हैं वे सब रागद्वेषकी पर्यायें हैं—कषायके ही विकार हैं। परम तत्त्वज्ञानी साधुने कषायोंको त्याग करके वीतराग भावपर चलना शुरू किया है इसलिये उनके कषायभाव नहीं होते। वे बाहरी अच्छी बुरी दशामें समताभाव रखते हुए उसे पुण्य पापका नाटक जानते हुए अपने निष्कषाय भावसे हटते नहीं। ऐसे साधु आत्मानुभवरूपी समताभावमें लवलीन रहते हैं इसीसे बाहरी चेष्टाओंसे अपने परिणामोंमें कोई असर नहीं पैदा करते। साधुओंको मुक्ति द्वीपमें जन्मना ही सच्चा जन्म भासता है। शरीरोंका बदलना वस्त्रोंके बदलनेके समान दिखता है। जो भावलिंगी साधु हैं उनके ये ही लक्षण हैं।

सो ही मोक्षपाहुडमें कहा है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो शरीरकी ममता रहित है, रागद्वेषसे शून्य है, यह मेरा इस बुद्धिको जिसने त्याग दिया है, व जो लौकिक व्यापारसे रहित है तथा आत्माके स्वभावमें रत है वही योगी निर्वाणको पाता है।

मूलाचार अनगारभावनामें कहा है—

जो सव्वगंथमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं .समं णेंति ॥ १५ ॥
सव्वारंभणिवत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि।
ण य इच्छंति ममत्ति परिग्गहे वालमित्तम्मि ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो सर्व मोहादि भीतरी परिग्रहसे रहित हैं, ममता रहित हैं तथा क्षेत्रादि बाहरी परिग्रहसे रहित हैं, नग्नरूपधारी हैं, शरीर संस्कारसे रहित हैं वे जिन प्रणीत चारित्रको समतासे पालते हैं। जो सर्व असि मसि आदि आरंभसे रहित हैं, जिन प्रणीत धर्ममें युक्त हैं, वे बालमात्र भी परिग्रहमें ममता नहीं करते हैं। ऐसे ही साधु समताभावमें रमण करते हुए सदा सुखी रहते हैं।

इस गाथाका तात्पर्य्य यही समझना चाहिये कि जिसके आगम-ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान व संयमपना होगा व साथ ही सच्चा आत्मज्ञान होगा व जो आत्मानंद रसिक होगा उस साधुका यही लक्षण है कि वह हर तरह समता व शांतिका रस पान करता रहे। उसे कोई कुछ भी कहे वह अपने परिणामोंको विकारी न करे ॥ ६२ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो यहां संयमी तपस्वीका साम्य-भाव लक्षण बताया है वही साधुपना है तथा वही मोक्षमार्ग कहा जाता है—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ॥ ६३ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु।
एकाग्रगत इति मतः श्रामण्यं तस्य परिपूर्णम् ॥ ६३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(जो दु) जो कोई (दंसणणाण चरित्तेसु तीसु) इन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोंमें (जुगवं समुट्ठिदो) एक काल भले प्रकार तिष्ठता है (एयग्गगदोत्ति मदो) वही एकाग्रताको प्राप्त है अर्थात् ध्यान मग्न है ऐसा माना गया है (तस्स परिपुण्णं सामण्णं) उसीके यतिपना परिपूर्ण है।

विशेषार्थ—जो भाव कर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इनसे भिन्न है तथा अपने सिवाय शेष जीव तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन सब द्रव्योंसे भी भिन्न है, और जो स्वभाव हीसे शुद्ध नित्य, आनंदमई एक स्वभाव रूप है। "वही मेरा आत्मद्रव्य है, वही मुझे ग्रहण करना चाहिये" ऐसी रुचि होना सो सम्यग्दर्शन है, उसी निज स्वरूपकी यथार्थ पहचान होना सो सम्यग्ज्ञान है तथा उसी ही आत्मस्वरूपमें निश्चलतासे अनुभव प्राप्त करना सो सम्यक्चारित्र है। जैसे शरबत अनेक पदार्थोंसे बना है इसलिये अनेक रूप है परंतु अभेद करके एक शर्वत है। ऐसे ही विकल्पसहित अवस्थामें व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये तीन हैं, परन्तु विकल्परहित समाधिके कालमें निश्चयनयसे इनको एकाग्र कहते हैं। यह जो स्वरूपमें एकाग्रता है या तन्मयता है इसीको दूसरे नामसे परमसाम्य कहते हैं। इसी परम साम्यका अन्य पर्याय नाम शुद्धोपयोग लक्षण श्रमणपना है या दूसरा नाम मोक्षमार्ग है ऐसा जानना चाहिये। इसी मोक्षमार्गका जब भेदरूप पर्यायकी प्रधानतासे अर्थात् व्यवहारनयसे निर्णय करते हैं तब यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्ग है। जब अभेदपनेसे द्रव्यकी मुख्यतासे या निश्चयनयसे निर्णय करते हैं तब कहते हैं कि एकाग्रता मोक्षमार्ग है। सर्व ही पदार्थ इस जगतमें भेद और अभेद स्वरूप हैं। इसी तरह मोक्षमार्ग भी निश्चय व्यवहार रूपसे दो प्रकार है। इन दोनोंका एकसाथ निर्णय प्रमाण ज्ञानसे होता है, यह भाव है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने फिर भी भावलिंगको प्रधा-

नतासे कहा है, क्योंकि यही साक्षात् कर्मबंधका नाशक व मोक्षावस्थाका प्रकाशक है। जहांपर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनका अलग २ विचार है वहां व्यवहारनयका आलम्बन है। जहां एक ज्ञायक आत्माका ही विचार है वहां निश्चयका आलम्बन है, परन्तु जहां विकल्प रहित होजाता है अर्थात् विचारोंको पलटना बन्द होजाता है वहां निर्विकल्प समाधि लगती है जिसको स्वानुभव कहते हैं। इस दशामें ध्याताके उपयोगमें विचारकी तरंगें नहीं हैं। तब ही वह निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्रमें एकतासे ठहरा हुआ अद्वैतरूप होजाता है, इसीको शुद्धोपयोग कहते हैं–यही साक्षात् मोक्ष मार्ग है, यही परम साम्यभाव है, यही पूर्ण मुनिपना है, यही साधक अवस्था है, इसीको ध्यानकी अग्नि कहते हैं, यही कर्म बंधनोंको जलाती है, यही आनन्दामृतका स्वाद प्रदान करती है। ऐसे श्रमणपदकी व्याख्या करते हुए ऐसा कहा जाता है कि इस समय यह साधु निश्चयसे मोक्षमार्गी है अर्थात् शुद्धोपयोगमें लीन है। निश्चयनयका विकल्प एकरूप अभेदका विचार व कथन है। व्यवहारनयका विकल्प अनेक रूप भेदका विचार व कथन है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्षमार्ग है यह व्यवहारका बचन है। प्रमाण ज्ञान दोनों अपेक्षासे एक साथ निश्चय व्यवहारको जानता है, क्योंकि प्रमाण सर्वग्राही है नय एकदेशग्राही है। ध्याता या साधकके अंतरंगमें स्वात्मानुभूतिके समय प्रमाण व नय आदिके विकल्प नहीं हैं वहां तो स्वरूप मग्नता है तथा परमसाम्यता है, रागद्वेषका कहीं पता भी नहीं चलता है। वास्तवमें यही मुनिपना है। आत्माका स्वभावरूप रहना

ही मुनिपना है। इसीको स्वामी कुंदकुंद मोक्षपाहुड़में कहते हैं।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥

भावार्थ—आत्माका स्वभाव चारित्र है सो आत्माका स्वभाव आत्माका साम्यभाव है। वह समताभाव रागद्वेष रहित आत्माका निज भाव है। फिर कहते हैं—

होउण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमइओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो योगी दृढ़ सम्यग्दर्शन सहित अपने ज्ञानकी भावना करता हुआ दृढ़ चारित्रवान होकर अपने आत्माको ध्याता है वही परम पदको पाता है। श्री योगेन्द्राचार्य योगसारमें कहते हैं—

जो समसुक्खणिलीण वुहु पुण पुण अप्प मुणेइ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाण लहेइ ॥६२॥

भावार्थ—जो बुधवान साधु समताके सुखमें लीन होकर वार वार अपने आत्माका अनुभव करता है सो प्रगटपने शीघ्र ही कर्मोंका क्षयकर निर्वाण पालेता है। अनगार धर्मामृतमें पं० आशाधर कहते हैं—

अहो योगस्य माहात्म्यं यस्मिन् सिद्धेऽस्त तत्पथः।
पापान्मुक्तः पुमाल्लंब्धः स्वात्मा नित्यं प्रमोदते ॥१५८॥

भावार्थ—यह ध्यानकी महिमा है जिस ध्यानकी सिद्धि होने पर कुमार्गसे परे रह पुरुष पापोंसे छूटकर अपने आत्माको पाकर नित्य आनंदित रहता है।

इस तरह निश्चय और व्यवहार संयमके कहनेकी मुख्यतासे तीसरे स्थलमें चार गाथाएं पूर्ण हुई ॥ ६३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो शुद्ध आत्मामें एकाग्र नहीं होता है उसके मोक्ष नहीं होसक्ती है—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ६४ ॥

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा द्रव्यमन्यदासाद्य ।
यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥ ६४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदि) यदि (समणो) कोई साधु (अण्णं दव्वं आसेज्ज) अपनेसे अन्य किसी द्रव्यको ग्रहण कर (मज्झदि वा) उसमें मोहित होजाता है (रज्जदि वा) अथवा उसमें रागी होता है (दुस्सदि वा) अथवा उसमें द्वेष करता है (अण्णाणी) तो वह साधु अज्ञानी है, इसलिये (विविहेहिं कम्मेहिं) नाना प्रकार कर्मोंसे (वज्झदि) बंध जाता है ।

विशेषार्थ—जो निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानसे एकाग्र होकर अपने आत्माको नहीं अनुभव करता है उसका चित्त बाहरके पदार्थोंमें जाता है तब चिदानन्द मई एक अपने आत्माके निज स्वभावसे गिर जाता है तब रागद्वेष मोह भावोंसे परिणामन करता है । इस तरह होकर नाना प्रकार कर्मोंसे बंध जाता है । इस कारण मोक्षार्थी पुरुषोंको चाहिये कि एकाग्रताके साथ अपने आत्म स्वरूपकी भावना करें ।

भावार्थ—यदि कोई साधुपद धारण करके भी अपने आत्माका ध्यान करना छोड़कर पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें व बाहरी सांसारिक कार्योंमें मोहित होकर किसीसे राग व किसीसे द्वेष करता है तो वह आत्मज्ञानसे शून्य होकर अज्ञानी होजाता है, तब मिथ्यादृष्टी जीवके

समान नाना प्रकारके कर्म बांधता है—उसके लिये वह मुनिपद केवल द्रव्यलिंग या भेष मात्र है। कार्यकी सिद्धि तो अभेद रत्नत्रयमई स्वानुभाव रूप साम्यभावसे होगी। वही वीतरागताके प्रभावसे कर्मोंको नाश कर सकेगा और आत्माको मुक्त होनेके निकट पहुंचाएगा। यदि उपयोग बाहरी पदार्थोंमें रमेगा तो आत्माकी प्रीतिको छोड़ बैठेगा तब मिथ्याश्रद्धानी, मिथ्याज्ञानी व मिथ्याचारित्री होता हुआ संसारके कारणीभूत कर्मोंका बंध करेगा। इसलिये रत्नत्रयकी एकताकी प्राप्ति ही मोक्ष मार्ग है। सम्यग्दृष्टि साधुगण अपने योग्य चारित्रके पालनमें सदा सावधान रहते हैं। वे धर्मके श्रद्धावान होते हुए प्रमादी नहीं होते और रात दिन इस जगतको नाटकके समान देखते हुए इसमें बिलकुल भी मोह नहीं करते। जहां मोह नहीं वहां राग द्वेष भी नहीं होते। परद्रव्योंको अपनेसे भिन्न उदासीनतारूप जाननेमें कोई दोष नहीं है उन्हींको रागद्वेष सहित जाननेमें दोष है। इसलिये आत्मध्यानके इच्छकको रागद्वेष मोह नहीं करने चाहिये। जैसा श्री नेमिचंद्र सि० च०ने द्रव्यसंग्रहमें कहा है।

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु।
थिर मिच्छदि जदि चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥

भावार्थ—यदि तू चित्तको स्थिर करना चाहता है इसलिये कि नाना प्रकारकी ध्यानकी सिद्धि हो तो तुझे उचित है कि तू इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष मोह मतकर।

वास्तवमें मुनिपद ध्यानके लिये ही व आत्मानुभवके रसके पान करनेके लिये ही धारण किया जाता है। यदि आत्मध्यानका साधन नहीं है व स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है तो वह मुनिपद मात्र

भेष मात्र है—उससे कुछ भी कार्यकी सिद्धि न होगी। श्री कुंदकुंद भगवानने लिंग पाहुडमें कहा है—

रागो करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेइ ।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१७॥

भावार्थ—जो साधु सदा स्त्रियोंसे राग करता है तथा दूसरोंमें द्वेष करता है तथा सम्यक्त व सम्यग्ज्ञानसे रहित है वह साधु नहीं किन्तु पशु है।

पव्वज्जहीणगहिणं णेहिं सीसम्मि वट्टदे वहुसो ।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१८॥

भावार्थ—जो दीक्षा रहित गृहस्थोंमें और अपने शिष्योंपर वहुत स्नेह करता है, मुनिकी क्रिया व गुरुकी विनयसे रहित है वह साधु नहीं है किन्तु पशु है।

और भी स्वामीने भावपाहुडमें कहा है—

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति ।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं ॥ १२२ ॥

भावार्थ—जो कोई द्रव्यलिंगी साधु इंद्रियोंके सुखोंके लिये व्याकुल हैं वे संसारका छेद नहीं करसके, परन्तु जो भाव साधु हैं वे ध्यानके कुठारोंसे संसार वृक्षको छेद डालते हैं।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणे भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥७४॥

भावार्थ—भाव ही स्वर्ग तथा मोक्षके सुखका कारण है। जो साधु भाव रहित है वह पापी कर्ममलसे मलिन होकर तिर्यंच गतिका पाप बंध करता है।

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥

भावार्थ—जो पहिले मिथ्यादर्शन आदि दोषोंको छोड़कर अंतरंग नग्न होजाता है, वही पीछे जिनकी आज्ञा प्रमाण द्रव्यसे मुनि लिंगको प्रगट करता है।

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहि उज्झियाइं वहुसो वाहिरणिग्गंथरूवाइं॥ ७ ॥

भावार्थ—हे सत्पुरुष! भाव रहित होकर अनादिकालसे इस अनंत संसारमें तूने वाहर मुनिका भेष बहुतवार ग्रहण किया और छोड़ा है ॥ ६४ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो अपने शुद्ध आत्मामें एकाग्र हैं उन हीके मोक्ष होती है:—

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुपयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ॥६५॥

अर्थेषु यो न मुह्यति नहि रज्यति नैव दोषमुपयाति।
श्रमणो यदि स नियतं क्षपयतिकर्माणि विविधानि ॥६५॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदि जो) तथा जो कोई (अत्थेसु) अपने आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें (ण मुज्झदि) मोह नहीं करता है, (णहि रज्जदि) राग नहीं करता है (णेव दोसमुपयादि) और न द्वेषको प्राप्त होता है (सो समणो) वह साधु (णियदं) निश्चयसे (विविधाणि कम्माणि खवेदि) नाना प्रकार कर्मोंका क्षय करता है।

विशेषार्थ—जो कोई देखे, सुने, अनुभवे भोगोंकी इच्छाको आदि लेकर अपध्यानको त्याग करके अपने स्वरूपकी भावना करता

ह उसका मन बाहरी पदार्थोंमें नहीं जाता है, तब बाहरी पदार्थोंकी चिन्ता न होनेसे विकार रहित चैतन्यके चमत्कार मात्र भावसे गिरता नहीं है। अपने स्वरूपमें थिर रहनेसे रागद्वेषादि भावोंसे रहित होता हुआ नाना प्रकार कर्मोंका नाश करता है। इसलिये मोक्षार्थीको निश्चल चित्त करके अपने आत्माकी भावना करनी योग्य है।

इस तरह वीतराग चारित्रका व्याख्यान सुनके कोई कहते हैं कि सयोग केवलियोंको भी एक देश चारित्र है, पूर्ण चारित्र तो अयोग केवलीके अंतिम समयमें होगा, इस कारणसे हमको तो सम्यग्दर्शनकी भावना तथा भेद विज्ञानकी भावना ही बस है। चारित्र पीछे हो जायगा? उसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिये। अभेद नयसे ध्यान ही चारित्र है। वह ध्यान केवलियोंके उपचारसे है तथा चारित्र भी उपचारसे है। वास्तवमें जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सर्व रागादि विकल्प जालोंसे रहित शुद्धात्मानुभव रूपी छद्मस्थ अर्थात् अपूर्ण ज्ञानीको होनेवाला वीतराग चारित्र है वही कार्यकारी है, क्योंकि इसी ही के प्रतापसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये चारित्रमें सदा यत्न करना चाहिये यह तात्पर्य है।

यहां कोई शंका करता है कि उत्सर्ग मार्गके व्याख्यानके समयमें भी श्रमणपना कहा गया तथा यहां भी कहा गया यह क्यों? इसका समाधान करते हैं कि वहां तो सर्वपरका त्याग करना इस स्वरूप ही उत्सर्गकी मुख्यतासे मोक्षमार्ग कहा गया। यहां साधुपनेका व्याख्यान है कि साधुपना ही मोक्षमार्ग है इसकी मुख्यता है ऐसा विशेष है।

भावार्थ—यहां आचार्यने मोक्षमार्गका संक्षेप सार बता दिया है कि जो मोह, राग, द्वेष नहीं करता है वही साधु है और वही कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। वास्तवमें बंधका कारण मिथ्याश्रद्धान मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र सम्बन्धी मोह, राग, द्वेष है। जब तक इनका अस्तित्व है, संसारका कारण तीव्र कर्मबंध होता है। जब मिथ्याश्रद्धान बदलके सम्यक्‌श्रद्धान होजाता व मिथ्याज्ञान बदलके सम्यग्ज्ञान हो जाता है तब मात्र राग, द्वेषको हटाना रह जाता है जो अज्ञानपूर्वक नहीं किन्तु ज्ञानपूर्वक होता है तथापि उसको नष्ट करनेके ही लिये सामायिकका अर्थात् समतापूर्वक आत्मध्यानका विशेष अभ्यास किया जाता है। इसीके लिये श्रावकका एक देश चारित्र व मुनिका सर्वदेश चारित्र धारण किया जाता है। श्रमण परम क्षमावान होते हैं। उनके भावमें शत्रु व मित्र एक ही हैं व निश्चयदृष्टिसे सर्व आत्माओंको अपने समान मानते हुए राग द्वेषसे दूर रहकर वीतरागतामें रमण करते हैं। क्योंकि बंध मोह, राग, द्वेषसे होता है इसलिये बंधका नाश अर्थात् कर्मोंका क्षय सम्यक्तपूर्वक वीतरागतासे होता है। इसलिये जो वीत-राग सम्यक्त और वीतराग चारित्रमें रमण करता है वही निर्विकल्प समाधिकी अग्निसे सर्व कर्मोंका क्षयकर अरहंत और सिद्ध होजाता है। कुन्दकुन्दस्वामीने मोक्षपाहुड़में कहा है:—

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ १०२ ॥

भावार्थ–जो साधु वैराग्यवान है, परद्रव्योंसे रागी नहीं है, संसारके सुखसे विरक्त है किन्तु आत्मीक शुद्ध सुखमें लीन है, गुणोंसे शोभायमान है, त्यागने व ग्रहण करने योग्यमें निश्चयको रखनेवाला है तथा ध्यान और स्वाध्यायमें लीन है वही उत्तम मोक्ष स्थानको पाता है।

जहां रागद्वेष मोहका त्याग होकर शुद्धात्माका अनुभव होता है, अर्थात् जहां समयसारका अनुभव है वहीं मोक्षमार्ग है जैसा श्री अमृतचंद्रजी महाराजने समयसारकलशमें कहा है:—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ॥
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ ५१ ॥

भावार्थ–बहुत अधिक विकल्पजालोंके उठानेसे कोई लाभ नहीं। निश्चय बात यही है कि नित्य एक शुद्धात्माका ही अनुभव करो, क्योंकि आत्मीक रसके विस्तारसे पूर्ण तथा ज्ञानकी प्रगटताको रखनेवाले समयसार अर्थात् शुद्धात्मासे बढ़कर कोई दूसरा पदार्थ नहीं है ॥ ६९ ॥

इस तरह श्रमणपना अर्थात् मोक्षमार्गको संकोच करनेकी मुख्यतासे चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे शुभोपयोगधारियोंको आश्रव होता है इससे उनके व्यवहारपनसे मुनिपना स्थापित करते हैं—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ ६८ ॥

श्रमणाः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये ।
तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनाश्रवाः साश्रवाः शेषाः ॥ ६६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(समयम्मि) परमागममें (समणा) मुनि महाराज (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोगी (य सुहोवजुत्ता) और शुभोपयोगी ऐसे दो तरहके (होंति) होते हैं। (तेसु-वि) इन दो तरहके मुनियोंमें भी (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोगी (अणासवा) आश्रव रहित होते हैं (सेसा) शेष शुभोपयोगी मुनि (सासवा) आश्रव सहित होते हैं।

विशेषार्थ-जैसे निश्चयनयमे सर्व जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप सिद्ध जीवोंके समान ही हैं, परन्तु व्यवहारनयसे चारों गतियोंमें भ्रमण करनेवाले जीव अशुद्ध जीव हैं तैसे ही शुद्धोपयोगमें परिणमन करनेवाले साधुओंकी मुख्यता है और शुभोपयोगमें परिणमन करनेवालोंकी गौणता है. क्योंकि, इन दोनोंके मध्यमें जो शुद्धोपयोग सहित साधु हैं वे आश्रव रहित होते हैं व शेष जो शुभोपयोग सहित हैं वे आश्रववान् हैं। अपने शुद्धात्माकी भावनाके बलसे जिनके सर्व शुभ अशुभ संकल्प विकल्पोंकी शून्यता है उन शुद्धोपयोगी साधुओंके कर्मोका आश्रव नहीं होता है, परन्तु शुभोपयोगी साधुओंके मिथ्यादर्शन व विषय कषायरूप अशुभ आश्रवके रुकनेपर भी पुण्याश्रव होता है यह भाव है।

भावार्थ-यहां आचार्यने यह बात दिखलाई है कि जो साधु उत्सर्गमार्गी हैं अर्थात् शुद्धोपयोगमें लीन हैं व परम साम्यभावमें तिष्ठे हुए हैं उनके शुभ व अशुभ भाव न होनेसे पुण्य तथा पापका आश्रव तथा बन्ध नहीं होता है, क्योंकि वास्तवमें बंध कषायोंके

कारणसे होता है । जिनके कषायोंकी कलुषता या चिक्कणता नहीं होती है उनके कर्मोंका बंध नहीं होसक्ता है । शुद्धोपयोग बंधका नाशक है, बंधका कारक नहीं है; परन्तु जो साधु हर समय शुद्धोपयोगमें ठहरनेको असमर्थ हैं उनको अपवाद मार्गरूप शुभोपयोगमें वर्तना पडता है । शुद्धोपयोगमें चढनेकी भावना सहित शुभोपयोगमें वर्तनेवाला भी साधुपदसे गिर नहीं सक्ता है. परन्तु उसको व्यवहार नयसे साधु कहेंगे, क्योंकि वहां पुण्य कर्मका आश्रव व बंध होता है । निश्चयसे साधुपना वीतराग चारित्र है जहां बंध न हो । जबतक अरहंतपदकी निकटता न होवे तबतक निश्चय व्यवहार दोनों मार्गोंकी सहायता लेकर ही साधु आचरण कर सक्ता है । यद्यपि शुभोपयोगी भी साधु है परंतु वह शुद्धोपयोगकी अवस्था की अपेक्षा हीन है । तात्पर्य यह है कि साधुको शुभोपयोगमें तन्मय न होना चाहिये क्योंकि उसमें आश्रव होता है परन्तु सदा ही शुद्धोपयोगमें आरूढ होनेका उद्यम करना चाहिये ।

एक अभ्यासी साधु सातवें व छठे गुणस्थानोंमें वारवार आया जाया करता है । सातवेंका नाम अप्रमत्त है इसलिये वहां कषायोंका ऐसा मंद उदय है कि साधुकी बुद्धिमें नहीं झलकता है, इसलिये वहां शुद्धोपयोग कहा है परन्तु प्रमत्तविरत नाम छठे गुणस्थानमें संज्वलन कषायका तीव्र उदय है इसलिये प्रगट शुभ राग भाव परिणामोंमें होता है । तीर्थंकरकी भक्ति, शास्त्रपठन आदि कार्योंमें शुभ राग होनेसे शुभोपयोग होता है । इसलिये यहां पुण्य कर्मका बंध है ।

यद्यपि जहां तक कषायोंका कुछ भी अंश उदयमें है वहांतक

स्थिति व अनुभागबन्ध होगा तथापि जहां बुद्धिमें वीतरागता है तथा साथमें इतना कम कषायभावका झलकाव है कि साधुके अनुभवमें नहीं आता, वहां बन्ध बहुत अल्प होगा जिसको कुछ भी न गिनकर ऐसा कह दिया है कि शुद्धोपयोगीके आश्रव व बन्ध नहीं होता है। शुभोपयोगकी अपेक्षा शुद्धोपयोगमें मिश्रित कुछ कषायपनेसे बहुत अल्पबंध होगा। जब ग्यारवें बारहवें गुणस्थानमें कषायका उदय न रहेगा तब बन्ध न होगा। यद्यपि तेरहवें स्थान तक योगोंकी चपलता है इसलिये वहांतक आश्रव होता है तथापि ११, १२, १३ गुणस्थानोंमें कषायका उदय न होनेसे वह सांपरायिक आश्रव न होकर मात्र ईर्यापथ आश्रव होता है—साता वेदनीयकी वर्गणा आकर तुर्त फल देकर झड़ जाती है। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जावे तो पूर्ण शुद्धोपयोग वहीं है जहां योगोंकी भी चंचलता नहीं है अर्थात् अयोग गुणस्थानमें, तथापि साधककी बुद्धिमें झलकनेकी अपेक्षा शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थानसे कहा जाता है।

यहां ऐसा श्रद्धान रखना उचित है कि शुद्धोपयोग ही साक्षात् मुनिपद है, वही निर्विकल्प समाधि है, वही तत्वसार है उसीको ही ग्रहण करना अपना सच्चा हित है। इसी तत्वसारको जो आश्रव रहित है—आचार्य देवसेनने तत्वसारमें दिखाया है—

एवं सगयं तच्चं अण्णं तह परगयं पुणो भणियं।
सगयं णियअप्पाणं इयरं पंचावि परमेट्ठी ॥ ३ ॥
तेसिं अक्खररूवं भवियमणुस्साण झायमाणाणं।
वज्झइ पुण्णं बहुसो परंपराए हवे मोक्खो ॥ ४ ॥

जं पुणु समयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं ॥ ५ ॥
इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया।
तइया तं अवियप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु ॥ ६ ॥

भावार्थ–तत्व दो प्रकारका है एक स्वतत्व दूसरा परतत्व, इनमें स्वतत्व अपना आत्मा है तथा परतत्व अरहंतादि पंच परमेष्टी हैं। इन पंच परमेष्ठीके अक्षररूप मंत्रोंके ध्यानसे भव्य मनुष्योंको बहुत पुण्य बंध होता है तथा परम्परायसे मोक्ष होसकी है। और जो स्वतत्त्व है वह भी दो प्रकारका है। एक सविकल्प स्वतत्त्व, दूसरा निर्विकल्प स्वतत्त्व। जहां यह विचार किया जावे कि आत्मा ज्ञाता, दृष्टा आनन्दमई है वहां सविकल्प आत्मतत्व है, परन्तु जहां मनका विचार भी बंद होजावे केवल आत्मा अपने आत्मामें तन्मय हो स्वानुभवरूप हो जावे वहां निर्विकल्प आत्मतत्व है। राग सहित सविकल्प तत्व कर्मोंके आश्रवका कारण है जब कि वीतराग निर्विकल्प तत्व कर्मोंके आश्रवसे रहित है। जब इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्तता होती है तथा मन हलन चलनरहित अर्थात् संकल्प विकल्परहित होता है तब यह निर्विकल्प तत्व अपने आत्माके स्वरूपमें झलकता है जो वास्तवमें आत्माका स्वभाव ही है।

इसी बातको दिखलाना इस गाथाका आशय मालूम होता है। ॥६६॥

उत्थानिका–आगे शुभोपयोगी साधुओंका लक्षण कहते हैं–

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥६७॥

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु ।
विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या ॥ ६७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) यदि (सामण्णे) मुनिके चारित्रमें (अरहंतादिसु भत्ती) अनन्तगुण सहित अरहंत तथा सिद्धोंमें गुणानुराग है (पवयणाभिजुत्तेसु वच्छलदा) आगम या संघके धारी आचार्य उपाध्याय व साधुओंमें विनय, प्रीति व उनके अनुकूल वर्तन (विज्जदि) पाया जाता है तब (सा चरिया सुहजुत्ता भवे) वह आचरण शुभोपयोग सहित होता है ।

विशेषार्थ--जो साधु सर्व रागादि विकल्पोंसे शून्य परम समाधि अथवा शुद्धोपयोग रूप परम सामायिकमें तिष्ठनेको असमर्थ है उसकी शुद्धोपयोगके फलको पानेवाले केवलज्ञानी अरहंत सिद्धोंमें जो भक्ति है तथा शुद्धोपयोगके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुमें जो प्रीति है यही शुभोपयोगी साधुओंका लक्षण है ।

भावार्थ--इस गाथामें यह बतलाया है कि साधकोंमें शुभोपयोग कब होता है । आचार्यका अभिप्राय यही है कि शुद्धोपयोग ही मुनिपद है । उसीमें तिष्ठना हितकारी है, क्योंकि वह आश्रव रहित है, परन्तु कषायोंका जिसके क्षय होता जाता है वह तो फिर लौटकर शुभोपयोगमें आता नहीं किन्तु अंतर्मुहुर्त ध्यानसे ही केवलज्ञानी होजाता है । जिनके कषायोंका उदय क्षीण नहीं हुआ वे अंतर्मुहूर्त भी शुद्धोपयोगमें ठहरनेको लाचार होजाते हैं क्योंकि कषायोंके उदयकी तरङ्ग आजाती है व आत्मबलकी कमी है इससे उनको वहांसे हट करके शुभोपयोगमें आना पड़ता है । यदि शुभोपयोगका आलम्बन न लें तो उपयोग अशुभोपयोगमें चला

जावे जिससे मुनि मार्ग भृष्ट होजावे । इस कारण शुभोपयोगमें ठहरते हुए शुभ रागके धार्मिकभाव किया करते हैं । वास्तवमें शुद्धोपयोगमें प्रीति होना व शुद्धोपयोगके धारक व आराधकोंमें भक्ति होना ही शुभोपयोग है । श्री अरहंत, सिद्ध परमात्मा शुद्धोपयोगरूप हैं । आचार्य, उपाध्याय, साधु शुद्धोपयोगके सेवक हैं । येही पांच परमेष्ठी हैं । तीन लोकमें येही मंगलरूप हैं, उत्तम हैं, व शरण लेने योग्य हैं । बड़े इन्द्र, धरणेंन्द्र, चक्रवर्ती आदि उन ही उत्तम पदधारी परमेष्ठियोंकी भक्ति सेवा करते हैं । मुनिगण भी इनहीको शुद्धोपयोगरूप भाव मुनिपदमें पहुंचनेके लिये आलम्बन जानकर इन्हींकी भक्ति व सेवा करते हैं । साधुगण शुभोपयोगमें ही अपनी छः नित्य आवश्यक क्रियाओंमें वन्दना व स्तुति करते , अरहंत व सिद्ध भगवानकी गुणावलीको प्रगट करनेवाले अनेक स्तोत्र रचने हैं, भजन बनाने हैं; तथा आचार्य महाराजकी विनय करते हुए उनकी आज्ञाको माथे चढ़ाते हैं व उपाध्याय महाराजसे रूका रहस्य समझकर ज्ञानमग्न रहते हैं तथा साधु महाराजकी विनय करके उनके रत्नत्रय धर्ममें अपना वात्सल्यभाव झलकाते हैं ।

इस शुद्धोपयोगकी भावना सहित शुभोपयोगसे दोनों ही कार्य होते —जितने अंशमें वैराग्य है उतने अंश कर्मोंकी निर्जरा करते व जितने अंश शुभोपयोग है उतने अंश महान् पुण्यकर्म बांधते हैं । इसी अर्हन्तभक्ति आचार्यभक्ति बहुश्रुतभक्ति व प्रवचनभक्तिके द्वारा ही शुभोपयोग धारियोंको तीर्थंकर नामका महान पुण्य कर्म बन्ध जाता है । भोपयोगके कारण ही देवगति बांधकर मुनिगण, सर्वार्थसिद्धि तक गमन कर शुभो

पयोगमें वर्तना मुनिका अपवादमार्ग है, उत्सर्गमार्ग नहीं है। शुभोपयोगी साधुओंकी दृष्टि शुद्धोपयोगकी ही तरफ रहती है, इसलिये ऐसा शुभोपयोग साधुओंके चारित्रमें हस्ताव-लम्बनरूप है, परन्तु यदि शुद्धोपयोगकी भावनासहित न हो तो वह निश्चय चारित्रका सहाई न होनेसे मात्र पुण्यबांधके संसारका कारण है, मुक्तिका हेतु नहीं है। इसीलिये, शुभोपयोगरूप विनयको तथा वैयावृत्यको तप संज्ञा दी है कि ये दोनों अपने तथा अन्यके स्वरूपाचरण चारित्रके उपकारी हैं।

श्री मूलाचार पंचाचार अधिकारमें कहते हैं:—

उवगूहणादिआ पुव्वुत्ता तह भत्तिआदिआ य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य दंसणविणओ समासेण॥ १६८॥

भावार्थ—उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य, प्रभावना आदि सम्यक्तके आठ अंगोंके पालनेमें उत्साही रहना तथा अरहंतादि पंचपरमेष्ठीकी भक्ति व पूजा करनी, शंका कांक्षा आदि दोप न लगाना सो दर्शनका विनय है।

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य॥ १८६॥

भावार्थ—विनय मोक्षका द्वार है, विनयसे संयम तथा ज्ञानकी वृद्धि होती है। विनय ही करके आचार्य और सर्व संघकी सेवा की जाती है। शुभोपयोगमें ही साधुओंकी वैयावृत्ति की जाती है। जैसा वहीं कहा है—

आइरियादिसु पंचसु सबालवुड्ढाउलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए॥ १६२॥

भावार्थ-आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणधर इन पांच महान साधुओंकी तथा बालक, वृद्ध, रोगी व थके हुए साधुओंकी व गच्छकी सर्वशक्ति लगाकर वैयावृत्य करना कहा गया है ॥ ६७ ॥

उत्थानिका-आगे शुभोपयोगी मुनियोंकी शुभ प्रवृत्तिको और भी दर्शाते हैं।

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिया रायचरियम्मि ॥६८॥

वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः ।
श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ॥ ६८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(रागचरियम्मि) शुभ रागरूप आचरणमें अर्थात् सरागचारित्रकी अवस्थामें (वंदणणमंसणेहिं) वंदना और नमस्कारके साथ २ (अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती) आते हुए साधुको देखकर उठ खड़ा होना, उनके पीछे २ चलना आदि प्रवृत्ति तथा (समणेसु) साधुओंके सम्बन्धमें उनका (समावणओ) खेद दूर करना आदि क्रिया (ण णिंदिया) निषेध्य या वर्जित नहीं है।

विशेषार्थ-पंच परमेष्ठियोंको वंदना नमस्कार व उनको देखकर उठना, पीछे चलना आदि प्रवृत्ति व रत्नत्रयकी भावना करनेसे प्राप्त जो परिश्रमका खेद उसको दूर करना आदि शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति रत्नत्रयकी आराधना करनेवालोंमें करना उन साधुओंके लिये मना नहीं है किन्तु करने योग्य हैं, जो साधु शुद्धोपयोगके साधक शुभोपयोगमें ठहरे हुए हैं।

भावार्थ–इस गाथामें शुभोपयोगमें प्रवर्तनेवाले साधुओंके कार्यके कुछ लक्षण बताए हैं। पांच परमेष्ठियोंको वंदना व नमस्कार करना, दूसरे साधुओंको आते देखकर उनकी विनय करनेके लिये उठके खड़ा होना, उनको नमस्कार करना, योग्य आसन देना, कोई साधु गमन करते हों और आप उनसे कम पद-वीका हो तो उनके पीछे २ चलना, तथा यदि साधुओंको ध्यान स्वाध्याय मार्गगमन आदि कार्योंसे शरीरमें थकन चढ़ गई हो तो उनके शरीरकी वैय्यावृत्य करके उसको दूर करना, जिससे वे ध्यान व समाधिमें अच्छी तरह उत्साहवान हो जावें। इत्यादि, जो जो रागरूप क्रिया अपने और दूसरोंके शुद्धोपयोगकी वृद्धिके लिये की जावे वह सब शुभ प्रवृत्ति साधुओंके लिये मना नहीं है। अपवाद मार्गके अवलम्बनके विना उत्सर्ग मार्ग नहीं पल सक्ता है, इस वातको पहले दिखा चुके हैं क्योंकि उपयोगमें थिरता बहुत कम है। सराग चारित्रका पालन अपवाद मार्ग है। शुद्धोपयोगमें उपयोग अधिक कालतक ठहर नहीं सक्ता है इसी लिये अशुभोपयोगसे बचनेके लिये साधुओंको शुभोपयोगमें प्रवर्तना चाहिये।

साधुके आवश्यक नित्य कर्तव्योंमें प्रतिक्रमण, वन्दना, नमस्कार, स्वाध्याय आदि सब शुभोपयोगके नमूने हैं। इन शुभ क्रियाओंके मध्यमें उसी तरह साधुओंको शुद्धोपयोग परिणतिका लाभ होजाता है जिस तरह दूधको मथन करते हुए मध्य मध्यमें मक्खनका लाभ होजाता है। प्रमत्त गुणस्थानमें वैयावृत्य आदि शुभ क्रियाएँ करना साधुका तप है। व्यवहार तपका साधन सब शुभोपयोग रूप है।

उपवास रखने, ऊनोदर करने, प्रतिज्ञा कर भिक्षाके लिये जाने, रस त्यागने, एकांतमें बैठने सोनेका विकल्प करने, कायक्लेशतपका विचार करने, प्रायश्चित्त लेने, विनय करने, वैयावृत्त्य करने, शास्त्र पढ़ने, शरीरसे ममता त्यागनेका भाव करने, ध्यानके अभ्यासके लिये प्रयत्न करने आदि निश्चय तपके साधनोंमें शुभोपयोग ही काम करता है। यद्यपि शुभोपयोग बन्धका कारक है, त्यागने योग्य है तथापि शुद्धोपयोग रूप इच्छित स्थान पर ले जानेको सहकारी मार्ग है इसलिये ग्रहण करने योग्य है। जब साक्षात् शुद्धोपयोग होता है तब शुभोपयोग और उस सम्बन्धी सब कार्य स्वयं छूट जाते हैं। साधुओंका कर्तव्य इस तरह श्री मूलाचारजीके समाचार अधिकारमें बताया है। जैसे—

आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठंति ॥ १६० ॥
पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥ १६१ ॥

भावार्थ—दूरसे विहार करते हुए आते हुए साधुको देखकर शीघ्र सर्व संयमी मुनि उठ खडे होते हैं इसलिये कि वात्सल्य भाव बढ़े, सर्वज्ञकी आज्ञा पालन की जावे तथा उनको अपनाया जावे व प्रणाम किया जावे। फिर सात कदम आगे जाकर परस्पर वंदना प्रति वंदना की जाती है तथा आगन्तुकके साथ यथायोग्य व्यवहार करके अर्थात् योग्य बैठनेका स्थान आदि देकर उनके रत्नत्रयकी कुशल पूछी जाती है।

वच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरुबालवुड्ढसेहाणं।
जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ॥ १७४ ॥

भावार्थ—मुनियोंके समूहमें रोगी साधुकी, शिक्षा व दीक्षा दाता गुरुकी, बालक व वृद्ध साधुकी व शिष्य साधुओंकी यथायोग्य सेवा अपनी शक्तिके अनुसार प्रयत्नपूर्वक करनी योग्य है। अनगार धर्मामृत ७ वें अध्यायमें है—

समाध्याधानसानाथ्ये तथा निर्विचिकित्सता।
सधर्मवत्सलत्वादि वैय्यावृत्त्येन साध्यते॥ ८१॥

भावार्थ—वैयावृत्त्य करनेसे ध्यानकी थिरता व सनाथपना तथा ग्लानिका मिटना, साधर्मियोंसे प्रेम आदि कार्योंकी सिद्धि होती है। हम तुम्हारे रक्षक हैं यह भाव सनाथपना है। वास्तवमें शुभोपयोगरूप साधन भी बड़ा ही उपकारी है। यदि साधु परस्पर एक दूसरेकी रक्षा न करे, परस्पर वैयावृत्त्य न करे, परस्पर विनय नमस्कार न करे तो परस्पर चारित्रकी वृद्धि न हो तथा परस्पर शुद्धोपयोगके साधनका उत्साह न बढ़े॥ ६८॥

उत्थानिका—आगे फिर भी कहते हैं कि शुभोपयोगी साधुओंकी ऐसी प्रवृत्तियें होती हैं न कि शुद्धोपयोगी साधुओंकी—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य॥ ६९॥

दर्शनज्ञानोपदेशः शिष्यग्रहणं च पोषणं तेषां।
चर्या हि सरागाणां जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च॥ ६९॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दंसणणाणुवदेसो) शंका आदि पचीस दोष रहित सम्यक्त तथा परमागमका उपदेश, (सिस्सग्गहणं) रत्नत्रयके आराधक शिष्योंको दीक्षित करना (च तेसिं पोषणं) और उन शिष्योंको भोजनादि प्राप्त हो ऐसी पोषनेकी चिंता (जिणिं-

दपूजोवदेसो य) तथा यथासंभव जिनेन्द्रकी पूजाआदिका धर्मोपदेश ये सब (सरागाणं चरिया) अर्थात् धर्मानुराग सहित चारित्र पालनेवालोंका ही चारित्र है ।

विशेषार्थ—कोई शिष्य प्रश्न करता है कि साधुओंके चारित्रके कथनमें आपने बताया कि शुभोपयोगी साधुओंके भी कभी२ शुद्धोपयोगकी भावना देखी जाती है तथा शुद्धोपयोगी साधुओंके भी कभी २ शुभोपयोगकी भावना देखी जाती है तैसे ही श्रावकोंके भी सामायिक आदि उदासीन धर्मक्रियाके कालमें शुद्धोपयोगकी भावना देखी जाती है तब साधु और श्रावकोंमें क्या अंतर रहा? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि आपने जो कहा वह सब युक्ति संगत है—ठीक है। परन्तु जो अधिकतर शुभोपयोगके द्वारा ही वर्तन करते हैं यद्यपि वे कभी कभी शुद्धोपयोगकी भावना कर लेते हैं ऐसे अधिकतर शुभोपयोगी श्रावकोंको शुभोपयोगी ही कहा है क्योंकि उनके शुभोपयोगकी प्रधानता है। तथा जो शुद्धोपयोगी साधु हैं यद्यपि वे किसी कालमें शुभोपयोग द्वारा वर्तन करते हैं तथापि वे शुद्धोपयोगी हैं क्योंकि साधुओंके शुद्धोपयोगकी प्रधानता है। जहां जिसकी बहुलता होती है वहां कम बातको न ध्यानमें लेकर बहुत जो बात होती है उसी रूप उसको कहा जाता है। हर जगह कथनके व्यवहारमें बहुलताकी प्रधानता रहती है। जैसे किसी वनमें आम्रवृक्ष अधिक हैं व और वृक्ष थोड़े हैं तो उसको आम्र-वन कहते हैं और जहां नीमके वृक्ष बहुत हैं आम्रादिके कम हैं वहां उसको नीमका वन कहते हैं, ऐसा व्यवहार है।

भावार्थ—इस गाथामें साधुओंके सरागचारित्र व शुभोपयोगसे वर्तनेके कुछ दृष्टांत और दिये हैं। जैसे साधुओंका यह कर्तव्य है कि जब वे ध्यानस्थ न हों तब अवसर पाकर जगतके जीवोंको सम्यग्दर्शनका मार्ग बतावें कि ऐ संसारी जीवों पचीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शनका पालन करो. सुदेव, सुगुरु व सुशास्त्रकी श्रद्धा रक्खो, जीवादि सात तत्वोंके स्वरूपमें विश्वास रक्खो, आत्मा व परको अच्छी तरह जानकर दोनोंके भिन्न २ स्वरूपमें भूल मत करो इस तरह सम्यग्दर्शनकी दृढ़ताका व मिथ्यातियोंको सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपदेश देवें, तथा गुणस्थान, मार्गणा, कर्म बंध, कर्मोदय, कर्मक्षय आदिका व्याख्यान करें तथा अध्यात्मिक कथनसे स्वपरको सुखशांतिके समुद्रमें मग्न करें। जो कोई स्त्री या पुरुष संसार शरीर भोगोंसे वैराग्यवंत हो आत्मकल्याणके लिये साधुपद स्वीकार करनेकी इच्छा प्रगट करें उनकी परीक्षा करके उन्हें अपना शिष्य करें, साधुपदसे भूषित करें। फिर अपने शिष्योंकी उसी तरह रक्षा करे जिस तरह पिता अपने पुत्रोंकी रक्षा करता है। उनको शास्त्रका रहस्य बतावें शक्तिके अनुसार उनको तप करनेका आदर्श करे, उनकी श्रम व रुग्न अवस्थामें उनके शरीरकी सेवा करे, जहां सुगमतासे भिक्षाका लाभ होसके ऐसे देशमें शिष्योंको लेकर विहार करे, यदि उनमें कोई दोष देखें उनको समझाकर, ताड़ना देकर उनको दोष रहित करें। तथा श्रावक श्राविकाओंको वे साधुगण जिनेन्द्रकी पूजा करनेका पूजामें तन, मन, धन लगानेका, मंदिरजीकी आवश्यक्ता या मंदिरजीके निर्माणका, मंदिरजीके जीर्णोद्धारका पात्रोंको भक्तिपूर्वक और दुःखित भुक्षितको दयापूर्वक आहार,

औषधि, अभय तथा विद्यादान देनेका, साधुओंकी सेवाका, श्राव-कके व्रतोंको पालनेका, शास्त्र स्वाध्याय करनेका, बारह प्रकार तपके अभ्यास करनेका, धर्म प्रभावनाका आदि गृहस्थोंके पालने योग्य धर्माचरणका उपदेश देवे और उन्हें यह भी समझावे कि क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रको अपनी २ पदवीके योग्य नीति व सत्यके साथ आजिविका करके संतोष सहित धर्माचरण करते हुए मनुष्य जन्मको विताना चाहिये । गृहमें भी जलमें कमलके समान निवास करना चाहिये इत्यादि उपासका ध्ययन नामके सातवें अंगके अनु-सार उपासकोंके संस्कार आदिका विधान उपदेशें-इत्यादि व्यवहार परोपकारके कार्योंमें साधुके शुभोपयोग रहता है । यदि धर्मानुरागसे शुभ कार्य न करके किसी प्रसिद्धि, पूजा, लाभादिके वश किये जावें तौ इन्हीं कार्योंमें आर्त्तध्यान होजाता है, परन्तु जैनके भावलिंगी साधु अपवाद मार्गमें रहते हुए परम उदासीनभाव व निस्पृहतासे धर्मोपदेश, वैयावृत्य आदि व्यवहार शुभ आचरण पालते हैं । भावना यह रहती है कि कब हम शीघ्र शुद्धोपयोगमें पहुंच जावें । वास्तवमें साधुगण एक दूसरेकी समाधानीमें प्रवर्तते हुए एक दूस-रेके धर्मकी रक्षा करते हैं । वैयावृत्य करना उनका मुख्य कर्तव्य है । श्री शिवकोटि आचार्यने भगवतीआराधनामें साधुको वैया-वृत्यके इतने गुण वर्णन किये हैं.—

गुण परिणामो सड्ढा, वच्छल्लं भत्ति पत्तलंभो य ।
संधाणं तव पूया अव्वुच्छित्ती समाधी य ॥ १४ ॥
आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य ।
वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि । १५ ॥

भावार्थ—वैयावृत्य करनेसे इतने गुण प्रगट होते हैं—
१ साधुओंके गुणोंमें अपना परिणमन, २ श्रद्धानकी दृढ़ता ३, वात्स-ल्यकी वृद्धि, ४ भक्तिकी उत्कटता, ५ पात्रोंका लाभ (जो सेवा करता है उसको सेवा-योग्य पात्र भी मिल जाते हैं), ६ रत्नत्रयकी एकता ७ तपकी वृद्धि, ८ पूजा प्रतिष्ठा, ९ धर्मतीर्थका बराबर जारी रहना, १० समाधिकी प्राप्ति, ११ तीर्थंकरकी आज्ञाका पालन, १२ संयमकी सहायता, १३ दानका भाव, १४ ग्लानिका अभाव, १५ धर्मकी प्रभावना व १६ कार्यकी पूर्णता। जो साधु वैयावृत्य करते हैं उनके इतने गुणोंकी प्राप्ति होती है।

अरहंतसिद्धभत्तो गुरुभत्तो सव्वसाहुभत्ती य।
आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभत्ती य॥ २२॥

भावार्थ—अरहंतकी भक्ति, सिद्ध महाराजकी भक्ति, गुरुकी भक्ति, सर्व साधुओंकी भक्ति और निर्मल धर्ममें भक्ति ये सब वैया-वृत्यसे होती हैं।

साहुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो।
साहू चेव हि संघो ण हु संघो साहुविदिरित्तो॥ २६॥

भावार्थ—साधुकी रक्षा करनेसे सर्व संघकी रक्षा होती है, क्योंकि साधु ही संघ है। साधुको छोड़कर संघ नहीं है।

अणुपालिदाय आणा संजमजोगा य पालिदा होंति।
णिग्गहियाणि कसायेंदियाणि साखिल्लदा य कदा॥ ३१॥

भावार्थ—वैयावृत्य करनेवालेने भगवानकी आज्ञा पाली, अपने और दूसरेके संयम तथा ध्यानकी रक्षा की, अपने और परके कषाय और इंद्रियोंका विजय किया तथा धर्मकी सहायता करी।

इस प्रकार शुभोपयोगी साधु अपना और परका बहुत: बड़ा

उपकार करते हैं। वास्तवमें श्रावक व साधुका चारित्र तथा जैन धर्मकी प्रभावना शुभोपयोगी साधुओं हीके द्वारा होसक्ती है।

वृत्तिकारने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि शुद्धोपयोग और शुभोपयोग दोनों सम्यग्दृष्टी श्रावक तथा साधुओंके होते हैं; परंतु साधुओंके शुद्धोपयोगकी मुख्यता है व शुभोपयोगकी गौणता है जब कि श्रावकोंके शुद्धोपयोगकी गौणता तथा शुभोपयोगकी मुख्यता है। इस लिये साधु महाव्रती संयमी तथा श्रावक अणुव्रती देश संयमी कहलाते हैं ॥ ६९ ॥

उत्थानिका—आगे शुभोपयोगधारी साधुओंके जो व्यवहारकी प्रवृत्तियें होती हैं उनका नियम करते हैं—

उवकुणदि जोवि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सोवि सरागप्पधाणो से ॥ ७० ॥

उपकरोति योपि नित्यं चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य ।
कार्यविराधनरहितं सोपि सरागप्रधानः स्यात् ॥ ७० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः—(जो वि) जो कोई (चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स) चार प्रकार साधुसंघका (णिच्चं) नित्य (कायविराधणरहिदं) छःकायके प्राणियोंकी विराधना रहित (उवकुणदि) उपकार करता है (सोवि) वह साधु भी (सरागप्पधाणो से) शुभोपयोगधारियोंमें मुख्य होता है।

विशेषार्थ—चार प्रकार संघमें ऋषि, मुनि, यति, अनगार लेने योग्य हैं। जैसा कहा है—" देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रसृतर्द्धिरारूढः श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः। राजा ब्रह्मा च देव परम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीणशक्ति।

प्राप्तो बुध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण।" भावार्थ-एक देश प्रत्यक्ष अर्थात अवधि मनःपर्ययज्ञानके धारी तथा केवलज्ञानी मुनि कहलाते हैं; ऋद्धि प्राप्त मुनि ऋषि कहलाते हैं, उपशम और क्षपकश्रेणिमें आरूढ़ यति कहलाते हैं तथा सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं। ऋद्धिप्राप्त ऋषियोंके चार भेद हैं-राज-ऋषि, ब्रह्मऋषि, देवऋषि, परमऋषि। इनमें जो विक्रिया और अक्षीणऋद्धिके धारी हैं वे राजऋषि हैं, जो बुद्धि और औषधि ऋद्धिके धारी हैं वे ब्रह्मऋषि हैं, जो आकाशगमन ऋद्धिके धारी हैं वे देव ऋषि हैं, परमऋषि केवलज्ञानी हैं। ये चारों ही श्रमण संघ इसीलिये कहलाता है कि इन सर्वोके सुख दुःख आदिके संबंधमें समताभाव रहता है। अथवा श्रमण धर्मके अनुकूल चलनेवाले श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका ऐसे भी चार प्रकार संघ है। इन चार तरहके संघका उपकार करना इस तरह योग्य है जिसमें उपकारकर्ता साधु आत्मीक भावना स्वरूप अपने ही शुद्ध चैतन्यमई निश्चय प्राणकी रक्षा करता हुआ बाह्यमें छः कायके प्राणियोंकी विराधना न करता हुआ वर्तन कर सके। ऐसा ही तपोधन धर्मानुराग रूप चारित्रके पालनेवालोंमें श्रेष्ठ होता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने दिखलाया है कि साधुओंको ऋषि मुनि यति अनगार चार तरहके साधु संघकी सेवा यथायोग्य करनी चाहिये, परन्तु अपने व्रतोंमें कोई दोष न लगाना चाहिये। ऐसा उपकार करना उनके लिये निषेध है जिससे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन छः प्रकारके जीवोंकी विरा-धना या हिंसा करनी पड़े अर्थात् वे गृहस्थोंके योग्य आरम्भ करके

उपकार नहीं कर सक्ते। यदि कोई साधु रोगी है तो उसको उपदेश रूपी औषधि देकर, उसका शरीर मर्दन कर, उसके उठने बैठनेमें सहायता देकर, इत्यादि उपकार कर सक्ते हैं, उसको औषधि व भोजन बनाकर व लाकर नहीं देसक्ते हैं। जिस आरम्भके वे त्यागी हैं अपने लिये भी नहीं करते वह दूसरोंके लिये कैसे करेंगे? साधुओंका मुख्य उपकार साधुओं प्रति ज्ञानदान है। मिष्ट जिन बचनामृतसे बड़ी बड़ी बाधाएं दूर होजाती हैं। केवली महाराजकी सेवा यही जो उनसे स्वयं उपदेश ग्रहणकर अपने ज्ञानकी वृद्धि करना। जब कोई साधु समाधिमरण करनेमें उपयुक्त हों, उस समय उनके भावोंकी समाधानीके लिये ऐसा उपदेश देना जिससे उनको कोई मोह न उत्पन्न होवे और वे आत्मसमाधिमें दृढ़ रहें।

संघकी वैयावृत्यमें यह भी ध्यान रखना होता है कि संघका विहार किस क्षेत्रमें होनेसे संयममें कोई बाधा नहीं आएगी, इसको विचारकर उसी प्रमाण संघको चलाना। यदि कहीं जैन मुनिसंघकी निन्दा होती हो तो उस समय अवसर पाकर उनके गुणोंको इस तरह युक्तिपूर्वक वर्णन करना जिससे निन्दकोंके भाव बदल जावें सो सब मुनिसंघकी सेवा है। कभी कहीं विशेष अवसर पड़नेपर मुनि संघकी रक्षार्थ अपने मुनिपदमें न करने योग्य कार्य करके भी संघके प्रेमवश संघकी रक्षा साधु जन करते हैं। जैसे श्री विष्णुकुमार मुनिने श्री अकंपनाचार्य आदि ७०० मुनि संघकी रक्षा स्वयं ब्राह्मणरूप धारण कर अपनी विक्रिया ऋद्धिके बलसे की थी; परन्तु ऐसी दशामें वे फिर गुरुके पास जाकर प्रायश्चित्त लेते हैं—परोपकारके लिये अपनी हानि करके फिर अपनी हानिको भर लेते हैं। परि-

णामोंमें अशुभोपयोगको न लाकर शुभोपयोगी मुनि परम उपकारी होते हैं, वे श्रावक श्राविकाओंको भी धर्ममार्गपर आरूढ़ होनेके लिये उपदेश देते रहते हैं व उनको उनके कर्तव्य सुझाते रहते हैं। कहीं किसी राजाको अन्यायी जानकर उसको उदासीन भावसे धर्म व न्यायके अनुसार चलनेका उपदेश करते हैं।

निरारम्भ रीतिसे अपने आत्मीक शुद्ध चारित्रकी तथा व्यवहार चारित्रकी रक्षा करते हुए साधुगण परोपकारमें प्रवर्त्तते हैं। यही शुभोपयोगी साधुओंके लिये परोपकारका नियम है। पं० आशाधर अनगार ध० में कहते हैं—

चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति च क्रिया।
स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ ॥ २० ॥

भावार्थ—ऐसे स्वपर उपकारी साधु इस पंचम कालमें बहुत कम हैं जो मन, वचन, कायको सरल रखते हुए वर्तते हैं। साधु महाराज जिस ज्ञान दानको करते हैं उसकी महिमा इस तरह वहीं कही है—

दत्ताच्छर्म किलैति भिक्षुरभयाश्तद्भवाद् भेषजा-
द्रोगान्तर संभवाद्शनतश्चोत्कर्षतस्तद्दिनम् ॥
ज्ञानात्वाशुभवन्मुदो भवमुदां तृप्तोऽमृते मोदते।
तद्दातृंस्तिरयन् ग्रहानिव रविर्भातीतरान् ज्ञानदः ॥५३॥

भावार्थ—यदि अभयदान दिया जावे तो संयमी इसी जन्म पर्यंत सुखको पासक्ता है। यदि औषधि दान दिया जाय तो जब तक दूसरा रोग न हो तबतक निरोगी रह सक्ता है। यदि भोजन दान किया जावे तो अधिकसे अधिक उस दिन तक तृप्त रह सक्ता है, परन्तु जो ज्ञान दान किया जावे तो उस शीघ्र आनंददायक

ज्ञानके प्रतापसे संसारके सुखोंसे तृप्त होकर साधु निरंतर अविनाशी मोक्षमें आनंद भोगता है । इसलिये ज्ञानदान देनेवाला साधु अभयदानादि करनेवाले दातारोंके मध्यमें इसी तरह शोभता है जिस तरह सूर्य, चंद्र व तारादि ग्रहोंको तिरस्कार करता हुआ चमकता है।

इसलिये शुभोपयोगी साधु ज्ञान दान द्वारा बहुत बड़ा उपकार करते हैं ॥ ७० ॥

उत्थानिका–आगे उपदेश करते हैं कि वैयावृत्यके समयमें भी अपने संयमका घात साधुको कभी नहीं करना चाहिये–

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ ७१ ॥

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्यर्थमुद्यतः श्रमणः ।
न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणां स्यात् ॥ ७१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जदि) यदि (वेज्जावच्चत्थमुज्जदो) वैयावृत्यके लिये उद्यम करता हुआ साधु (कायखेदं कुणदि) षट्कायके जीवोंकी विराधना करता है तो (समणो ण हवदि) वह साधु नहीं है, (अगारी हवदि) वह गृहस्थ होजाता है; क्योंकि (सो सावयाणं धम्मो से) षट्कायके जीवोंका आरम्भ श्रावकोंका कार्य्य है, साधुओंका धर्म नहीं है ।

विशेषार्थ–यहां यह तात्पर्य है कि जो कोई अपने शरीरकी पुष्टिके लिये वा शिष्यादिकोंके मोहमें पड़कर उनके लिये पाप कर्मकी या हिंसा कर्मकी इच्छा नहीं करता है उसीके यह व्याख्यान शोभनीक है; परन्तु यदि वह अपने व दूसरोंके लिये पापमई कर्मकी इच्छा करता है, वैयावृत्य आदि अपनी अवस्थाके योग्य

धर्म कार्यकी अपेक्षासे नहीं चाहता है उसके तबसे सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहो।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह शिक्षा दी है कि साधुको अपने संयमका घात करके कोई परोपकार व वैयावृत्त्य नहीं करना चाहिये। वास्तवमें शुभोपयोगमें वर्तना ही साधुके लिये अपवाद मार्ग है। उत्सर्ग मार्ग तो शुद्धोपयोगमें रमना है। वही वास्तवमें भावमुनिपद है। अपवाद मार्गमें लाचारीसे साधुको आना पड़ता है। उस अपवाद मार्गमें भी साधुको व्यवहार चारित्रसे विरुद्ध नहीं वर्तन करना चाहिये। साधुने पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्तिके पालनेका आजन्म व्रत धारण किया है, उसको किसी प्रकारसे भंग करना उचित नहीं है। अहिंसा महाव्रतको पालते हुए छः कायोंकी विराधनाका बिलकुल त्याग होता है। इसलिये अपने व्रतोंकी रक्षा करते हुए सेवा धर्म बजाना चाहिये यही साधुका धर्म है। यदि कोई साधु वैय्यावृत्यके लिये स्थावर या त्रस जीवोंकी हिंसा करके पानी लावे, गर्म करे, भोजन व औषधि बनावे तथा देवे तो वह उसी समयसे गृहस्थ श्रावक होजावेगा, क्योंकि गृहस्थ श्रावकोंको छः कायकी आरंभी हिंसाका त्याग नहीं है। आरम्भ करना गृहस्थोंका कार्य है न कि साधुओंका तथा वृत्तिकारके मतसे ऐसा अपनी पदवीके अयोग्य स्वच्छन्दतासे वर्तन करनेवाला सम्यग्दृष्टी भी नहीं रहता है क्योंकि उसने यथार्थ मुनिपदकी क्रियाका श्रद्धान छोड़ दिया है, परन्तु यदि श्रद्धान रखता हुआ किसी समय मुनियोंकी रक्षाके लिये श्रावकके योग्य आचरण करना पड़े तो

वह उस समयसे अपनेको श्रावक मानेगा और परोपकारार्थ अपनी हानि कर लेगा। तथापि इस दोषके निवारणके लिये प्रायश्चित लेकर फिर मुनिके चारित्रको यथायोग्य पालन करेगा। संपूर्ण हिंसाका त्यागी ही यति होता है जैसा पं० आशाधरने अनगार ध०में कहा है।

स्फुरद्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः ।
हिंसादेर्विरतः कार्त्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोंशतः ॥ २१॥

भावार्थ-जिसके आत्मज्ञान उत्पन्न होगया है, चारित्रमोहनीयमें प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय नहीं रहा है व जो विषयोंसे अपनी इच्छाको दूर कर चुका है, ऐसा साधु सर्व हिंसादि पांच पापोंसे विरक्त होता हुआ यति होता है। यदि कोई एक देश पांच पापोंका त्यागी है तो वह श्रावक है।

श्री मूलाचार पंचाचारम् अधिकारमें कहा है—

एइंदियादिपाणा पंचविधावज्जभीरुणा सम्मं ।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ॥६२॥

भावार्थ-पापसे भयभीत साधुको मन, वचन, कायसे पांच प्रकारके एकेंद्रियादि जीवोंकी भी कहीं भी हिंसा न करनी चाहिये। इस तरह पूर्ण अहिंसाव्रत पालना चाहिये ॥ ७१ ॥

उत्थानिका-यद्यपि परोपकार करनेमें कुछ अल्प बंध होता है, तथापि शुभोपयोगी साधुओंको धर्म संबंधी उपकार करना चाहिये, ऐसा उपदेश करते हैं—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो यदिवियप्पं ॥ ७२ ॥

जैनानां निरपेक्षं सागारानगारचर्यायुक्तानां ।
अनुकम्पायोपकारं करोतु लेपो यद्यप्यल्पः ॥ ७२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(यदिवियप्पं लेवो) यद्यपि अल्प बंध होता है तथापि शुभोपयोगी मुनि (सागारणगारचरियजुत्ताणं) श्रावक तथा मुनिके आचरणसे युक्त (जोण्हाणं) जैन धर्म धारियोंका (णिरवेक्खं) विना किसी इच्छाके (अणुकंपयोवयारं) दया सहित उपकार (कुव्वदि) करै।

विशेषार्थ-यद्यपि शुभ कार्योंमें भी कर्म बंध है तथापि शुभोपयोगी पुरुषको उचित है कि वह निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गपर चलनेवाले श्रावकोंकी तथा मुनियोंकी सेवा व उनके साथ दयापूर्वक धर्मप्रेम या उपकार शुद्धात्माकी भावनाको विनाश करनेवाले भावोंसे रहित होकर अर्थात् अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभकी इच्छा न करके करे।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने साधुको शिक्षा दी है कि उसको परोपकारी होना चाहिये। जब वह शुद्धोपयोगमें नहीं ठहर सक्ता है तब उसको अवश्य शुभोपयोगमें वर्तन करना पड़ता है। पांच परमेष्ठीकी भक्ति करना जैसे शुभोपयोग है वैसे ही संघकी वैय्यावृत्य भी शुभोपयोग है। जिनको धर्मानुराग होता है उनको धर्मधारियोंसे प्रेम होता ही है, क्योंकि धर्मका आधार धर्मात्मा ही हैं। इसलिये शुभोपयोगी साधुका मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इन चारों ही पर बड़ा ही प्रेम होता है तथा उनके कष्टको देख कर बड़ी भारी अनुकम्पा हृदयमें पैदा हो जाती है, तब वह साधु अपने अहिंसादि व्रतोंकी रक्षा

करता हुआ विना किसी चाहके-कि मेरी प्रसिद्धि हो व मुझे कुछ प्राप्ति हो व मेरी महिमा वढे-उस मुनि या श्रावकका अवश्य उपकार करता है। अपने धर्मोपदेशसे तृप्त कर देता है। उनको चारित्रमें दृढ़ कर देता है, उनकी शरीरकी थकन मेटता है। श्रावक व श्राविकाओंको धर्ममें दृढ़ करनेके लिये साधुजन ऐसा प्रेमरस गर्भित उपदेश देते हैं जिससे उनकी श्रद्धा ठीक हो जाती है तथा वे चारित्रपर दृढ़ हो जाते हैं। कभी कहीं अजैनोंके द्वारा जैन धर्म पर आक्षेप हों तो साधुगण स्याद्वाद नयके द्वारा उनकी कुयुक्तियोंका खंडन कर उनके दिल पर जैन मतका प्रभाव अंकित कर देते हैं। जैसे एक दफे श्री अकलंकस्वामीने बौद्धोंकी कुयुक्तियोंका खण्डनकर जैनधर्मका प्रभाव स्थापित किया था। मुनिगण नित्य ही श्रावकोंको धर्मोपदेश देते हैं। इतना ही नहीं वे साधु जीव मात्रका उपकार चाहते हैं, इससे नीच ऊँच कोई भी प्राणी हो चाहे वह जैनधर्मी हो व न हो, हरएकको धर्मोपदेश दे उसके अज्ञानको मेटते हैं। वे सर्व जीव मात्रका हित चाहते हैं इससे शुभोपयोगकी दशामें वे अपनी पदवीके योग्य परका हित करनेमें सदा उद्यमी रहते हैं।

शुभोपयोगकी प्रवृत्तिमें धर्मानुराग होता है जिसके प्रतापसे वे साधु वहुत पुण्य बांधते हैं तथा अल्प पाप प्रकृतियोंका भी वंध पड़ता है-घातिया कर्म पाप कर्म हैं जिनका सदा ही बंध हुआ करता है, जबतक रागका विलकुल छेद न हो।

अल्प बंधके भयसे यदि कोई साधु शुद्धोपयोगकी भूमिकामें न ठहरते हुए शुभोपयोगमें भी न ठहरे तो फल यह होगा कि

वह विषय कषायादि अशुभ कार्योंमें फँस जायगा। इसलिये इस गाथाका यह भाव है कि केवल धर्म प्रेमवश विना अपने स्वार्थके शुभोपयोगी साधुओंको संघका उपकार करना चाहिये। संघका उपकार है सो ही धर्मका उपकार है।

मुनिगण अपने शास्त्रोक्त वचनोंसे सदा उपकार करते रहते हैं। कहा है अनगार धर्मामृत चतुर्थ अ०में—

साधुरत्नाकरः प्रोद्यद्दयापीयूषनिर्भरः।
समये सुमनस्तृप्त्यै वचनामृतमुद्गिरेत्॥ ४३॥
मौनमेव सदा कुर्यादार्यः स्वार्थैकसिद्धये।
स्वैकसाध्ये परार्थे वा ब्रूयात्स्वार्थाविरोधतः॥ ४४॥

भावार्थ—साधु महाराज जो समुद्रके समान गंभीर हैं तथा उछलते हुए दयारूपी अमृतसे पूर्ण हैं, सज्जनोंके मनकी तृप्तिके लिये अवसर पाकर आगमके सम्बन्धरूप वचनरूपी अमृतकी वर्षा करें। साधु महाराज अपने स्वार्थकी जहां सिद्धि हो उस अवसरपर सदा ही मौन रक्खें। जैसे अपने भोजनपानादिके सम्बन्धमें अपनी कुछ सम्मति न देवें, परन्तु जहां जहां अपने द्वारा दूसरोंका धर्मकार्य व हित सिद्ध होता हो तो अपने आत्मकार्यमें विरोध न डालते हुए अवश्य बोलें या व्याख्यान देवें। वहीं यह भी कहा है।

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे स्वसिद्धान्तार्थविप्लवे।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने॥

भावार्थ—जहां धर्मका नाश होता हो, चारित्रका विगाड होता हो, जैन सिद्धांतके अर्थका अनर्थ होता हो, वहां वस्तुका स्वरूप प्रकाश करनेके लिये विना प्रश्नोंके भी बोलना चाहिये।

साधु महाराज परम सम्यग्दृष्टी होते हैं। उनके मनमें प्रभावना

अंग होता है । इसलिये जिस तरह बने सच्चे मोक्षमार्गका प्रकाश करते हैं और मिथ्या अंधकारको दूर करते हैं ॥ ७२ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि किस समय साधुओंकी वैय्यावृत्य की जाती है:—

रोगेण वा छुधाए तण्हणया वा समेण वा रूढं ।
देट्ठा समणं साधू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ ७३ ॥
रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा श्रमेण वा रूढं ।
दृष्ट्वा श्रमणं साधुः प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या ॥ ७३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(साधू) साधु (रोगेण) रोगसे (वा छुधाए) वा भूखसे (तण्हया वा) वा प्याससे (समेण वा) वा थकनसे (रूढं) पीडित (समणं) किसी साधुको (देट्ठा) देखकर (आदसत्तीए) अपनी शक्तिके अनुसार (पडिवज्जदु) उसका वैयावृत्य करे।

विशेषार्थ–जो रत्नत्रयकी भावनासे अपने आत्माको साधता है वह साधु है। ऐसा साधु किसी दूसरे श्रमणकी "जो जीवन मरण, लाभ अलाभ आदिमें समभावको रखनेवाला है, ऐसे रोगसे पीड़ित देखकर जो अनाकुलतारूप परमात्मास्वरूपसे विलक्षण आकुलताको पैदा करनेवाला है, या भूख प्याससे निर्बल जानकर या मार्गकी थकनसे वा मास पक्ष आदि उपवासकी गर्मीसे असमर्थ समझकर" अपनी शक्तिके अनुसार उसकी सेवा करे। तात्पर्य यह है कि अपने आत्माकी भावनाके घातक रोग आदिके हो जानेपर दूसरे साधुका कर्तव्य है कि दुःखित साधुकी सेवा करे। शेषकालमें अपना चारित्र पाले।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि एक साधु दूसरे साधुका किस समय वैय्यावृत्य करे। जब कोई

साधु रोगसे पीड़ित हो तब उसको उठाकर, बिठाकर, उसका मलादि हटाकर, उसको मिष्ठ उपदेश देकर उसके मनमें आर्तध्यानको पैदा न होने देवै—उसको समझावे कि नर्क गतिमें करोड़ों रोगोंसे पीड़ित रहकर इस प्राणीने घोर वेदना सही है व पशुगतिमें असहाय होकर अनेक कष्ट सहे हैं उसके मुकाबलेमें यह रोगका कष्ट कुछ नहीं है। रोग शरीरमें है आत्मामें नहीं है—आत्मा सदा निरोगी है। असाता वेदनीय कर्मके उदयका यह फल है। रोग अवस्थामें कर्मका फल विचारा जायगा तो धर्मध्यान रहेगा व परिणामोंमें शांति रहेगी और जो घबड़ाया जायगा तो भाव दुःखी होंगे व आर्तध्यानसे नवीन असाता कर्मका बंध पड़ेगा। इस तरह ज्ञानामृतरूपी औषधि पिलाकर उसके रोगकी आकुलताको शांत कर दे। इसी तरह भूख प्याससे पीड़ित देखकर अपने धर्मोपदेशसे उनको दृढ़ करे कि यहां जो कुछ भूख प्यासकी वेदना है वह कुछ भी नहीं है। नर्कगतिमें सागरोंपर्यंत भूख प्यासकी वेदना रहती है, परन्तु कभी भी भूख प्यास मिटती नहीं है। उस कष्टको यह जीव पराधीन बने सहता है। वर्तमानमें क्या कष्ट है कुछ भी नहीं, इसलिये मनमें आकुलता न लाना चाहिये। अपनी प्रतिज्ञासे कभी शिथिल न होना चाहिये। भूख प्यास शरीरमें है आत्माका स्वभाव इनकी इच्छाओंसे रहित है। इस समय प्रिय श्रमण तुम्हें समताभाव धारणकर इस कष्टको कष्ट न समझकर 'कर्मोदय होकर निर्जरा हो रही है' ऐसा जानकर शांति रखनी चाहिये। साधुओंका यही कर्तव्य है कि जो प्रतिज्ञा उपवासकी व वृत्तिपरिसंख्यान तपकी धारण की है उस संयमको कभी भंग न करें। यदि शरीर भी छूट जावे तौभी अपने

व्रतको न तोड़े। संयमका भंग होनेपर फिर इसका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। शरीर यदि छूट जायगा और संयम बना रहेगा तो ऐसी भी अवस्था आजायगी कि कभी फिर यह शरीर ही न धारण हो और यह आत्मा सदाके लिये मुक्त हो जावे, इत्यादि। उपदेशरूपी अमृत पिलाकर साधुको तृप्त करे जिससे उसके भूख प्यासकी चिंता न होकर धर्मध्यानकी ही भावना बनी रहे। यदि कोई साधुको दूरसे मार्गपर चलकर आनेसे थकन चढ़ गई हो अथवा उपवासोंकी गर्मीसे उसका थका हुआ शरीर दिखलाई पड़े तो अन्य साधुका कर्तव्य है कि उसका शरीर इस तरह दाबदें कि उसकी सब थकन दूर हो जावे। शरीरके मसलनेसे अशुद्धवायु निकल जाती है और शरीर ताजा हो जाता है। रोग, भूख, प्यास वा श्रम इन कारणोंके होनेपर ही दूसरे साधुका वैय्यावृत्य करना चाहिये जब यह अवसर न हो तब अपने शुद्धोपयोगमें लीन रहना चाहिये अथवा शास्त्र मननमें उपयोगको रमाना चाहिये।

श्री अमृतचंद्र सूरिने तत्वार्थसारमें वैय्यावृत्यका यही स्वरूप दिखाया है—

सूर्य्युपाध्यायसाधूनां शैक्षग्लानतपस्विनाम्‌ ॥
कुलसंघमनोज्ञानां वैयावृत्त्यं गणस्य च ॥ २७ ॥
व्याध्याद्युपनिपातेऽपि तेषां सम्यग्विधीयते ।
स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते ॥ २८ ॥

भावार्थ—आचार्य, उपाध्याय, दीर्घकाल दीक्षित साधु, नवीन दीक्षित शिष्य, रोगी मुनि, घोर तपस्वी, एक ही आचार्यके शिष्य कुल मुनि, मुनि संघ, एकगणके मुनि वा अतिप्रसिद्ध मुनि इत्यादि

कोई साधु या साधु समुदाय यदि रोग आदि वेदनासे पीड़ित हो तो उस समय उनका अपनी शक्तिके अनुसार उपाय करना उसे वैय्यावृत्य कहते हैं॥ ७३ ॥

उत्थानिका–आगे उपदेश करते हैं कि साधुओंकी वैय्यावृत्यके वास्ते शुभोपयोगी साधुओंको लौकिकजनोंके साथ भाषण करनेका निषेध नहीं है–

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुवालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा॥ ७४॥
वैयावृत्त्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां।
लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता॥ ७४॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(वा) अथवा (गिलाणगुरुवाल वुड्ढसमणाणं) रोगी मुनि, पूज्य मुनि, वालक मुनि तथा वृद्धमुनिकी (वेज्जावच्चणिमित्तं) वैय्याव्रतके लिये (सुहोवजुदा) शुभोपयोग सहित (लोगिगजणसंभासा) लौकिक जनोंके साथ भाषण करना (णिंदिदा ण) निषिद्ध नहीं है।

विशेषार्थः–जब कोई भी शुभोपयोग सहित आचार्य सरागचारित्ररूप शुभोपयोगके धारी साधुओंकी अथवा वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगधारी साधुओंकी वैय्यावृत्य करता है उस समय उस वैय्यावृत्यके प्रयोजनसे लौकिकजनोंके साथ संभाषण भी करता है। शेषकालमें नहीं, यह भाव है।

भावार्थ–इस गाथाका यह भाव झलकता है कि साधु महाराज अन्य किसी रोगी व वृद्ध व अशक्त साधुकी वैय्यावृत्य करते हुए ऐसी सेवा नहीं कर सक्ते हैं जिसमें अपने संयमका घात हो

अर्थात् अपनेको छःकायके प्राणियोंके घातका आरम्भ करना पड़े; परन्तु दूसरे श्रावक गृहस्थोंको उदासीनभावसे व इस भावसे कि मुनि संघकी रक्षा हो व इनका संयम उत्तम प्रकारसे पालन हो ऐसा उपदेश देसक्ते हैं कि श्रावकोंका कर्तव्य है कि गुरुकी सेवा करें-विना श्रावकोंके आलम्बनके साधुका चारित्र नहीं पाला जासक्ता है। इतना उपदेश देने हीसे श्रावकलोग अपने कर्तव्यमें दृढ़ हो जाते हैं और भोजनपान आदि देते हुए औषधि आदि देनेका बहुत अच्छी तरह ध्यान रखते हैं। अथवा श्रावक लोग प्रवीण वैद्यसे परीक्षा कराते हैं। तथा कोई वस्तु शरीरमें मर्दन करने योग्य जानकर उसका मर्दन करते हैं। अथवा दूसरे साधु किसी वैद्यसे संभाषण करके रोगका निर्णय कर सक्ते हैं। यहां यही भाव है कि वैयावृत्य बहुत ही आवश्यक तप है। इस तपकी सहायतामें यदि अन्य गृहस्थोंसे कुछ बात करनी पड़े तो शुभोपयोगी साधुके लिये मना नहीं है। अपने या दूसरेके विषय कषायकी पुष्टिके लिये गृहस्थोंसे बात करना मना है।

इस तरह पांच गाथाओंके द्वारा लौकिक व्यवहारके व्याख्यानके सम्बन्धमें पहला स्थल पूर्ण हुआ ॥ ७४ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि इस वैयावृत्य आदि रूप शुभोपयोगकी क्रियाओंको तपोधनोंको गौणरूपसे करना चाहिये, परन्तु श्रावकोंको मुख्यरूपसे करना चाहिये-

एसा पसत्थभूता समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥७५॥

एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम् ।
चर्या परेति भणिता तयैव परं लभते सौख्यम् ॥ ७५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(समणाणं) साधुओंको (एसा) यह प्रत्यक्ष (पसत्थभूता चरिया) धर्मानुराग रूप चर्या या क्रिया होती है (वा पुणो घरत्थाणं) तथा गृहस्थोंकी यह क्रिया (परेत्ति भणिदा) सबसे उत्कृष्ट कही गई है (ता एव) इसी ही चर्यासे साधु या गृहस्थ (परं सोक्खं) उत्कृष्ट मोक्षसुख (लहदि) प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ-तपोधन दूसरे साधुओंका वैय्यावृत्य करते हुए अपने शरीरके द्वारा कुछ भी पापारम्भ रहित व हिंसारहित वैयावृत्य करते हैं तथा वचनोंके द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। शेष औषधि अन्नपान आदिकी सेवा गृहस्थोंके आधीन है; इसलिये वैयावृत्यरूप ध गृहथोंका मुख्य है, किन्तु साधुओंका गौण है । दूसरा कारण यह है कि विकाररहित चैतन्यके चमत्कारकी भावनाके विरोधी तथा इंद्रिय विषय और कषायोंके निमित्तसे पैदा होनेवाले आर्त्त और रौद्रध्यानमें परिणमनेवाले गृहस्थोंके आत्माके आधीन जो निश्चय धर्म है उसके पालनेको उनको अवकाश नहीं है, परन्तु यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्मसे वर्तन करें तो वे खोटे ध्यानसे बचते हैं तथा साधुओंकी संगतिसे गृहस्थोंको निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गके उपदेशका लाभ होजाता है, इसीसे ही वे गृहस्थ परंपरा निर्वाणको प्राप्त करते हैं, ऐसा गाथाका अभिप्राय है ।

भावार्थ-इस गाथामें यह स्पष्ट कर दिया है कि साधुओंकी

हर तरहसे सेवा करना व अन्य शुभ धर्मका अनुष्ठान साधुओंके लिये गौण है किन्तु गृहस्थोंके लिये मुख्य है। साधुओंके मुख्यता शुद्धोपयोगमें रमण करनेकी है, किन्तु जब उसमें उपयोग न जोड़ सकनेके कारण शुभोपयोगमें आते हैं तब स्वाध्याय व मननमें अपना काल विताते हैं। उस समय यदि किसी साधुको श्रम व रोग आदिके कष्टसे पीड़ित देखते हैं तब आप उनको धर्मोपदेश देकर व शरीर मर्दन आदि करके उनकी सेवा कर लेते हैं; साधु गृहस्थ सम्बन्धी आरंभ नहीं कर सक्ता है; परन्तु गृहस्थोंको आरंभका त्याग नहीं है–वे योग्य भोजन पान औषधि आदिसे भली प्रकार सेवा कर सक्ते हैं, कमंडलमें जल न हो लाकर दे सक्ते हैं। इसलिये गृहस्थोंके लिये साधु सेवा आदि परोपकार करना मुख्य है, क्योंकि वे अपने धनादिके बलसे नाना प्रकार उपाय करके परोपकाररूप वर्तन करते हैं। साधुओंके जब शुद्धोपयोगकी मुख्यता है तव गृहस्थोंके लिये शुभोपयोगकी मुख्यता है। जैसे साधुओंके लिये शुभोपयोग गौण है वैसे गृहस्थोंके लिये शुद्धोपयोग गौण है। यद्यपि निश्चय व्यवहार रत्नत्रयका श्रद्धान और ज्ञान साधु और गृहस्थ दोनोंको होता है तथापि चारित्रमें बड़ा अंतर है। साधुओंके पास न परिग्रह है न उस सम्बन्धी आरंभ है, वे निरंतर सामायिक भावमें ही रहते हैं, कभी कभी उपयोगकी चंचलतासे उनको शुभोपयोगमें आना पड़ता है। जबकि गृहस्थी लोगोंको अनेक आरंभादि काम करने पड़ते हैं जिससे उनके आर्त रौद्रध्यान विशेष होता है, इसलिये उपयोग शुद्ध स्वरूपके ध्यानमें बहुत कम लगता है, परन्तु शुभोपयोग रूप धर्ममें विशेष लगता है।

इसीसे गृहस्थोंका मुख्य कर्तव्य है कि देवपूजा, गुरुभक्ति वैयावृत्य, परोपकार, दान आदि करके अपने उपयोगको अशुभ ध्यानोंसे बचावें और शुभध्यानमें लगावें। ये गृहस्थ सम्यक्तके प्रभावसे अतिशयकारी पुण्य बांध उत्तम देवादि पदवियोंमें कुछ काल भ्रमणकर परम्पराय अवश्य मोक्षके उत्तम सुखका लाभ करते हैं। साधुगण उसी जन्मसे भी मोक्ष जासक्ते हैं अथवा परम्पराय मोक्षका लाभ कर सक्ते हैं।

वैयावृत्य करना गृहस्थोंका मुख्य धर्म है। चार शिक्षाव्रतोंमें एक शिक्षाव्रत है। श्री समंतभद्र आचार्यने रत्नकरंडश्रावकाचारमें कहा है—

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमग्रहाय विभवेन॥ १११॥

व्यापत्ति व्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥ ११२॥

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानां।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥ ११४॥

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु॥ ११५॥

भावार्थ—गुणसमुद्र धर्मरूप गृहत्यागी तपोधनको अपनी शक्तिरूप विना किसी इच्छाके दान देना व उनकी सेवा करनी सो वैयावृत्य है।

संयमियोंके गुणोंमें प्रेम करके उनके ऊपर आई हुई आपत्तिको दूर करना, उनके चरणोंको दाबना, इत्यादि अन्य और भी करने योग्य उपकार करना सो वैयावृत्य है। गृहरहित अतिथियोंकी

पूजाभक्ति उसी तरह गृहकार्योंके द्वारा एकत्र किये हुए पाप कर्मको धो देती है जिस तरह जल रुधिरके मलको धो देता है।

साधुओंको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र, दान करनेसे भोग, उपासना करनेसे प्रतिष्ठा, भक्ति करनेसे सुन्दर रूप तथा स्तवन करनेसे कीर्तिका लाभ होता है।

सुभाषित रत्नसंदोहमें स्वामी अमितिगति साधुओंको दानोपकारके लिये कहते हैं—

यो जीवानां जनकसदृशः सत्यवाग्दत्तभोजी ।
सप्रेमस्त्रीनयनविशिखाभिन्नचित्तः स्थिरात्मा ॥
द्वेधा ग्रन्थादुपरममनाः सर्वथा निर्जिताक्षो ।
दातुं पात्रं व्रतपतिममुं वर्यमाहुर्जिनेन्द्राः ॥ ४८५ ॥

भावार्थ—जो सर्व प्राणियोंकी रक्षामें पिताके समान है, सत्यवादी हैं, जो भिक्षामें दिया जाय उसीको भोगनेवाला है, प्रेमसहित स्त्रीके नयनके कटाक्षोंसे जिसका मन भिदता नहीं है, जो दृढ़ भावका धारी है, अंतरंग परिग्रहसे ममतारहित है तथा जो सर्वथा इंद्रियोंको जीतनेवाला है ऐसे व्रतोंके स्वामी मुनि महाराजको दान देना जिनेन्द्रोंने उत्तम पात्रदान कहा है।

गृहस्थोंका मुख्य धर्म दान और परोपकार है।

इस तरह शुभोपयोगी साधुओंकी शुभोपयोग सम्बन्धी क्रियाके कथनकी मुख्यतासे आठ गाथाओंके द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥ ७९ ॥

इसके आगे आठ गाथाओं तक पात्र अपात्रकी परीक्षाकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—

उत्थानिका–प्रथम ही यह दिखलाते हैं कि पात्रकी विशेषतासे शुभोपयोगीको फलकी विशेषता होती है–

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणि हि वीयाणिव सस्सकालम्मि॥ ७६॥
रागः प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतं।
नानाभूमिगतानि हि बीजानीव सस्यकाले॥ ७६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(पसत्थभूदो रागो) धर्मानुराग रूप दान पूजादिका प्रेम (वत्थुविसेसेण) पात्रकी विशेषतासे (विवरीदं) भिन्न भिन्न रूप (सस्सकालम्मि) धान्यकी उत्पत्तिके कालमें (णाणाभूमिगदाणि) नाना प्रकारकी पृथ्वियोंमें प्राप्त (वीयाणिव हि) बीजोंके समान निश्चयसे (फलदि) फलता है॥

विशेषार्थ–जैसे ऋतुकालमें तरह तरहकी भूमियोंमें बोए हुए बीज जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भूमिके निमित्तसे वे ही बीज भिन्न२ प्रकारके फलोंको पैदा करते हैं, तैसे ही यह बीजरूप शुभोपयोग भूमिके समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्रोंके भेदसे भिन्न२ फलको देता है। इस कथनसे यह भी सिद्ध हुआ कि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभोपयोग होता है तो मुख्यतासे पुण्यबन्ध होता है परन्तु परम्परा वह निर्वाणका कारण है। यदि सम्यग्दर्शन रहित होता है तो मात्र पुण्यबन्धको ही करता है।

भावार्थ–इस गाथामें शुभोपयोगका फल एकरूप नहीं होता है ऐसा दिखलाया है। जैसे गेहूंका बीज बढ़िया जमीनमें बोया जावे तो बढ़िया गेहूं पैदा होता है, मध्यम भूमिमें बोया जावे तो मध्यम जातिका गेहूं पैदा होता है और जो भूमि जघन्य हो तो जघन्य

जातिका गेहूं फलता है। इस ही तरह पात्रके भेदसे शुभोपयोग करनेवालेका रागभाव भी अनेक भेदरूप होजाता है जिससे अनेक प्रकारका पुण्यबंध होता है तब उस पुण्यके उदयमें फल भी भिन्न २ प्रकारका होता है।

जैन शास्त्रोंमें दान योग्य पात्र दो प्रकारके बताए हैं एक सुपात्र और दूसरा कुपात्र। जिनके सम्यग्दर्शन होता है वे सुपात्र हैं। जिनके निश्चय सम्यक्त नहीं है, किन्तु व्यवहार सम्यक्त है तथा यथायोग्य शास्त्रोक्त आचरण है वे कुपात्र हैं। सुपात्रोंके तीन भेद हैं उत्तम, मध्यम, जघन्य। उत्तम पात्र निर्ग्रंथ साधु हैं, मध्यम व्रती श्रावक हैं, जघन्य व्रत रहित सम्यग्दृष्टी हैं। ये ही तीनों यदि निश्चय सम्यक्त शून्य हों तो कुपात्र कहलाते हैं। दातार भी दो प्रकारके होते हैं एक सम्यग्दृष्टी दूसरे मिथ्यादृष्टी। जिनको निश्चय सम्यक्त प्राप्त है ऐसे दातार यदि उत्तम, मध्यम या जघन्य सुपात्रको दान देते हैं व मनमें धर्मानुराग करते हैं तो परंपराय मोक्षमें बाधक न हो ऐसे अतिशयकारी पुण्यकर्मको बांध लेते हैं। वे ही सम्यक्ती दातार यदि इन तीन प्रकार कुपात्रोंको दान करते हैं तो बाहरी निमित्तके बदलनेसे उनके भावोंमें भी वैसी धर्मानुरागता नहीं होती है, इससे सुपात्र दानकी अपेक्षा कम पुण्यकर्म बांधते हैं। यद्यपि सुपात्र कुपात्रके बाहरी आचरणमें कोई अंतर नहीं है तथापि जिनके भीतर आत्मानंदकी ज्योति जल रही है ऐसे सुपात्रोंके निमित्तसे उनके कायमें वैसा ही दिखाव होता है जिसका दर्शन दातारके भावोंमें विशेषता करदेता है, वह विशेषता आत्मज्ञान रहित कुपात्रोंके शरीरके दर्शनसे नहीं होती है।

यदि दातार स्वयं सम्यक्तरहित हो, परन्तु व्यवहारमें श्रद्धावान हो तो वह उत्तम सुपात्र दानसे उत्तम भोगभूमि, मध्यम सुपात्र दानसे मध्यम भोगभूमि तथा जघन्य सुपात्रदानसे जघन्य भोगभूमिमें जाने योग्य पुण्य बांध लेता है, यह सामान्य कथन है। और यदि ऐसा दातार कुपात्रोंको दान करे तो कुभोगभूमिमें जानेलायक पुण्य बांध लेता है। परिणामोंकी विचित्रतासे ही फलमें विचित्रता होती है। यहां अभिप्राय यह है कि मुनि हो वा गृहस्थ हो उस हरएकको यह योग्य है कि वह शुद्धोपयोगकी भावना सहित व शुद्धोपयोगकी रुचि सहित उदासीनभावसे मात्र शुद्धोपयोग धर्मके प्रेमसे ही पात्रोंकी सेवा करे–कुछ अपनी बडाई पूजा लाभादिकी वांछा नहीं करै, तव इससे यथायोग्य ऐसा पुण्यबंध होगा जो मोक्षमार्गमें बाधक न होगा।

पात्र तीन प्रकार हैं, ऐसा पुरु०में अमृतचंद्रजी कहते हैं–

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

भावार्थ–मोक्षमार्गके गुणोंकी जिनमें प्रगटता है ऐसे पात्र तीन प्रकार हैं जघन्य व्रत रहित सम्यग्दृष्टी, मध्यम देशव्रती, उत्तम सर्व व्रती।

दानके फलमें श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरंड श्रा०में कहते हैं–

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ ११६ ॥

भावार्थ–जैसे वर्गतका बीज पृथ्वीमें प्राप्त होनेपर खूब छायादार फलता है, वैसे समयके ऊपर थोड़ा भी दान पात्रको दिया हुआ संसारी प्राणियोंको बहुत मनोज्ञ फलको देता है।

पं० मेधावीकृत धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें सुपात्र, कुपात्र व अपात्रके सम्बन्धमें लिखा है:—

साधुः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं देशसंयमी ।
सम्यग्दर्शनसंशुद्धो व्रतहीनो जघन्यकम् ॥ १११ ॥
उत्तमादिसुपात्राणां दानाद् भोगभुवस्त्रिधा ।
लभ्यन्ते गृहिणा मिथ्यादृशा सम्यग्दृशाऽव्ययः ॥ ११२ ॥
अणुव्रतादिसम्पन्नं कुपात्रं दर्शनोज्झितम् ।
तद्दानेनाश्नुते दाता कुभोगभूभवं सुखम् ॥ ११७ ॥
अपात्रमाहुराचार्याः सम्यक्त्वव्रतवर्जितम् ।
तद्दानं निष्फलं प्रोक्तं मूपरक्षेत्रबीजवत् ॥ ११८ ॥

भावार्थ—उत्तम पात्र साधु हैं, मध्यम देशव्रती श्रावक हैं, व्रत रहित सम्यग्दृष्टी जघन्य पात्र हैं । इन उत्तम मध्यम जघन्य सुपात्रोंको दान देनेसे जो गृहस्थी मिथ्यादृष्टी हैं वे क्रमसे उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमिको पाते हैं और यदि दातार सम्यग्दृष्टी हो तो परम्पराय मोक्ष पाते हैं । जो अणुव्रत व महाव्रत आदि सहित हों, परंतु सम्यग्दर्शन रहित हों वे कुपात्र हैं । उनको दान देनेसे कुभोग भूमिका सुख प्राप्त होता है । जो श्रद्धा व व्रत दोनोंसे शून्य हैं उनको आचार्योंने अपात्र कहा है, उनको भक्तिसे दान देना वैसा ही निष्फल है जैसे ऊसर क्षेत्रमें बीज बोना ॥ ७६ ॥

उत्थानिका—आगे इसीको दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि कारणकी विपरीततासे फल भी उल्टा होता है—

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ ७७ ॥

छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः ।
न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते ॥ ७७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(छदुमत्थविहिदवत्थसु) अल्प ज्ञानियोंके द्वारा कल्पित देव गुरु शास्त्र धर्मादि पदार्थोंमें (वदणियमज्झयणझाणदाणरदो) व्रत, नियम, पठनपाठन, ध्यान तथा दानमें रागी पुरुष (अपुणब्भावं) अपुनर्भव अर्थात् मोक्षको (ण लहदि) नहीं प्राप्त कर सक्ता है, किन्तु (सादप्पगं भावं) सातामई अवस्थाको अर्थात् सातावेदनीके उदयसे देव या मनुष्यपर्यायको (लहदि) प्राप्त कर सक्ता है।

विशेषार्थ-जो कोई निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गको नहीं जानते हैं केवल पुण्यकर्मको ही मुक्तिका कारण कहते हैं उनको यहां छद्मस्थ या अल्पज्ञानी कहना चाहिये न कि गणधरदेव आदि ऋषिगण। इन अल्पज्ञानियों अर्थात् मिथ्याज्ञानियोंके द्वारा-जो शुद्धात्माके यथार्थ उपदेशको नहीं देसक्के ऐसे-जो मनोक्त देव, गुरु, शास्त्र, धर्म क्रियाकांड आदि स्थापित किये जाते हैं उनको छद्मस्थ विहितवस्तु कहते हैं। ऐसे अयथार्थ कल्पित पात्रोंके सम्बन्धसे जो व्रत, नियम, पठनपाठन, दान आदि शुभ कार्य जो पुरुष करता है वह कार्य यद्यपि शुद्धात्माके अनुकूल नहीं होता है और इसी लिये मोक्षका कारण नहीं होता है तथापि उससे वह देव या मनुष्यपना पासक्ता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने निष्पक्षभावसे यह व्याख्यान किया है कि जैसा कारण या निमित्त होता है वैसा उसका फल होता है। निश्चयधर्म तो स्याद्वादनयके द्वारा निर्णय किये हुए सामान्य विशेष गुण पर्यायके समुदायरूप अपने ही शुद्धात्माके स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभवरूप निर्विकल्प समाधिभाव

है । ऐसे भावके लिये अपना आत्मा ही शरण है। आत्माका स्वरूप भी जैसा सर्वज्ञ जिनेन्द्रभगवानने बताया है वही सच्चास्वरूप है । इस सच्चे स्वभावमें श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप जो भाव है वही यथार्थ मोक्षमार्ग है । ऐसे मोक्षमार्गका सेवक अवश्य उसी भवसे या कुछ भव धारकर मोक्ष प्राप्त कर सक्ता है । इसी तरह व्यवहार धर्म भी यथार्थ वही है जो सच्चे शुद्ध आत्माके स्वरूपके श्रद्धान ज्ञान आचरणमें सहकारी हो । सर्वज्ञ भगवानने इसी हेतुसे निर्ग्रंथ साधु-माग और सग्रन्थ श्रावकका मार्ग बताया है। जिनमें विकल्प सहित या विचार सहित अवस्थामें अरहंत और सिद्धको देव मानके भजन पूजन करना तथा आचार्य, उपाध्याय और साधुको गुरु मानके भक्ति करना तथा सर्वज्ञके उपदेशके अनुसार साधुओंके रचे हुए शास्त्रोंको शास्त्र जानकर उनका पठनपाठन करना और शास्त्रमें वर्णन किया धर्माचरण यथार्थ आचरण है ऐसा जानकर साधन करना, ऐसा उपदेश दिया है।

इस उपदेशमें जो स्वभाव अरहंत व सिद्ध भगवानका बताया है वही स्वभाव निश्चयसे हरएक आत्माका है यह भी दिखलाया है । इसी लिये विचारसहित अवस्थामें ऐसे अरहंत सिद्धकी भक्ति अपने आत्माकी ही भक्ति है और यह भक्ति शुद्धात्मानुभवमें पहुंचानेके लिये निमित्त कारण हो सक्ती है । गुरु वे ही हैं जो ऐसे देवोंको मानें व यथार्थ शुद्धात्माके अनुभवका अभ्यास करें । शास्त्र वे ही हैं जिनमें इन्हींका यथार्थ स्वरूप है । धर्माचरण वही है जो इसी प्रयोजनको सिद्ध करे।

मुनिका चारित्र साम्यभावरूप है, वीतराग रससे सज्जित है,

परमकरुणामय है। श्रावकका चारित्र भी साम्यभावकी उपासना रूप है, और दयाधर्मसे शोभायमान है। इसलिये सर्वज्ञ कथित निश्चयधर्ममें भलेप्रकार आरूढ़ होनेसे उसी भवसे मोक्ष होसक्ती है, परन्तु जो भलेप्रकार–जितना चाहिये उतना–निश्चयधर्ममें नहीं ठहर सक्के उनको निश्चय और व्यवहार धर्म दोनों साधने पड़ते हैं, इससे वे अतिशयकारी पुण्य बांध उत्तम देवगतिको पाकर फिर कुछ भवोंमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये वास्तवमें जिनेन्द्र कथित ही मार्ग सच्चा मोक्षमार्ग है। अल्प मिथ्याज्ञानियोंने जो धर्मके मार्ग चलाए हैं वे यथार्थ नहीं हैं; क्योंकि उनमें आत्मा, परमात्मा, पुण्य पाप, मुनि व गृहस्थके आचरणका यथार्थ स्वरूप नहीं बतलाया गया है। जिसकी परीक्षा प्रमाणसे की जा सक्ती है। न्यायशास्त्रमें जो युक्तियें दी हैं वे इसीलिये हैं कि जिनसे यथार्थ पदार्थकी परीक्षा होसके।

आत्माको ब्रह्मका अंश मानकर फिर अशुद्ध मानना अथवा सर्वथा नित्य मानना व सर्वथा अनित्य मानना, अथवा सर्वथा शुद्ध मानना व सर्वथा अशुद्ध मानना, व उसको कर्ता न मानकर केवल भोक्ता मानना, आत्मा व अनात्माको परिणाम स्वरूप न मानना, केवल एक आत्मा ही मानकर व केवल एक पुद्गल ही मानकर बन्ध व मोक्षकी व्यवस्था करना, अहिंसाके स्वरूपको यथार्थ न समझकर हिंसा करके भी पुण्यबन्ध मानना अथवा हिंसासे मोक्ष बताना अथवा ज्ञानमात्रसे या श्रद्धाभावसे या आचरण मात्रसे मुक्ति होना कहना, गुण और गुणीको किसी समय पृथक् मान लेना फिर उनका जुड़ना मानना, दूसरेके दुःखी

होनेसे व सुखी होनेसे अपनेको पाप या पुण्यबंध मान लेना व अपनेको दुःख देनेसे पुण्य व सुख देनेसे पाप मान लेना, रागद्वेष सहित देव व गुरुको यथार्थ देव गुरु मानना आदि अयथार्थ पदार्थोंका स्वरूप अल्पज्ञानियोंके रचे हुए ग्रंथोंमें पाया जाता है। जिसको परीक्षा करके भलीभांति श्री विद्यानंदी आचार्यने आप्त परीक्षा तथा अष्टसहस्री ग्रन्थोंमें दिखला दिया है। जो सर्वज्ञ और अल्पज्ञ कथनोंकी परीक्षा करना चाहें उनको इन ग्रन्थोंका मनन कर सत्यका निर्णय करलेना चाहिये। जब पदार्थका स्वरूप ही ठीक नहीं है तब जो कोई इनका श्रद्धान करेगा उसको अपने शुद्ध स्वभावकी प्राप्ति रूप मोक्षका लाभ किस तरह होसक्ता है? अर्थात् नहीं होसकता। तब क्या उन अयथार्थ पदार्थोंको माननेवाले प्राणियोंका सर्वथा ही बुरा होगा?

इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्यने दिखाया है कि मोक्षमार्ग न पानेसे तो सर्वथा ही बुरा होगा, क्योंकि उनको मोक्षमार्ग मिला ही नहीं। वे मोक्षके विपरीत मार्गपर चल रहे हैं इसलिये जब तक वे इस असत्य मार्गका त्याग न करेंगे तबतक मोक्षमार्ग न पाकर मोक्षमार्गपर आरूढ़ न हो मोक्ष कभी भी प्राप्त नहीं कर सक्ते। तथापि कर्म बन्धके नियमानुसार वे अयथार्थ देव, गुरुके सेवक व अयथार्थ शास्त्रके पठन पाठन करनेवाले व अयथार्थ ध्यान, जप, तप, साधनेवाले व अयथार्थ दान आदि करनेवाले प्राणी अपनी २ कषायोंके अनुसार पुण्य पापका बन्ध करेंगे। मिथ्यात्व व अज्ञानके कारण वे घातिया कर्मरूप ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अंतराय इन चार पाप प्रकृतियोंका तो बहुत गाढ़ बन्ध करेंगे; तथापि

कषायकी मंदता होनेसे इन पाप प्रकृतियोंमें भी स्थिति व अनुभाग उतना तीव्र न डालेंगे जितना वे ही प्राणी उस समय डालते जब वे पूजा, पाठ, जप, तप, दानादि न करके द्यूत रमन, मांस भक्षण, वेश्या सेवन व परस्त्री सेवन व प्राणीघात व असत्य भाषण व चोरी करना आदिमें फंसकर डालते तथा कषायोंके मंद झलकावसे अशुभ लेश्याके स्थानमें पीत, पद्म या शुक्ल लेश्याके परिणामोंके कारण वे ही जीव असाता वेदनीयके स्थानमें पुण्यरूप साता वेदनीय बांधते, नीच गोत्रके स्थानमें पुण्यरूप उच्च गोत्र कर्म बांधते, अशुभ नामके स्थानमें शुभ नाम कर्म बांधते तथा अशुभ आयुके स्थानमें शुभ आयु बांध लेते। उन पुण्य कर्मोंके उदयसे वे प्राणी मरकर स्वर्गादिमें जाकर देव पद पाते व मनुष्य जन्ममें जाकर राजा महाराजा, धनवान, रूपवान, वलवान व प्रभावशाली व्यक्ति होते, तथापि उन पदोंको नहीं पाते जिन पदोंको यथार्थ धर्मानुरागी अपने यथार्थ धर्मानुरागसे पुण्यकर्म बांध प्राप्त करता। अल्पज्ञानी प्रणीत तत्वोंका मननकर्ता अत्यंत मंदकषायी साधु भी स्वर्गों तक जा सक्ता है। इससे आगे नहीं।

वास्तवमें यहांपर आचार्यने कोई भी पक्षपात नहीं किया है जैसे भाव जिसके हैं उसको वैसे फलकी प्राप्ति बताई है। जो जैन धर्मके तत्वोंके श्रद्धानी नहीं हैं और परोपकार करते, दान करते व कठिन २ तपस्या करते तो उनका यह मंद कषायरूप कार्य निरर्थक नहीं होसक्ता; वे अवश्य कुछ पुण्यकर्म बांधते हैं जिसका फल सांसारिक विभूतिका लाभ है; परन्तु संसारके बंधनोंसे उनकी कभी मुक्ति नहीं होसक्ती है। ऐसा तात्पर्य है।

श्री नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीकृत गोमटसार कर्मकांड पंचम अध्यायमें वर्णन है कि जैनधर्मसे बाहरके धर्मसाधक नीचे प्रमाण गति पाते हैं—

णरयाय परिव्वाजा बह्मोत्तरचुदपदोत्ति आजीवा।
अणुदिशअणुत्तरादो चुदा ण केसवपदं जंति॥

भावार्थ—चरक मतवाले साधु, परिव्राजक एक दँडी या त्रिदँडी उत्कृष्ट भवनादि त्रयसे लेकर ब्रह्मस्वर्ग तक पैदा होसक्ते हैं तथा आजीवक साधु (जो नग्न रहते हैं) कांजीकी भिक्षा करनेवाले उत्कृष्ट भुवनत्रयसे ले अच्युत स्वर्ग तक पैदा होसक्ते हैं। तथा ९ अनुदिश व पांच अनुत्तरसे आकर नारायण प्रति नारायण नहीं होते हैं—तथा "अर्हत् लिंगधराः केचित् द्रव्य महाव्रताः उपरिमग्रैवेयिकांतमुत्पद्यंते" जैनधर्मी नग्न साधु सम्यक्त रहित बाहरसे महाव्रतोंको पालनेवाले नौमें ग्रैवेयक तक पैदा होसक्ते हैं।

इसकी गाथा यह है—

णरतिरियदेसअयदा उक्कसेण चुदोत्ति णिग्गंथा।
णरअयददेशमिच्छा गेवेज्जं तोत्ति मिच्छंति॥

भावार्थ—जो सम्यग्दष्टी मनुष्य या तिर्यंच असंयत हों व देश व्रती हों वे उत्कृष्ट अच्युत स्वर्ग तक पैदा होते हैं, परंतु जो बाहरमें निर्ग्रंथ साधु हों व भावोंमें चौथे गुणस्थानी असंयत हों व पंचम गुणस्थानी देश संयत हों अथवा मिथ्यादृष्टी हों वे नौमें ग्रैवेयक तक पैदा होते हैं।

उत्थानिका—आगे फिर भी कहते हैं कि जो जीव सम्यग्दर्शन तथा व्रत रहित पात्रोंके भक्त हैं वे नीच देव तथा मनुष्य होते हैं—

अविदिद्परमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुजेसु ॥ ७८ ॥
अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु।
जुष्टं कृतं वा दत्तं फलति कुदेवेषु मनुजेषु ॥ ७८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अविदिदपरमत्थेसु) जो परमार्थ अर्थात् सत्यार्थ पदार्थोंको नहीं जानते व जिनको परमात्माके तत्वका श्रद्धान ज्ञान नहीं है (य विषयकसायाधिगेसु) तथा जिनके भीतर पंचेंद्रियोंके विषयोंकी तथा मान लोभ आदि कषायोंकी बड़ी प्रवलता है ऐसे (पुरुसेसु) पात्रोंमें (जुट्ठं) की हुई सेवा (कदं) किया हुआ परोपकार (व दत्तं) या दिया हुआ आहार औषधि आदि दान (कुदेवेसु) नीच देवोंमें (मणुजेसु) और मनुष्योंमें (फलदि) फलता है।

विशेषार्थ-जिन पात्रोंके या साधुओंके सच्चे देव, गुरु, धर्मका ज्ञान श्रद्धान नहीं है व जो विषय कषायोंके आधीन होनेके कारण निर्विकार शुद्धात्माके स्वरूपकी भावनासे रहित हैं उनकी भक्तिके फलसे नीच देव तथा मनुष्य होसक्ता है।

भावार्थ-यहांपर भी गाथामें आचार्यने कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता वताई है। जगतमें ऐसे अनेक साधु हैं जिनको स्याद्वाद नयसे अनेक धर्म स्वरूप आत्मा तथा अनात्माका सच्चा वोध नहीं है तथा न जिनको सच्चे आत्मीक सुखकी पहचान है व जो संसारिक सुखकी वासनाके आधीन होकर लोभ कषायवश या मान कषायवश अपनी प्रसिद्धि पूजा लाभादिकी चाहनाके आधीन होकर बहुत काय क्लेशादि तप करते हैं-ऐसे अपात्रोंकी भी जो

अपने भावोंमें कषायोंको मंद कर सेवा करता है, उनको आहार औषधि देता है, उनकी टहल चाकरी करता है, उसके मंद कषायोंके कारण कुछ पुण्य कर्मका बंध होजाता है जिससे वह मरकर व्यंतर, भवनवासी व ज्योतिषी इन तीन प्रकार देवोंमें भी नीच देवोंमें अथवा नीच मनुष्योंमें जन्म प्राप्त करलेता है। यहांपर तत्व यह है कि पुण्य कर्मका बंध मंद कषायसे व पापकर्मका बंध तीव्र कषायसे होता है। एक आदमी हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रहके व्यापारमें तन्मय हो रहा है उस समय इसके लोभ या मान आदि कषाय वहुत तीव्र है—वही आदमी इन कामोंसे उपयोग हटाकर किसी अज्ञानी साधुको भोजन पान दे रहा है व उसके शरीरकी सेवा कर रहा है अथवा उसको वस्त्रादि दान कर रहा है तव उस आदमीके भावोंमें हिंसादि कर्मोंमें प्रवर्तनेकी अपेक्षा कषाय मंद है, इसलिये इस मूढ़ भक्तिमें भी असाता वेदनीय, तिर्यंच व नरक आयु व नरक तिर्यंचगतिका बंध न पड़कर साता वेदनीय, मनुष्य या देव आयु तथा गतिका वंध पड़ेगा, परन्तु मिथ्यात्व व अज्ञानके फलसे नीच गोत्र व वहुत हल्के दर्जेका उच्च गोत्र कर्म वांधेगा व हलके दरजेका शुभ नाम या अशुभ नामकर्म वांधेगा। मंद कषायसे अघातियामें कुछ पुण्य कर्म वांध लेगा परंतु घातिया कर्मोंमें तो पाप कर्म ज्ञानावरणादिका दृढ़ वंध करे ही गा, क्योंकि वह मूढ़ता व मिथ्या श्रद्धाके आधीन है। इससे वह मरकर भूत प्रेत व्यंतर होजायगा या अल्प पुण्यवाला मनुष्य हो जायगा—जैसे भावोंमें लेश्या होती है वैसा उसका फल कर्म वंध होता है। मूढ़ भक्ति करनेवाले भी मूढ़ धर्म व धर्मके पात्रोंके लिये अपने धन, तन व कुटुम्बादिका

मोह छोड़कर उनकी सेवा करते हैं। इसीसे भावोंमें कठोरता नहीं होती है। सेवाके कार्यमें लगे हुए जो भावोंकी कोमलता होती है वह कुछ पुण्य भी बांध देती है। वास्तवमें जो मनुष्य द्यूतरमण, वेश्यागमन, मद्यपान, मांसाहार आदि पाप कर्मोंमें आधीन हैं वे ही यदि इनको छोड़कर अपने २ अयथार्थ धर्मकी सेवामें लग जावें तो उनके पहलेकी अपेक्षा अवश्य कषाय मंद होगी, इसी कारण पहलेके पापरूप भावोंसे जब नरक या पशुगति पाते हैं तब इन अल्प पुण्यरूप भावोंसे देव या मनुष्यगति पाते हैं। इनके विरुद्ध जो सच्चे देव गुरु धर्मके भक्त हैं वे बहुत अधिक पुण्य बांधकर उत्तम देव तथा मनुष्य होते हैं। इतना ही नहीं जो सुदेवादिके भक्त हैं वे मोक्षमार्गी हैं, परन्तु जो कुदेवादि भक्त हैं वे संसारमार्गी हैं; क्योंकि जिनकी भक्ति करता है वे संसारमार्गी हैं।

यहांपर आचार्यने रञ्चमात्र भी पक्षपात न कर वस्तुका यथार्थ स्वरूप बतला दिया है कि मिथ्यात्त्व होते हुए हुए भी जहां परोपकार या सेवाभाव है वहां कुछ मंदकषाय है। जितने अंश कषाय मंद है वही पुण्यबंधका कारण है। दूसरा अर्थ गाथाका यह भी लिया जासक्ता है कि जो जैन साधु होकरके भी बाहरी ठीक आचरण पालते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टी हैं-जिनके परमार्थ आत्माका व परमात्माका अनुभव नहीं है व भीतर मोक्षके वीतराग अतीन्द्रियसुखके स्थानमें इंद्रियजनित बहुत सुखकी लालसा है, ऐसे सम्यक्तरहित कुपात्रोंको जो दान किया जावे वह नीच देवोंमें व कुभोगभूमिके मनुष्योंमें फलता है। श्री तत्वार्थसारमें अमृतचंद्र महाराजने लिखा है:—

ये मिथ्यादृष्टयो जीवाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनोऽथवा ।
व्यंतरास्ते प्रजायन्ते तथा भवनवासिनः ॥ १६२ ॥
संख्यातीतायुषो मर्त्यास्तिर्यञ्चश्चाप्यसद्दृशः ।
उत्कृष्टास्तापसाश्चैव यान्ति ज्योतिष्कदेवताम् ॥ १६३ ॥

भावार्थ–जो मिथ्यादृष्टी जीव मनसहित हैं या मनरहित हैं वे भी कुछ शुभ भावोंसे मरकर व्यंतर या भवनवासी होजाते हैं तथा मिथ्यादृष्टि भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यंच या ज्योतिषी देव होते हैं।

अभिप्राय यही है कि मोक्षमार्ग तो यथार्थ ज्ञानी पात्रोंकी ही भक्तिसे प्राप्त होगा, तथापि जहां जितनी मंद कषायता है उतना वहां पुण्यका बंध है ॥ ७८ ॥

उत्थानिका–आगे इसही अर्थको दूसरे प्रकारसे दृढ़ करते हैं–

जदि ते विसयकसाया पावत्ति परूविदा व सत्थेसु ।
कह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ ७९ ॥
यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु ।
कथं ते तत्प्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारका भवन्ति ॥ ७९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जदि) यदि (ते विसयकसाया) वे इंद्रियोंके विषय तथा क्रोधादि कषाय (पावत्ति) पाप रूप हैं ऐसे (सत्थेसु) शास्त्रोंमें (परूविदो) कहे गए हैं (वा कह) तो किस तरह (तप्पडिबद्धा) उन विषय कषायोंमें सम्बन्ध रखनेवाले (ते पुरिसा) वे अल्पज्ञानी पुरुष (णित्थारगा) अपने भक्तोंको संसारसे तारनेवाले (होंति) हो सक्ते हैं।

विशेषार्थ–विषय और कषाय पापरूप हैं इस लिये उनके धारणेवाले पुरुष भी पापरूप ही हैं। तब वे अपने भक्तोंके व दातारोंके वास्तवमें पुण्यके नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्य यह बताते हैं कि इस जगतमें पापबन्धके कारण स्पर्शनादि पांच इंद्रियोंकी इच्छाएं व उनके निमित्त अनेक पदार्थोंका राग व उनका भोग है तथा क्रोध; मान, माया, लोभ चार कषाय हैं; इस बातको बालगोपाल सब जानते हैं। इन्हींके आधीन संसारके जीव पापकर्मोंको बांधकर संसारमें दुःख उठाते हैं। तथा यह बात भी बुद्धिमें बराबर आने लायक है कि जो इन विषयकषायोंके सर्वथा त्यागी हैं वे ही पूजने योग्य देव व गुरु हो सक्ते हैं, तथा वही धर्म है जो विषयकषायोंसे छुड़ावे और वही शास्त्र है जिसमें इन विषय कषायोंके त्यागनेका उपदेश हो। संसार विषय कषायरूप है व मुक्ति विषय कषायोंसे रहित परम निस्पृहभाव व कषाय रहित है। इसलिये जिनके स्वरूपमें यह मोक्षतत्व झलक रहा हो वे ही अपने भक्तोंको अपना आदर्श बताकर संसारसे तरजानेमें निमित्त होसक्ते हैं। इसलिये उनहीका शरण ग्रहण करने योग्य है, परन्तु जो देव या गुरु संसारमें आशक्त हैं, इंद्रियोंकी चाहमें फंसकर विषयभोग करते हैं व अपनी प्रतिष्ठा करानेमें लवलीन हैं, अपनेसे विरुद्ध व्यक्ति पर क्रोध करनेवाले हैं ऐसे देव, गुरु स्वयं संसारमें आशक्त हैं अतः इनकी भक्ति करनेवाले व इनको दान करनेवाले किस तरह उनकी संगतिसे वीतराग धर्मको पासक्ते हैं ? अर्थात् किसी भी तरह नहीं पासक्ते। और न संसारसे कभी मुक्ति पासक्ते हैं। इसलिये ऐसे कारणोंका सम्बन्ध नहीं मिलाना चाहिये जिससे संसार बढ़े, किन्तु ऐसे कारण मिलाने चाहिये जिनसे संसारके दुःखोंसे छूटकर यह आत्मा निज स्वाधीन सुखका विलासी हो जावे।

शास्त्रोंमें छः अनायतनोंकी संगति मना की है, जिनसे यथार्थ वीतराग धर्म न पाइये, ऐसे देव, गुरु, शास्त्र और उनके भक्तगण हैं। मोक्षमार्गके प्रकरणमें संगति उन हीकी हितकारी है जो सुदेव, सुगुरु व सुशास्त्र हैं तथा उनके भक्त श्रद्धावान श्रावक हैं।

पं० मेधावी धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें कहते हैं—

कुदेवलिंगशास्त्राणां तच्छ्रितां च भयादितः ।
षण्णां समाश्रयो यत्स्यात्तान्यायतनानि षट् ॥ ४४ ॥

भावार्थ—अयथार्थ देव, गुरु, शास्त्र तथा उनके सेवकोंका इन छहोंका आश्रय भय आदि कारणोंसे करना है सो छः अनायतन सेवा है। पंडित आशाधर अनागारधर्मामृतमें कहते हैं—

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोह्यार्हतीं ।
वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये वहिस्तां श्रिताः ॥
लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे ।
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज ॥ ९६ ॥

भावार्थ—इस जगतमें कोई २ तापसी आदि ग्रहण करने योग्य व तीन लोकमें वन्दनीय ऐसी अर्हतकी नग्न मुद्राको छोड़कर अहंकारी हो अन्य मिथ्या भेषोंको धारण करते हैं, दूसरे कोई जैन मुनिका बाहरी चिन्ह धार करके अपनी इंद्रियोंको व मनको न वशमें किये हुए भूत पिशाचके समान लोकमें घूमते हैं। दूसरे कोई अरहंतभेषकी छायाके द्वारा म्लेच्छोंके समान आचरण करते हैं अर्थात् लोकविरुद्ध शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं, मठादिमें रहते हैं। इसलिये हे भव्य! तू मिथ्यादर्शनके स्थान इन तीनों प्रकारके मिथ्यातियोंके साथ अपना परिचय मन वचन कायसे छोड़।

और भी संगतिका निषेध करते हैं—

कुहेतुनयदृष्टान्तगरलोद्गारदारुणैः ।
आचार्यव्यंजनैः स'गं भुजंगैर्जातु न व्रजेत् ॥ ९९ ॥
रागाद्यैर्वा विषाद्यैर्वा न हन्यादात्मवत्परम् ।
ध्रुवं हि प्राग्वधेऽनन्तं दुःखं भाज्यमुदग्वधे ॥ १०० ॥

भावार्थ—जो आचार्यरूप अपनेको मानते हैं, परन्तु खोटे हेतु नय व दृष्टांतरूपी विषको उगलते हैं ऐसे सर्पके समान आचार्योंकी संगति कभी न करे। जो मिथ्याचारित्रवान अपना घात विषादिवत् रागादि भावोंसे कर रहे हैं उनको दूसरोंका घात नहीं करना चाहिये, क्योंकि विषादि देनेसे किसीका नाश हो, किसी नाश णमोकार मंत्रादिके प्रतापसे न हो, परन्तु रागादिसे तो अनन्त दुःख प्राप्त होगा। अर्थात् जिनकी संगतिमे रागादिकी वृद्धि हो उनकी संगति भी नहीं करनी चाहिये।

इसलिये उन सुदेव, सुगुरु व सुधर्म व उनके भक्तोंकी सेवा व संगति करनी चाहिये जिनसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो ॥ ७९ ॥

उत्थानिका—आगे उत्तम पात्ररूप तपोधनका लक्षण कहते हैं—

उपरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥८०॥
उपरतपापः पुरुषः समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु ।
गुणसमितितोपसेवो भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ ८० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(स पुरिसो) वह पुरुष (सुमग्गस्स भागी) मोक्षमार्गका पात्र (हवदि) होता है जो (उपरदपावो) सर्व विषय कषायरूप पापोंसे रहित है, (सव्वेसु धम्मिगेसु समभावो) सर्व धर्मात्माओंमें समानभावका धारी है तथा (गुणसमिदिदोवसेवी) गुणोंके समूहोंको रखनेवाला है।

विशेषार्थ–जो पुरुष सर्व पापोंसे रहित है, सर्व धर्मात्माओंमें समान दृष्टि रखनेवाला है तथा गुणसमुदायका सेवनेवाला है और आप स्वयं मोक्षमार्गी होकर दूसरोंके लिये पुण्यकी प्राप्तिका कारण है, ऐसा ही महात्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूप निश्चय मोक्षमार्गका पात्र होता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने भक्ति करने योग्य व संसार तारक उत्तम पात्रका स्वरूप बताया है। उसके लिये तीन विशेषण कहे हैं (१) संसारमें विषय कषाय ही पाप हैं, जिनको इससे पहली गाथामें कह चुके हैं। जो महात्मा इंद्रियोंकी चाहको छोड़कर जितेन्द्री होगए हों और क्रोधादि कषायोंके विजयी हों वे ही साधु उपरतपाप हैं। (२) जिसका किसी भी धर्मात्मा साधु या श्रावककी तरफ राग, द्वेष या ईर्षाभाव न हो–सर्वमें धर्म सामान्य विद्यमान है, इस कारण सर्व धर्मात्माओंमें परम समताभावका धारी हो (३) जो साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंका तथा यथासंभव उत्तर गुणोंका पालनेवाला हो। वास्तवमें जो गुणवान, वीतरागी व निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके सेवनेवाले हैं वे ही यथार्थ मोक्षमार्गके साधक हैं। ऐसे उत्तम पात्रोंकी सेवा अवश्य भक्तोंको मोक्षमार्गकी ओर लानेवाली है तथा उनको महान पुण्य–बंध करानेवाली है। उत्तम पात्रकी प्रशंसा श्री कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें की है जैसे–

संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः ।
शान्ता दान्तास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः ॥ १९६ ॥
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः ।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः ॥ १९७ ॥

धृतिभावनया युक्ता शुभभावनयान्विताः ।
तत्वार्थाहितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमाः ॥ १९८ ॥

भावार्थ—जो परिग्रह आरम्भसे रहित हैं, धीर हैं, रागद्वेषादि मलोंसे शून्य हैं, शान्त हैं, जितेन्द्रिय हैं, तपरूपी आभूषणको रखनेवाले हैं, मुक्तिकी भावनामें तत्पर हैं, मन वचन काय योगोंकी गुप्तिमें लीन हैं, चारित्रवान हैं, ध्यानी हैं, दयावान हैं, धैर्यकी भावनासे युक्त हैं, शुभ भावनाके प्रेमी हैं, तत्वार्थोंके विचारमें प्रवीण हैं वे ही दाताके लिये उत्तम पात्र हैं ॥ ८० ॥

उत्थानिका—आगे और भी उत्तम पात्र तपोधनोंका लक्षण अन्य प्रकारसे कहते हैं—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ ८१ ॥

अशुभोपयोगरहिताः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्तः ॥ ८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(असुभोवयोगरहिदा) जो अशुभ उपयोगसे रहित हैं, (सुद्धवजुत्ता) शुद्धोपयोगमें लीन हैं (वा सुहोवजुत्ता) या कभी शुभोपयोगमें वर्तते हैं वे (लोगं णित्थारयंति) जगतको तारनेवाले हैं (तेसु भत्तो) उनमें भक्ति करनेवाला (पसत्थं) उत्तम पुण्यको (लहदि) प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—जो मुनि शुद्धोपयोग और शुभोपयोगके धारी हैं वे ही उत्तम पात्र हैं। निर्विकल्प समाधिके बलसे जब शुभ और अशुभ दोनों उपयोगोंसे रहित हो जाते हैं तब वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगके धारी होते हैं। इस भावमें जब ठहरनेको

समर्थ नहीं होते हैं तब मोह, द्वेष व अशुभ रागसे शून्य रहकर सराग चारित्रमई शुभोपयोगमें वर्तन करते हुए भव्य लोगोंको तारते हैं। ऐसे उत्तम पात्र साधुओंमें जो भव्य भक्तवान है वह भव्योंमें मुख्य जीव उत्तम पुण्य बांधकर स्वर्ग पाता है तथा परम्पराय मोक्षका लाभ करता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि उत्तम पात्रोंकी भक्ति ही मोक्षकी परम्पराय कारण है। उत्तम पात्रोंका यह स्वरूप बताया है कि जो विषय कषाय सम्बंधी अशुभ पापमई भावोंको कभी नहीं धारण करते हैं तथा जो संकल्पविकल्प छोड़कर अपने भावोंको शुद्ध आत्माके अनुभवमें तल्लीन रखते हैं तथा जब इस भावमें अधिक नहीं जम सक्के तब धर्मानुरागरूप कार्योंमें तत्पर हो जाते हैं जैसे तत्वका मनन, शास्त्रस्वाध्याय, धर्मोपदेश, वैय्यावृत्य आदि। जो कभी भी गृहस्थ सम्बन्धी पापारंभमें नहीं वर्तन करते हैं वे साधु तरण तारण हैं। उनका चारित्र दूसरोंके लिये अनुकरण करनेके योग्य है। जो भव्य जीव ऐसे साधुओंकी सेवा करते हैं वे मोक्षमार्गमें दृढ़ होते हैं। सेवारूपी शुभ भावोंसे वे अतिशयकारी पुण्य बांध लेते हैं जिससे स्वर्गादि शुभगतियोंमें जाते हैं और परम्परासे वे मोक्षके पात्र हो जाते हैं। सारसमुच्चयमें कहा है–

निन्दास्तुति समं धीरं शरीरेऽपि च निस्पृहं ।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जितलोभमहाभटं ॥ २०५ ॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तं सिद्धिसंगमनोत्सुकम् ।
ज्ञानाभ्यासरतं नित्यं नित्यं च प्रशमे स्थितम् ॥ २०६ ॥

एवं विधं हि यो दृष्ट्वा स्वगृहांगणमागतम् ।
मात्सर्यं कुरुते मोहात् क्रिया तस्य न विद्यते ।। २०७ ॥
गुरुशुश्रूषया जन्म चित्तं सद्ध्यानचिंतया ।
श्रुतं यस्य समे याति विनियोगं स पुण्यभाक् ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो निन्दा स्तुतिमें समान है, धीर है, अपने शरीरसे भी ममता रहित है, जितेन्द्रिय है, क्रोध विजयी है, लोभरूप महायोद्धाको वश करनेवाला है, रागद्वेषसे रहित हैं, मोक्षकी प्राप्तिमें उत्साही है. ज्ञानके अभ्यासमें नित्य रत है तथा नित्य ही शांत भावमें ठहरा हुआ है, ऐसे साधुको अपने घरके आंगणकी तरफ आते हुए देखकर जो भक्ति न करके उनसे ईर्षा रखता है वह चारित्रसे रहित है। जिसका जन्म गुरुकी सेवामें, चित्त निर्मल ध्यानकी चिन्तामें, शास्त्र समताकी प्राप्तिमें वीतता है वही नियमसे पुण्यात्मा है। अभिप्राय यही है कि परिग्रहासक्त आत्मज्ञानरहित साधुओंकी भक्ति त्यागने योग्य है और निर्ग्रंथ आत्मज्ञानी व ध्यानी साधुओंकी भक्ति ग्रहण करने योग्य है ॥ ८१ ॥

इस तरह पात्र अपात्रकी परीक्षाको कहनेकी मुख्यतासे पांच गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

इसके आगे आचारके कथनके ही क्रमसे पहले कहे हुए कथनको और भी दृढ़ करनेके लिये विशेष करके साधुका व्यवहार कहते हैं।

उत्थानिका—आगे दर्शाते हैं कि जो कोई साधु संघमें आवें उनका तीन दिन तक सामान्य सन्मान करना चाहिये। फिर विशेष करना चाहिये।

दिट्ठा पगदं वत्थू अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वोत्ति उवदेसो ॥ ८२ ॥

दृष्ट्वा प्रकृतं वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः।
वर्ततां ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः ॥ ८२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पगदं वत्थू) यथार्थ पात्रको (दिट्ठा) देखकर (अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं) उठ कर खड़ा होना आदि क्रियाओंसे (वट्टदु) वर्तन करना योग्य है, (तदो) पश्चात् (गुणदो) रत्नत्रयमई गुणोंके कारणसे (विसेसिदव्वो) उसके साथ विशेष वर्ताव करना चाहिये (त्ति उपदेसो) ऐसा उपदेश है।

विशेषार्थ-आचार्य महाराज किसी ऐसे साधुको-जो भीतर वीतराग शुद्धात्माकी भावनाका प्रगट करनेवाला बाहरी निर्ग्रन्थके निर्विकार रूपका धारी है-आते देखकर उस अभ्यागतके योग्य आचारके अनुकूल उठ खड़ा होना आदि क्रियाओंसे उसके साथ वर्तन करें। फिर तीन दिनोंके पीछे उसमें गुणोंकी विशेषताके कारणसे उसके साथ रत्नत्रयकी भावनाकी वृद्धि करनेवाली क्रियाओंके द्वारा विशेष वर्ताव करें। ऐसा सर्वज्ञ भगवान व गणधर देवादिका उपदेश है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने साधुसंघके वर्तावको प्रगट किया है। तपोधन रत्नत्रयमई धर्मकी अति विनय करते हैं इसीसे आप भले प्रकार उसका पालन करते हुए उन साधुओंका भी विशेष सन्मान करते हैं जो उनके निकट आते हैं तथा उनकी परीक्षा करके फिर उनके साथ विशेष कृपा दर्शाकर उनके आनेके प्रयोजनको

जानकर उनका इष्ट धर्मकार्य सम्पादन करते हैं। श्री मूलाचार समाचार अधिकारमें इसका वर्णन है–कुछ गाथाएं हैं–

आएसे एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठन्ति ॥ १६० ॥

भावार्थ–किसी साधुको आते हुए देखकर सर्व साधु उसी समय धर्म प्रेम, सर्वज्ञकी आज्ञा पालन, स्वागत करन तथा प्रणामके हेतुसे उठ खड़े होते हैं।

पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥ १६१ ॥

भावार्थ–फिर वे साधु सात पग आगे बढ़कर परस्पर नमस्कार करते हैं–आनेवाले साधुको ये स्वागत करनेवाले साधु साष्टांग नमस्कार करते हैं तथा आगंतुक साधु भी इन साधुओंको इसी तरह नमन करते हैं। इस पाहुणागतिके पीछे परस्पर रत्नत्रयकी कुशल पूछते हैं।

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेदुं ॥ १६२ ॥

भावार्थ–आगुन्तुक साधुका नियमसे तीन दिन रात तक वन्दना, स्वाध्याय आदि छः आवश्यक क्रियाओंमें, शयनके समय, भिक्षा कालमें तथा मल मूत्रादि करनेके कालमें साथ देना चाहिये, जिसमें साथ रहनेसे उनकी परीक्षा हो जावे कि यह साधु शास्त्रोक्त साधुका चारित्र पालता है या नहीं।

आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे।
सज्झाएगविहारे भिक्खग्गहणे परिच्छन्ति ॥ १६४ ॥

भावार्थ—परीक्षक साधु छः आवश्यकके स्थानोंमें पीछीसे किस तरह व्यवहार करते हैं, किस तरह बोलते हैं, किस तरह पदार्थको रखते हैं और स्वाध्याय गमनागमन तथा भिक्षा ग्रहणमें परीक्षा करते हैं ।

विस्समिदो तद्दिवसं मोमंसित्ता णिवेदयदि गणिणे ।
विणएणागमकज्जं विदिए तदिए व दिवसम्मि ॥ १६५ ॥

भावार्थ—आगन्तुक साधु अपने आनेके दिनमें पथके श्रमको मिटा करके तथा आचार्य व संघके शुद्धाचरणकी परीक्षा करके दूसरे या तीसरे दिन आचार्यको विनयके साथ अपने आनेका प्रयोजन निवेदन करता है ।

आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खा माणवरसवासं च ।
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा ॥ १६६ ॥

भावार्थ—तब गुरु उसके पूछते हैं—तुम्हारा नाम क्या है ? कुल क्या है ? तुम्हारा गुरु कौन है ? दीक्षा कितने दिनोंसे ली है ? कितने चातुर्मास किये हैं ? किस दशासे आए हो ? क्या२ शास्त्राध्ययन किया है, कितने प्रतिक्रमण किये हैं तथा कितने मार्गसे आए हो इत्यादि ? प्रतिक्रमण वार्षिक भी होते हैं उसकी अपेक्षा गिनती पूछनी इत्यादि ।

जदि चरणकरणसुद्धो णिच्चुवजुत्तो विणीद मेधावी ।
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण ॥ १६७ ॥

भावार्थ—यदि वह आगंतुक साधु आचरण क्रियामें शुद्ध हो, नित्य निर्दोष हो, विनयी हो, बुद्धिमान हो तो आचार्य अपनी शास्त्रकी शक्तिसे समझाकर उसके प्रयोजनको पूर्ण करते हैं । उसकी शंकादि मेट देते हैं ।

जदि हदरो सोऽजोग्गो छन्दमुवट्ठावणं च कादव्वं ।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गेण्हदि सो वि छेदरिहो ॥१६८॥

भावार्थ–यदि वह आगंतुक साधु प्रायश्चित्तके योग्य हो ऐसा देववन्दना आदि कार्योंमें अपनी अयोग्यताको प्रगट करे तो उसका दीक्षाकाल आधाभाग या चौथाई घटा देना चाहिये अथवा यदि व्रतसे भ्रष्ट हो तो उसको फिरसे दीक्षा दे स्थिर करना चाहिये–यदि वह दंड न स्वीकार करे तो उसको छोड़ देना चाहिये। अपने पास न रखना चाहिये। यदि कोई आचार्य्य मोहवश अयोग्य साधुको रखले तो वह स्वयं प्रायश्चित्तके योग्य हो जावे, ऐसा व्यवहार है।

उत्थानिका–आगे विनयादि क्रियाको और भी प्रगट करते हैं-

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि ॥८३॥

अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कारः।
अंजलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकानां हि ॥ ८३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(इह) इस लोकमें (हि) निश्चय करके (गुणधिगाणं) अपनेसे अधिक गुणवालोंके लिये (अब्भुट्ठाणं) उनको आते देख कर उठ खड़ा होना (गहणं) उनको आदरसे स्वीकार करना (उवासणं) उनकी सेवा करना (पोषणं) उनकी रक्षा करना (सक्कारं) उनका आदर करना (च अंजलिकरणं पणमं) तथा हाथ जोड़ना और नमस्कार करना (भणिदं) कहा गया है।

विशेषार्थ–खड़े होकर सामने जाना सो अभ्युत्थान है, उनको सत्कारके साथ स्वीकार करना–बैठाकर आसन देना सो ग्रहण है,

उनके शुद्धात्माकी भावनामें सहकारी कारणोंके निमित्त उनकी वैयावृत्य करना सो सेवा है, उनके भोजन, शयन आदिकी चिन्ता रखनी सो पोषण है, उनके व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयके गुणोंकी महिमा करनी सो सत्कार है, हाथ जोड़कर नमस्कार करना सो अंजली करण है, नमोस्तु ऐसा वचन कहकर दंडवत करना सो प्रणाम है। गुणोंसे अधिक तपोधनोंकी इस तरह विनय करना योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने विनय करनेके भेद बता दिये हैं तथा यह भाव झलका दिया है कि तपोधनोंको परस्पर विनय करना चाहिये। तथापि जो साधु अधिक गुणवान होते हैं उनकी विनय नीची श्रेणीके साधु प्रथम करते हैं। आगन्तुक साधुको किस तरह स्वागत किया जाता है तथा उसकी परीक्षा करके उसको ज्ञान दान व प्रायश्चित्त दानसे किस तरह सन्मानित किया जाता है यह बात पहले कही जाचुकी है। यहां सामान्यपने कथन है जिससे यह भी भाव लेना चाहिये कि गृहस्थ श्रावकोंको साधुओंकी विनय भले प्रकार करनी चाहिये-उनको आते देखकर खड़ा होना, उनको उच्चासन देना, उनकी वैयावृत्य करनी, उनकी शरीररक्षाका भोजनादि द्वारा ध्यान रखना, उनके रत्नत्रय धर्मकी महिमा करनी, हाथ जोड़े विनयसे बैठना, नमोस्तु कहकर दंडवत करना ये सब श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है। विनय भक्ति तथा धर्मप्रेमको बढ़ानेवाला है व अपना सर्वस्व विनयके पात्रमें अर्पण करानेवाला है। इस लिये विनयको तपमें गर्भित किया है। श्री मूलाचारके पंचाचार अधिकारमें कहा है:—

अब्भुट्ठाणं किदिकम्मं णवण अंजलीय मुंडाणं।
पच्चूगच्छणमेदे पच्छिद्दसणुसाधणं चेव ॥ १७६ ॥
णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं।
आसणदाणं उवगरणदाणं ओग्गासदाणं च ॥ १७७ ॥
पडिरूवकायसंफासणदा पडिरुपकालकिरियाय।
पेसणकरणं संथरकरणं उवकरणपडिलिहणं ॥ १७८ ॥
पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च मधुरं व।
सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ॥ १८० ॥
उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं।
एसो वाइयविणओ जहारिहं होदि कादव्वो ॥ १८१ ॥

भावार्थ—ऋषियोंके लिये आदर पूर्वक उठ खड़ा होना, सिद्ध भक्ति श्रुतभक्ति गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करना, प्रणाम करना, हाथ जोड़ना, आते हुए सामने लेनेको जाना, जाते हुए उनके पीछे जाना, देव तथा गुरुके सामने नीचे खड़े होना गुरुके बाएं तरफ या पीछे चलना, उनसे नीचे बैठना, सोना, गुरुको आसन देना, पीछी कमंडल शास्त्र देना, बैठने व ध्यान करनेको गुफा आदि बना देना, गुरु व साधुके शरीरके बलके योग्य शरीरका मर्दन करना, ऋतुके अनुसार सेवा करनी, आज्ञानुसार सेवा करनी, आज्ञानुसार वर्तना, तिनकोंका संथारा बिछा देना, उनके मंडल पुस्तकका भले प्रकार पीछीसे झाड़ देना इत्यादि विनय करना योग्य है; आदर पूर्वक वचन कहना अर्थात् बहुवचनका व्यवहार करना, इस लोक परलोकमें हितकारी वचन कहना, अल्प अक्षरोंमें मर्यादारूप बोलना, मीठा वचन कहना, शास्त्रके अनुसार वचन कहना, कठोर व कर्कशवचन न कहना, शांत वचन कहना,

गृहस्थके योग्य बचन न कहना, क्रिया रहित वाक्य न बोलना, निरादरके बचन न कहना सो सब वचन द्वारा विनय है ॥८३॥

उत्थानिका–आगे अभ्यागत साधुओंकी विनयको दूसरे प्रकारसे बताते हैं–

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ ८४ ॥
अभ्युत्थेयाः श्रमणाः सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः ।
संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीया हि श्रमणैः ॥ ८४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(समणेहिं) साधुओंके द्वारा (हि) निश्चय करके (सुत्तत्थविसारदा) शास्त्रोंके अर्थमें पंडित तथा (संजमतवणाणड्ढा) संयम, तप और ज्ञानसे पूर्ण (समणा) साधुगण (अब्भुट्ठेया) खड़े होकर आदर करने योग्य हैं, (उवासेया) उपासना करने योग्य हैं तथा (पणिवदणीया) नमस्कार करने योग्य हैं ।

विशेषार्थ–जो निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय या साधु विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमई परमात्मतत्त्वको आदि लेकर अनेक धर्ममई पदार्थोंके ज्ञानमें वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्गके अनुसार प्रमाण, नय, निक्षेपोंके द्वारा विचार करनेके लिये चतुर बुद्धिके धारक हैं तथा बाहरमें इंद्रियसंयम व प्राणसंयमको पालते हुए भीतरमें इनके बलसे अपने शुद्धात्माके ध्यानमें यत्नशील हैं ऐसे संयमी हैं तथा बाहरमें अनशनादि तपको पालते हुए भीतरमें इनके बलसे परद्रव्योंकी इच्छाको रोककर अपने आत्म स्वरूपमें तपते हैं ऐसे तपस्वी हैं, तथा बाहरमें परमागमका अभ्यास करते हुए भीतरमें स्वसंवेदन नसे पूर्ण हैं ऐसे साधुओंको दूसरे साधु आते देख उठ खड़े

होते हैं, परम चैतन्य ज्योतिमई परमात्म पदार्थके ज्ञानके लिये उनकी परम भक्तिसे सेवा करते हैं तथा उनको नमस्कार करते हैं। यदि कोई चारित्र व तपमें अपनेसे अधिक न हो तौ भी सम्यग्ज्ञानमें बड़ा समझकर श्रुतकी विनयके लिये उनका आदर करते हैं। यहां यह तात्पर्य है कि जो कि बहुत शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, परन्तु चारित्रमें अधिक नहीं हैं तौभी परमागमके अभ्यासके लिये उनको यथायोग्य नमस्कार करना योग्य है। दूसरा कारण यह है कि वे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानमें पहलेसे ही दृढ़ हैं। जिसके सम्यक्त व ज्ञानमें दृढ़ता नहीं है वह साधु वन्दना योग्य नहीं है। आगममें जो अल्पचारित्रवालोंको वन्दना आदिका निषेध किया है वह इसी लिये कि मर्यादाका उल्लंघन न हो।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि जो सच्चे श्रमण हैं वे ही विनयके योग्य हैं। जो श्रमणाभास हैं वे वन्दना योग्य नहीं हैं। सच्चे साधुओंके गुण यही हैं कि वे जैन सिद्धांतके भावके मर्मी हों और संयम तपमें सावधान रहते हुए आत्मीक तत्त्वज्ञानमें भीजे हुए हों। जिसमें सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है तथा अपनेसे अधिक तप व चारित्र नहीं है अर्थात् जो कठिन तप व चारित्र नहीं पालते हैं तौभी अपने मूलगुणोंमें सावधान हैं उनकी भी भक्ति अन्य साधुओंको करनी योग्य है। इन साधुओंमें जो बड़े विद्वान हैं उनकी तो अच्छी तरह सेवा करनी योग्य है अर्थात् उनकी भक्ति करके उनसे सूत्रका भाव समझ लेना योग्य है। विनय करना धर्मात्मामें प्रेम बढ़ानेके सिवाय धर्ममें अपना प्रेम बढ़ा देता है। स्वयं श्रद्धा, ज्ञान व

चारित्रमें दृढ़ होनेके लिये रत्नत्रय धर्मसाधकोंकी विनय अतिशय आवश्यक है।

अनगारधर्मामृतमें सप्तम अध्यायमें कहा है:—

ज्ञानलाभार्थमाचारविशुद्धर्थं शिवार्थिभिः ।
आराधनादिसंसिद्धयै कार्यं विनयभावनम् ॥ ७६ ॥

भावार्थ—ज्ञानके लाभके लिये, आचारकी शुद्धिके लिये व सम्यग्दर्शन आदि आराधनाकी सिद्धिके लिये मोक्षार्थियोंको विनयकी भावना निरन्तर करनी योग्य है।

और भी कहा है—

द्वारं यः सुगतेर्गणेशगणयोर्यः कार्मणं यत्तपो—
वृत्तज्ञानऋजुत्वमार्दवयशःसौचित्यरत्नार्णवः ।
यः संक्लेशदवाम्बुदः श्रुतगुरुद्योतैकदीपश्च यः,
स क्षेप्यो विनयः परं जगदिनाज्ञापारवश्येन चेत् ॥७:॥

भावार्थ—जो विनय मोक्षका या स्वर्गका द्वार है, संघनाथ और संघको वश करनेवाला है, तप, ज्ञान, आर्जव, मार्दव, यश, शौच, धर्म आदि रत्नोंका समुद्र है, संक्लेशरूपी दावानलको बुझानेके लिये मेघ जल है, शास्त्र और गुरुके उद्योत करनेका दीपक है, ऐसा विनय तप सर्वज्ञकी आज्ञामें चलनेवालेके लिये क्या निरादरके योग्य है। अर्थात् सदा ही भक्तिपूर्वक करने योग्य है ॥८४॥

उत्थानिका—आगे श्रमणाभास कैसा होता है इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥८५॥
न भवति श्रमण इति मत संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तोपि ।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥ ८५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि) संयम, तप तथा शास्त्रज्ञान सहित होनेपर भी (नदि) जो कोई (जिणक्खादे) जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए (आदपधाणे अत्थे) आत्माको मुख्यकरके पदार्थोंको (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (समणोत्ति ण हवदि मदो) वह साधु नहीं हो सक्ता है ऐसा माना गया है।

विशेषार्थ—आगममें यह बात मानी हुई है कि जो कोई साधु संयम पालता हो, तप करता हो व शास्त्रज्ञान सहित भी हो, परन्तु जिसके तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषरहित सम्यक्त न हो अर्थात् जो वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रगट दिव्यध्वनिके कहे अनुसार गणधर देवोंद्वारा ग्रन्थोंमें गूंथित निर्दोष परमात्माको लेकर पदार्थ समूहकी रुचि नहीं रखता है, वह श्रमण नहीं है।

भावार्थ—साधुपद हो या श्रावकपद हो दोनोंमें सम्यक्दर्शन प्रधान है। सम्यक्तके विना ग्यारह अंग, दस पूर्वका ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान है, तथा घोर मुनिका चारित्र भी कुचारित्र है। वही श्रमण है जिसको अंतरङ्गसे आत्माका अनुभव होता है और जो जीव अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष, पुण्य, पाप इन नौ पदार्थोंके स्वरूपको जिनागमके अनुसार निश्चय और व्यवहार नयके द्वारा यथार्थ जानकर श्रद्धान करता है। भावके विना मात्र द्रव्यलिंग एक नाटकके पात्रकी तरह भेषमात्र है। वास्तवमें सच्चा ज्ञान आत्मानुभव है व सच्चा चारित्र स्वरूपाचरण है। इन दोनोंका होना सम्यग्दर्शनके होते हुए ही संभव है। सम्यक्तके विना मात्र बाहरी ज्ञान व चारित्र होता है।

सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

सम्यक्त्वं परमं रत्नं शंकादिमलवर्जितम् ।
संसारदुःखदारिद्र्यं नाशयेत्सुविनिश्चितम् ॥ ४० ॥
सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः ।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥ ४१ ॥
पंडितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ॥ ४२ ॥'

भावार्थ–सम्यग्दर्शन ही परम रत्न है। जिसमें शंका आदि पचीस दोष न हों यही निश्चयसे संसारके दुःखरूपी दालिद्रको नाश कर देता है। जो सम्यग्दर्शनसे संयुक्त है उसको निश्चयसे निर्वाणका लाभ होगा और मिथ्यादृष्टी जीवका सदा ही संसारमें भ्रमण होगा। वही पंडित है, वही शिष्य है, वही धर्मज्ञाता है, वही दर्शनमें प्रिय है जो सम्यग्दर्शनको मनमें दृढ़तासे रखता हुआ सदाचारको अच्छी तरह धारण करता है। भाव ही प्रधान है ऐसा श्री कुन्दकुन्द भगवानने भावपाहुड़में कहा है:—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगो हवे साहू ॥ ५६ ॥

भावार्थ–जो शरीर आदिके ममत्वसे रहित है, मान कषायोंसे बिलकूल दूर है तथा जिसका आत्मा आत्मामें लीन है वही भावलिंगी साधु है।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥ १०० ॥

भावार्थ–जो भावलिंगी सम्यग्दृष्टी साधु हैं वे ही कल्याणकी परम्परासे पूर्ण सुखोंको पाते हैं तथा जो मात्र द्रव्यलिंगी साधू हैं वे मनुष्य, तिर्यंच व कुदेवकी योनियोंमें दुःखोंको पाते हैं।

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले ।
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥ १४६ ॥

भावार्थ—जैसे निर्मल आकाश मंडलमें तारागण सहित चंद्रमाका विम्ब शोभता है ऐसे ही सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध व तप तथा व्रतोंसे निर्मल जिनलिंग या मुनिलिंग शोभता है।

उत्थानिका—आगे जो रत्नत्रय मार्गमें चलनेवाला साधु है उसको जो दूषण लगाता है उसके दोषको दिखलाते हैं—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥८६॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥ ८६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चयसे (सासणत्थं) जिनमार्गमें चलते हुए (समणं) साधुको (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभावसे (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिये विनयपूर्वक क्रियाओंमें (णाणुमण्णदि) नहीं अनुमति रखता है (सो) वह साधु (हि) निश्चयसे (णट्ठचारित्तो) चारित्रसे भृष्ट (हवदि) हो जाता है।

विशेषार्थ—जो कोई साधु दूसरे साधुको निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गमें चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्माकी भावनासे शून्य होकर द्वेषभावसे या कषायभावसे उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्योंकी अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षासे मर्यादाके उल्लंघन करनेसे चारित्रसे भृष्ट हो जाता है। जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय

मार्गमें चलते हुए साधुको देखकर ईर्षाभावसे दोष ग्रहण करे तो वह प्रगटपने चारित्र भृष्ट हो जाता है। पीछे अपनी निन्दा करके उस भावको छोड़ देता है तो उसका दोष मिट जाता है अथवा कुछ काल पीछे इस भावको त्यागता है तौभी उसका दोष नहीं रहता है, परन्तु यदि इसी ही निन्दा रूप भावको दृढ़ करता हुआ तीव्र कषाय भावसे मर्यादाको उल्लंघकर वर्तन करता रहता है तो वह अवश्य चारित्र रहित होजाता है। बहुत शास्त्र ज्ञाताओंको थोड़े शास्त्रज्ञाता साधुओंका दोष नहीं ग्रहण करना चाहिये और न अल्पशास्त्री साधुओंको उचित है कि थोड़ासा पाठ मात्र जानकर बहुत शास्त्री साधुओंका दोष ग्रहण करें, किंतु परस्पर कुछ भी सारभाव लेकर स्वयं शुद्ध स्वरूपकी भावना ही करनी चाहिये, क्योंकि रागद्वेषके पैदा होते हुए न बहुत शास्त्र ज्ञाताओंको शास्त्रका फल होता है न तपस्वियोंको तपका फल होता है।

भावार्थ—इस गाथाका यह भाव है कि साधुओंको दूसरे साधुओंको देखकर आनन्द भाव लाना चाहिये तथा उनकी यथायोग्य विनय करनी चाहिये। जो कोई साधु अपने अहंकारके वश दूसरे जिन शासनके अनुकूल चलनेवाले साधुके साथ द्वेषभाव रखके आदर प्रतिष्ठा करना तो दूर रहो, उनके चारित्रकी अनुमोदना करना तो दूर रहो उल्टी उनकी वृथा निन्दा करता है वह साधु स्वयं चारित्रसे रहित हो जाता है। धर्मात्माओंको धर्मात्माओंके साथ प्रेमभाव, आदर भाव रखके परस्पर एक दूसरेके गुणोंकी अनुमोदना करनी चाहिये—तथा वीतरागभावमें रत हो शुद्ध स्वभावकी भावना करनी चाहिये। जिन साधुओंकी

परदोष ग्रहण व परनिन्दा करनेकी आदत पड़ जाती है वे साधु अपने भाव साधुपनेसे छूटकर केवल द्रव्यलिंगी ही रह जाते हैं, अतएव इस भावको दूरकर साधुओंको साम्य भावरूपी वागमें रमण करना योग्य है। अनगारभावना मूलाचारमें कहा है:—

भासं विणयविहूणं धम्मविरोही विवज्जये वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा णवि ते भासंति सप्पुरिसा ॥८७॥
जिणवयणभासिदत्थं पत्थं च हिदं च धम्मसंजुत्तं।
समओवयारजुत्तं पारत्तहिदं कधं करेंति ॥ ६४ ॥

भावार्थ—साधुजन विनयरहित, धर्मविरोधी वचनको कभी नहीं कहते हैं तथा यदि कोई पूछो वा न पूछो वे कभी भी धर्म भावरहित वचन नहीं कहते हैं। साधुजन ऐसी कथा करते हैं जो जिन वचनोंमें प्रगट किये हुए पदार्थोंको बतानेवाली हो, पथ्य हो अर्थात् समझने योग्य हो, हितकारी हो व धर्मभाव सहित हो, आगमकी विनय सहित हो तथा परलोकमें भी हितकारी हो।

मूलाचारके पंचाचार अधिकारमें कहा है कि सम्यग्दृष्टी साधुओंको वात्सल्यभाव रखना चाहिये—

चादुव्वण्णे संघे चदुगतिसंसारणित्थरणभूदे।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धो ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जैसे गौ अपने बच्चेमें प्रेमालु होती है उसी तरह चार प्रकार मुनि, आर्जिका, श्रावक, श्राविकाके संघमें—जो चार गतिरूप संसारसे पार होनेके उपायमें लीन हैं—परम प्रेमभाव रखना चाहिये।

अनगारधर्मामृत द्वि० अध्यायमें कहा है—

धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं,
दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत्क्षतिं च ।
धर्मे सधर्मसु सुधीः कुशलाय बद्ध-
प्रेमानुबन्धमथ विष्णुवदुत्सहेत ॥ १०७ ॥

भावार्थ–जैसे गौ अपने वछड़ेपर निरंतर प्रेमालु होकर दृष्टि रखती है तथा मनसे भी उसकी हानिको नहीं सहन कर सक्ती है इसी तरह बुद्धिमान मनुष्यको चाहिये कि वह धर्म तथा धर्मात्माओंको अपने हितके लिये निरन्तर प्रेमभावसे देखे तथा धर्म व धर्मात्माकी कुछ भी हानि मनसे भी सहन न करे–सदा प्रेमरसमें बंधे हुए साधर्मी मुनियों व श्रावकोंकी सेवामें उत्साहवान हो विष्णुकुमार मुनिकी तरह उद्यम करता रहे । इस कथनसे सिद्ध है कि साधुजन कभी दोषग्राही नहीं होते, न मनमें द्वेषभाव रखते हुए योग्य मार्गपर चलनेवालोंकी निन्दा करते हैं; किंतु सर्व साधर्मीजनोंसे प्रेमभाव रखते हुए उनका हित ही वांछते हैं ।

यहां शिष्यने कहा कि आपने अपवाद मार्गके व्याख्यानके समय शुभोपयोगका वर्णन किया अब यहां फिर किसलिये उसका व्याख्यान किया गया है ? इसका समाधान यह है कि यह कहना आपका ठीक है, परन्तु वहांपर सर्व त्याग स्वरूप उत्सर्ग व्याख्यानको करके फिर असमर्थ साधुओंको कालकी अपेक्षासे कुछ भी ज्ञान, संयम व शौचका उपकरण आदि ग्रहण करना योग्य है इस अपवाद व्याख्यानकी मुख्यता है । यहां तो जैसे भेद नयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र व सम्यग्तप रूप चार प्रकार आराधना होती है सो ही अभेद नयसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र रूपसे दो प्रकारकी होती हैं । इनमें भी और अभेद नयसे

एक ही वीतराग चारित्ररूप आराधना होती है तैसे ही भेद-नयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपसे तीन प्रकार मोक्ष मार्ग है सो ही अभेद नयसे एक श्रमणपना नामका मोक्ष मार्ग है जिसका अभेद रूपसे मुख्य कथन "एयग्गगदो समणो" इत्यादि चौदह गाथाओंमें पहले ही किया गया। यहां मुख्यतासे उसीका भेदरूपसे शुभोपयोगके लक्षणको कहते हुए व्याख्यान किया गया इसमें कोई पुनरुक्तिका दोष नहीं है ॥ ८६ ॥

इस प्रकार समाचार विशेषको कहते हुए चौथे स्थलमें गाथाएं आठ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो स्वयं गुणहीन होता हुआ दूसरे अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हैं उनसे अपना विनय चाहता है उसके गुणोंका नाश हो जाता है—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जोवि होमि समणोत्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ ८७ ॥
गुणतोऽधिकस्य विनयं प्रत्येषको योपि भवामि श्रमण इति।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तसंसारी ॥ ८७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(यदि) यदि (जोवि) जो कोई भी (समणोत्ति होमि) मैं साधु हूं ऐसा मानके (गुणदोधिगस्स) अपनेसे गुणोंमें जो अधिक हैं उसके द्वारा (विणयं) अपना विनय (पड़िच्छगो) चाहता है (सो) वह साधु (गुणाधरो) गुणोंसे रहित (होज्जं) होता हुआ (अणंतसंसारी होदि) अनन्त संसारमें भ्रमण करनेवाला होता है।

विशेषार्थ—मैं श्रमण हूं इस गर्वसे—जो साधु अपनेसे व्यवहार निश्चय रत्नत्रयके साधनमें अधिक है—उससे अपनी वन्दना

आदि विनयकी इच्छा करता है, वह स्वयं निश्चय व्यवहार रत्नत्र-यरूपी गुणसे हीन होता हुआ किसी अपेक्षा अनन्त संसारमें भ्रमण करनेवाला होता है। यहां यह भाव है कि यदि कोई गुणाधि-कसे अपने विनयकी वांछा गर्वसे करे, परन्तु पीछे भेदज्ञानके बलसे अपनी निन्दा करे तो अनन्त संसारी न होवे अथवा कालान्तरमें भी अपनी निन्दा करे तौभी दीर्घ संसारी न होवे, परन्तु जो मिथ्या अभिमानसे अपनी बड़ाई, पूजा व लाभके अर्थ दुराग्रह या हठ धारण करे सो अवश्य अनन्तसंसारी हो जावेगा।

भावार्थ—यहां भी आचार्यने श्रमणाभासका स्वरूप बताया है। कोई २ साधु ऐसे हों जो स्वयं रत्नत्रय धर्मके साधनमें शिथिल हों और गर्व यह करें कि हमको साधु जानके हमसे अधिक गुणधारी भी हमको नमस्कार करें, तो ऐसे साधु किसी तरह साधु नहीं रह सक्के। उनके परिणामोंमें मोक्ष मार्गकी अरुचि तथा मानकी तीव्रता हो जानेसे वे साधु निश्चय व्यवहार साधु धर्मसे भ्रष्ट होकर सम्यग्दर्शनरूपी निधिसे दलिद्री होते हुए अनंतानुबंधी कषायके वशीभूत हो दुर्गतिमें जा ऐसे भ्रमण करते हैं कि उनका संसारमें भ्रमण अभव्यकी अपेक्षा अनंत व भव्यकी अपेक्षा बहुत दीर्घ होजाता है। वास्तवमें साधु वही होसक्ता है जिसको मान अपमानका, निंदा बड़ाईका कुछ भी विकल्प न हो—निरन्तर समताभावमें रमण करता रहता हुआ परम वीतरागतासे आत्मीक आनंदके रसको पान करता है और आप धर्मात्माओंका सेवक होता हुआ उनका उपकार करता रहता है। केवल द्रव्यलिंग साधुपना नहीं है। जहां भाव साधुपना है वहीं

सच्चा साधुपना है। भाव विना वाहरी क्रिया फलदाई नहीं होसक्ती है। जैसा भावपाहुड़में स्वामीने कहा है:-

भावविसुद्धणिमित्तं वाहिरगंथस्स कोरए चाओ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥ ३ ॥
भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
अम्मंतराइ वहुसो लंवियहत्थो गलियवत्थो ॥ ४ ॥
परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ वाहरे य जई।
वाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणई ॥ ५ ॥
जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥ ६ ॥
भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं वहुसो वाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥ ७ ॥

भावार्थ—भावोंकी विशुद्धताके लिये ही बाहरी परिग्रहका त्याग किया जाता है। जिसके भीतर रागादि अभ्यंतर परिग्रह विद्यमान है उसका बाहरी त्याग निर्फल है। यदि कोई वस्त्र त्याग हाथ लम्वेकर कोड़ाकोड़ी जन्मों तक भी तप करे तौभी भाव रहित साधु सिद्धि नहीं पासक्ता। जो कोई परिणामोंमें अशुद्ध है और बाहरी परिग्रहोंको त्यागता है—भाव रहितपना होनेसे बाहरी ग्रन्थका त्याग उसका क्या उपकार कर सक्ता है। हे मुने! भावको ही मुख्य जान, इसीको ही जिनेन्द्रदेवने मोक्षमार्ग कहा है। भाव रहित भेषसे क्या होगा? हे सत्पुरुष! भाव रहित होकर इस जीवने इस अनादि अनन्त संसारमें वहुतसे वाहरी निर्ग्रंथरूप वार-वार ग्रहण किये हैं और छोड़े हैं। और भी कहा है—

भावेण होइ णग्गो वाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीय णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

णगत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं ।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥ ५५ ॥

भावार्थ–भावोंसे ही नग्नपना है । मात्र बाहरी नंगे भेषसे क्या ? भाव सहित द्रव्यलिंगके प्रतापसे ही यह जीव कर्म प्रकृतियोंके समूहका नाश कर सक्ता है । जिनेन्द्र भगवानने कहा है कि जिसके भाव नहीं है उसका नग्नपना कार्यकारी नहीं है ऐसा जानकर हे धीर! नित्य ही आत्माकी भावना कर। जो.गुणाधिकोंकी विनय चाहते हैं उनके सम्बन्धमें दर्शनपाहुड़में स्वामीने कहा है:—

जे दंसणेण भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥ १२ ॥

भावार्थ–जो साधु स्वयं सम्यग्दर्शनसे भृष्ट हैं और जो सम्यग्दृष्टी साधु हैं उनसे अपने चरणोंमें नमस्कार कराते हैं वे मरके लूले बहरे होते हैं उनको रत्नत्रयकी प्राप्ति उत्यंत दुर्लभ है ।

उत्थानिका–आगे यह दिखलाते हैं कि जो स्वयं गुणोंमें अधिक होकर गुणहीनोंके साथ वंदना आदि क्रियाओंमें वर्तन करते हैं उनके गुणोंका नाश होजाता है ।

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ ८८ ॥

अधिकगुणाः श्रामण्ये वर्तन्ते गुणाधरैः क्रियासु ।
यदि ते मिथ्योपयुक्ता भवन्ति प्रभ्रष्टचारित्राः ॥ ८८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(सामण्णे) मुनिपनेके चारित्रमें (अधिगगुणा) उत्कृष्ट गुणधारी साधु (जदि) जो (गुणाधरेहिं) गुणहीन साधुओंके साथ (किरियासु) वन्दना आदि क्रियाओंमें

(वट्टंति) वर्तन करते हैं (ते) वे (मिच्छुवजुत्ता) मिथ्यात्व सहित तथा (पब्भट्ठचारित्ता) चारित्र रहित (हवंति) होजाते हैं।

विशेषार्थ–यदि कोई बहुत शास्त्रके ज्ञाताओंके पास स्वयं चारित्र गुणमें अधिक होनेपर भी अपने ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धिके लिये वंदना आदि क्रियाओंमें वर्तन करै तो दोष नहीं है, परन्तु यदि अपनी बड़ाई व पूजाके लिये उनके साथ वंदनादि क्रिया करै तो मर्यादा उल्लंघनसे दोष है। यहां तात्पर्य यह है कि जिस जगह वंदना आदि क्रियाके व तत्व विचार आदिके लिये वर्तन करे परन्तु रागद्वेषकी उत्पत्ति हो जावे उस जगह सर्व अवस्थाओंमें संगति करना दोष ही है। यहां कोई शंका करे कि यह तो तुम्हारी ही कल्पना है, आगममें यह बात नहीं है? इसका समाधान यह है कि सर्व ही आगम रागद्वेषके त्यागके लिये ही हैं किन्तु जो कोई साधु उपसर्ग और अपवादरूप या निश्चय व्यवहाररूप आगममें कहे हुए नय विभागको नहीं जानते हैं वे ही रागद्वेष करते हैं और कोई नहीं।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने कहा है कि उच्च साधुओंको नीचोंकी संगति भी न करनी चाहिये, क्योंकि संगतिसे चारित्रमें शिथिलता आ जाती है। जो साधु चारित्रवान हैं वे यदि ऐसे साधुओंकी संगति करें–जो चारित्र हीन हैं, चारित्रमें शिथिल हैं–तो वे चारित्रवान भी परिणामोंमें शिथिलाचारी होकर शिथिलाचारी हो सक्ते हैं। जो साधु यथार्थ अट्ठाईस मूलगुणोंके पालनेवाले हैं वे चाहे अपनेसे ज्ञानमें हीन हों चाहे अधिक हों, उनके साथ वंदना स्वाध्याय आदि क्रियाओंमें

साथ रहनेसे अपने चारित्रमें व श्रद्धानमें कमी नहीं आसक्ती है, किन्तु जो चारित्र पालनेमें शिथिलाचारी होंगे उनका श्रद्धान भी शिथिल होगा। ऐसे गुणहीनोंकी संगति यदि दृढ़श्रद्धानी या दृढ़-चारित्री करने लगेंगे तो बहुत संभव है कि उनके प्रमादसे ये भी प्रमादी हो जावें और ये भी अपने श्रद्धान व चारित्रको भ्रष्ट कर डालें। यदि हीन चारित्री साधु अपनी संगतिको आवें तो पहले उनका चारित्र शास्त्रोक्त करा देना चाहिये। यदि वे अपना चारित्र ठीक न करें तो उनके साथ वंदना आदि क्रियायें न करनी चाहिए। यदि कोई विशेष विद्वान भी है और चारित्रहीन है तौ भी वह संगतिके योग्य नहीं है। यदि कदाचित उससे कोई ज्ञानकी वृद्धि करनेके लिये संगति करनी उचित हो तो मात्र अपना प्रयोजन निकाल ले, उनके साथ आप कभी शिथिलाचारी न होवै।

श्रमणका भाव यह रहना चाहिये कि मेरे परिणामोंमें समता भाव रहे, राग द्वेषकी वृद्धि न होजावे-जिन जिन कारणोंसे रागद्वेष पैदा होना संभव हो उन उन कारणोंसे अपनेको बचाना चाहिये।

स्वामीने दर्शन पाहुड़में कहा है कि श्रद्धान रहितोंकी विनय नहीं करना चाहिये।

जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण।
तेसिं पि णत्थि-बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥ १३ ॥

भावार्थ-जो लज्जा, भय, आदि करके श्रद्धानभ्रष्ट साधुओंके पगोंमें पड़ते हैं उनके भी पापकी अनुमोदना करनेसे रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं है। श्री कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है:-

कुसंसर्गः सदा त्याज्यो दोषाणां प्रविधायकः।
सगुणोऽपि जनस्तेन लघुतां याति तत्क्षणात् ॥ २६१ ॥

सत्संगो हि बुधैः कार्यः सर्वकालसुखप्रदः ।
तेनैव गुरुतां याति गुणहीनोऽपि मानवः ॥ २७० ॥
रागादयो महादोषाः खलास्ते गदिता बुधैः ।
तेषां समाश्रयास्त्याज्यस्तत्त्वविद्भिः सदा नरैः ॥ २७२ ॥

भावार्थ–सर्व दोषोंको बढ़ानेवाले कुसंगको सदा ही छोड़ देना चाहिये, क्योंकि कुसंगसे गुणवान मानव भी शीघ्र ही लघुताको प्राप्त होजाता है । बुद्धिमानोंको चाहिये कि सर्व समयोंमें सुख देनेवाले सत्संगको करें; इसीके प्रतापसे गुण हीन मनुष्य भी बड़ेपनेको प्राप्त होजाता है । आचार्योंने रागादि महा दोषोंको दुष्ट कहा है इसलिये तत्वज्ञानी पुरुषोंको इन दुष्टोंका आश्रय बिल्कुल त्याग देना चाहिये ।

उत्थानिका–आगे लौकिक जनोंकी संगतिको मना करते हैं–

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसायो तवोधिगो चावि ।
लौगिगजणसंसग्गं ण जहदि जदि संजदो ण हवदि ॥८९॥
निश्चितसूत्रार्थपदः समितकषायस्तपोधिकश्चापि ।
लौकिकजनसंसर्गं न जहाति यदि संयतो न भवति ॥८६॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(णिच्छिदसुत्तत्थपदो) जिसने सूत्रके अर्थ और पदोंको निश्चय पूर्वक जान लिया है, (समिद कसायो) कषायोंको शांत कर दिया है (तवोधिको चावि) तथा तप करनेमें भी अधिक है ऐसा साधु (जदि) यदि (लौगिगजण-संसग्गं) लौकिक जनोंका अर्थात असंयमियोंका या भृष्टचारित्र साधुओंका संगम (ण जहदि) नहीं त्यागता है (संजदो ण हवदि) तो वह सयमी नहीं रह सक्ता है ।

विशेषार्थ–जिसने अनेक धर्ममई अपने शुद्धात्माको आदि

लेकर पदार्थोंको बतानेवाले सूत्रके अर्थ और पदोंको अच्छी तरह निर्णय करके जान लिया है, अन्य जीवोंमें व पदार्थोंमें क्रोधादि कषायको त्याग करके भीतर परम शांतभावमें परिणमन करते हुए अपने शुद्धात्माकी भावनाके बलसे वीतराग भावमें सावधानी प्राप्त की है तथा अनशन आदि छः बाहरी तपोंके बलसे अंतरंगमें शुद्ध आत्माकी भावनाके सम्बन्धमें औरोंसे विजय प्राप्त किया है ऐसा तप करनेमें भी श्रेष्ठ है। इन तीन विशेषणोंसे युक्त साधु होनेपर भी यदि अपनी इच्छासे मनोक्त आचरण करनेवाले भृष्ट साधुका व लौकिक जनोंका संसर्ग न छोड़े तो वह स्वयं संयमसे छूट जाता है। भाव यह है कि स्वयं आत्माकी भावना करनेवाला होनेपर भी यदि संवर रहित स्वेच्छाचारी मनुष्योंकी संगतिको नहीं छोड़े तो अति परिचय होनेसे जैसे अग्निकी संगतिसे जल उष्णपनेको प्राप्त होजाता है ऐसे वह साधु विकारी होजाता है।

भावार्थ—इस गाथामें भी आचार्यने कुसंगतिका निषेध किया है। जो साधु बड़ा शास्त्रज्ञ है, शांत परिणामी है और तपस्वी है वह भी जब भृष्ट साधुओंकी संगति करता है तथा असंयमी लोगोंके साथ बैठता है, बात करता है तो उनकी संगतिके कारण अपने चारित्रमें शिथिलता कर लेता है। गृहस्थोंको दूर बैठाकर केवल जो धर्मचर्चा करके उनको धर्म मार्गमें आरूढ़ करता है वह कुसंगति नहीं है, किंतु गृहस्थोंको अपने ध्यान स्वाध्यायके कालमें अपने निकट बैठाकर उनके साथ लौकिक वार्ता करना जैसे—दो गृहस्थ मित्र बातें करें ऐसे बातें करना—साधुओंमें मोह बढ़ानेवाला है तथा समता भावकी भूमिसे गिरानेवाला है। परिणामोंकी विचित्र

गति है। जैसा बाहरी निमित्त होता है वैसे अपने भाव बदल जाते हैं। इसी निमित्त कारणसे बचनेके लिये ही साधुजनोंको स्त्री पुत्रादिका सम्बन्ध त्यागना होता है। धनादि परिग्रह हटानी पड़ती, वन गुफा आदि एकान्त स्थानोंमें वास करना पड़ता, जहां स्त्री, नपुंसक व लौकिक जन आकर न घेरें। अग्निके पास जल रक्खा हो और यह सोचा जाय कि यह जल तो बहुत शीतल है कभी भी गर्म न होगा तो ऐसा सोचना बिलकुल असत्य है, क्योंकि थोड़ीसी ही संगतिसे वह जल उष्ण होजायगा ऐसे ही जो साधु यह अहंकार करें कि मैं तो बड़ा तपस्वी हूं, मैं तो बड़ा ज्ञानी हूं, मैं तो बड़ा ही शांत परिणामी हूं, मेरे पास कोई भी बैठे उठे उसकी संगतिसे मैं कुछ भी भृष्ट न हूंगा वही साधु अपने समान गुणोंसे रहित भृष्ट साधुओंकी व संसारी प्राणियोंकी प्रीति व संगतिके कारण कुछ कालमें स्वयं संयम पालनमें ढीला होकर असंयमी बन जाता है। इसलिये भूलकर भी लौकिक जनोंकी संगति नहीं रखनी चाहिये। श्री मूलाचार समाचार अधिकारमें लिखा है:—

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चिट्ठेदं।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारभिक्खवोसरणं ॥ १८० ॥
कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥ १८२ ॥

भावार्थ—साधुओंको उचित नहीं है कि आर्जिकाओंके उपाश्रयमें ठहरे। न वहां उनको बैठना चाहिये, न लेटना चाहिये, न स्वाध्याय करना चाहिये, न उनके साथ आहारके लिये भिक्षाको जाना चाहिये, न प्रतिक्रमणादि करना चाहिये, न मल मूत्रादि करना

चाहिये–साधुओंको स्त्रियोंकी संगति न रखनी चाहिये। कन्या हो, विधवा हो, रानी हो, स्वेच्छा चारिणी हो, साध्वी हो कोई भी स्त्री है। यदि साधु उनके साथ एकांतमें क्षण मात्र भी सहवास करें व वार्तालापादि करे तो अपवाद अवश्य प्राप्त होजाता है।

मूलाचारके समयसार अधिकारमें कहा है—

घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी वलंतअग्गिसमा।
तो महिलेयं ढुका णट्ठा पुरिसा सिवं गया इयरे ॥१००॥

भावार्थ–पुरुष तो घीसे भरे हुए घटके समान है व स्त्री जलती हुई अग्निके समान है। ऐसी स्त्रीकी संगति करनेवाले, उनके साथ वार्तालाप व हास्यादि करनेवाले अनेक पुरुष नष्ट होगए हैं। जिन्होंने स्त्रियोंकी संगति नहीं की है, वे ही मोक्ष प्राप्त हुए हैं।

चंडो चवलो मन्दो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥ ६४ ॥
वेज्जावच्चविहीणं विणयविहूणं च दुस्सदिकुसीलं।
समणं विरागहीणं सुसंजमो साधु ण सेविज्ज ॥ ६५ ॥
दंभं परपरिवादं पिसुणत्तण पापसुत्तपडिसेवं।
चिरपव्वइदंपि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज ॥ ६६ ॥
चिरपव्वइदं वि मुणी अपुट्ठधम्मं असंपुडं णीचं।
लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज ॥ ६: ॥
आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ॥ ६८ ॥
आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊण।
हिंडइ ढुंढायरिओ, णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥ ६९ ॥
वीदेहव्वं णिच्चं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स।
चरणयरणिग्गमं मिव वयणकयारं वहंतस्स ॥ ७१ ॥

आइरियत्तणमुचणयइ जो मुणी आगमं ण याणंतो ।
अप्पाणं पि विणासिय अण्णे वि पुणो विणासेई ॥ ७२ ॥

भावार्थ—इतने प्रकारके साधुओंसे संगति न करनी चाहिये। जो विष वृक्षके समान मारनेवाला रौद्रपरिणामी हो, वचन आदि क्रियाओंमें चपल हो, चारित्रमें आलसी हो, पीठ पीछे चुगली करनेवाला हो, अपनी गुरुता चाहता हों, कषायसे पूर्ण हो ॥६४॥ दुःखी मांदे साधुओंकी वैयावृत्त्य न करता हो, पांच प्रकार विनय रहित हो, खोटे शास्त्रोंका रसिक हो, निन्दनीय आचरण करता हो, नग्न होकर भी वैराग्य रहित हो ॥६५॥ कुटिल वचन बोलता हो, पर निंदा करता हो, चुगली करता हो, मारणोच्चाटन वशीकरणादि खोटे शास्त्रोंका सेवनेवाला हो, बहुत कालका दीक्षित होनेपर भी आरम्भका त्यागी न हो, ॥६६॥ दीर्घकालका दीक्षित होकर भी जो मिथ्यात्व सहित हो, इच्छानुसार वचन बोलनेवाला हो, *नीचकर्म करता हो, लौकिक और पारलौकिक धर्मको न जानता हो* तथा जिससे इसलोक परलोकका नाश हो ॥६७॥ जो आचार्यके संघको छोड़कर अपनी इच्छासे अकेला घूमता हो व जिसको शिक्षा देनेपर भी उस उपदेशको ग्रहण नहीं करता हो ऐसा पाप श्रमण हो, जो पूर्वमें शिष्यपना न करके शीघ्र आचार्यपना करनेके लिये घूमता हो अर्थात् जो मत्त हाथीके समान पूर्वापर विचार रहित ढोढाचार्य हो ॥६९॥ जो दुर्जनकेसे वचन कहता हो, आगे पीछे विचार न कर ऐसे दुष्ट वचन कहता हो जैसे नगरके भीतरसे कूडा बाहर किया जाता हो ॥ ७१ ॥ तथा जो स्वयं आगमको न जानता हुआ अपनेको आचार्य थापकर अपने आत्माका और दूसरे आत्माओंका नाश करता हो ॥ ७२ ॥

उनके शिष्य अनेक गुणोंके धारी आचार्य **श्री सोमसेन** हुए। उनका शिष्य यह जयसेन तपस्वी हुआ। सदा धर्ममें रत प्रसिद्ध माल्ह साधु नामके हुए हैं। उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है, उनसे यह चारुभट नामका पुत्र उपजा है, जो सर्व ज्ञान प्राप्तकर सदा आचार्योंके चरणोंकी आराधना पूर्वक सेवा करता है, उस चारुभट अर्थात जयसेनाचार्यने जो अपने पिताकी भक्तिके विलोप करनेसे भयभीत था इस प्राभृत नाम ग्रन्थकी टीका की है। श्रीमान् त्रिभुवनचन्द्र गुरुको नमस्कार करता हूं, जो आत्माके भावरूपी जलको बढ़ानेके लिये चंद्रमाके तुल्य हैं और कामदेव नामके प्रबल महापर्वतके सैकड़ों टुकड़े करनेवाले हैं। मैं श्री त्रिभुवनचंद्रको नमस्कार करता हूं। जो जगतके सर्व संसारी जीवोंके निष्कारण बन्धु हैं और गुण रूपी रत्नोंके समुद्र हैं। फिर मैं महा संयमके पालनेमें श्रेष्ट चंद्रमातुल्य श्री त्रिभुवनचन्द्रको नमस्कार करता हूं जिसके उदयसे जगतके प्राणियोंके अन्तरंगका अन्धकार समूह नष्ट होजाता है।

॥ इति प्रशस्ति ॥

करके हमको आहार, औषधि, विद्या तथा प्राणदान करना चाहिये। यह शुभ भाव पुण्यबंधका कारण है।

श्री वसुनंदी श्रावकाचारमें करुणादानको बताया है—

अइवुड्ढवालमूयंधवहिरदेसंतरीयरोइट्ठ ।
जह जोग्गं दायव्वं करुणादाणेति भणिऊण ॥ २३५ ॥

भावार्थ—बहुत बूढ़ा, वालक, गूंगा, अंधा, बहिरा, परदेशी, रोगी इनको यथायोग्य देना सो करुणादान कहा गया है। पंचाध्यायीमें अनुकम्पाका स्वरूप है—

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ४४६ ॥

भावार्थ—सर्व प्राणी मात्रपर उपकार बुद्धि रखना व उसका आचरण सो अनुकम्पा कहलाती है, मैत्रीभाव रखना भी दया है, अथवा द्वेष त्याग मध्यमवृत्ति रखना व वैर छोड़कर शल्य या कषाय भाव रहित होना भी अनुकम्पा है।

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥ ७३१ ॥

भावार्थ—पात्रोंके सिवाय जो कोई भी दुःखी प्राणी अपने पापके उदयसे भूखें, प्यासे, रोगादिसे पीड़ित हों, दयावानोंको उन्हें दया दान आदि करना चाहिये ॥ ९० ॥

उत्थानिका—आगे लौकिक साधु जनका लक्षण बताते हैं—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगोदि भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ॥ ९१ ॥

निर्ग्रंथं प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः ।
स लौकिक इति भणितः संयमतपःसंप्रयुक्तोऽपि ॥ ९१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(णिग्गंथं पव्वइदो) निर्ग्रंथ पदकी दीक्षाको धारता हुआ (जदि) यदि (एहिगेहि कम्मेहिं) लौकिक व्यापारोंमें (वट्टदि) वर्तता है (सो) वह साधु (संजमतवसंपजुत्तोवि) संयम और तप सहित है तौ भी (लोगिगोदि भणिदो) लौकिक साधु है ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ-जिसने वस्त्रादि परिग्रहको त्यागकर व मुनि पदकी दीक्षा लेकर यति पद धारण करलिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहार रत्नत्रयके नाश करनेवाले तथा अपनी प्रसिद्धि, बड़ाई व लाभके बढ़ानेके कारण ज्योतिष कर्म, मंत्र यंत्र, वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थोंके जीवनके उपायरूप व्यापारोंके द्वारा वर्तन करता है तो वह द्रव्य संयम व द्रव्य तपको धारता हुआ भी लौकिक अथवा व्यवहारिक कहा जाता है।

भावार्थ-मुनि महाराजका कर्तव्य मुख्यतासे निश्चय रत्नत्रयकी एकतारूप साम्यभावमें लीन रहता है। तथा यदि वहां उपयोग न ठहरे तो शास्त्र विचार, धर्मोपदेश, वैय्यावृत्त्य आदि शुभोपभोगरूप कार्योंको करना है। ध्यान व अध्ययनमें अपने कालको विताना साधुका कर्तव्य है। यदि कोई साधु गृहस्थोंके समान ज्योतिष कर्म्म किया करे, जन्मपत्रिका बनाया करे, वैद्यक कर्म द्वारा रोगियोंको औषधियें बताया करे, लौकिक कार्योंके निमित्त मंत्र यंत्र किया करे, अथवा कृषि, व्यापार आदि कार्योंमें सम्मति दिया करे व कराया करे तो वह साधु वाहरमें चाहे मुनिके अठाईस मूलगुण पालता है व बारह प्रकार तप करता है परन्तु उसका अंतरङ्ग लौकिक वासनाओंसे भर जाता है जिससे वह

लौकिक साधु हो जाता है। ऐसा साधु मोक्षके साधनमें शिथिल पड़ जाता है इसलिये लौकिक है। अतएव ऐसे साधुकी संगति न करनी योग्य है।

कभी कहीं धर्मके आयतनपर विघ्न पड़े तब साधु उसके निवारणके लिये उदासीन भावसे मंत्र यंत्र करें तो दोष नहीं है। अथवा धर्म कार्यके निमित्त मुहूर्त देखदें व रोगी धर्मात्माको देखकर उसके रोगका यथार्थ इलाज बतावें अथवा गृहस्थोंके प्रश्न होनेपर कभी कभी अपने निमित्तज्ञानसे उत्तर बतादें। यदि इन बातोंको मात्र परोपकारके हेतुसे कभी कभी कोई शुभोपयोगी साधु करे तो दोष नहीं होसक्ता है। परन्तु यदि नित्यकी ऐसी आदत बनाले कि इससे मेरी प्रसिद्धि व मान्यता होगी तो ये कार्य्य साधुके लिये योग्य नहीं है, ऐसा साधु साधु नहीं रहता। श्री मूलाचार समयसार अधिकारमें कहा है कि साधुको लौकिक व्यवहार नहीं करना चाहिये–

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥ ५ ॥

भावार्थ–जो लोक व्यवहारसे रहित है व अपने आत्माको असहाय जानकर व आरंभ रहित रहकर व कषाय और परिग्रहका त्यागी होता हुआ, अत्यन्त विरक्त मोक्षमार्गकी चेष्टा करता हुआ आत्मध्यानमें एकाग्र मन होता है वही साधु है।

मुनिके सामायिक नामका चारित्र मुख्यतासे होता है। उसीके कथनमें मूलाचार षड़ावश्यक अधिकारमें कहा है:–

विरदो सव्वसावज्जं तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं ॥ २३ ॥

मार्गका उपदेश करते हैं। श्रावकोंको पूजा पाठादि करनेका उपदेश करते हैं, शिष्योंको साधु पद दे उनके चारित्रकी रक्षा करते हैं, दुःखी, थके, रोगी, बाल, वृद्ध साधुकी वैय्यावृत्य या सेवा इस तरह करते हैं जिससे अपने साधुके मूलगुणोंमें कोई दोष नहीं आवे। उनके शरीरकी सेवा अपने शरीरसे व अपने वचनोंसे करते हैं तथा दूसरे साधुओंकी सेवा करनेके लिये श्रावकोंको भी उपदेश करते हैं। साधु भोजन व औषधि स्वयं बनाकर नहीं देसक्ते हैं, न लाकर देसक्ते हैं–गृहस्थ योग्य कोई आरम्भ करके साधुजन अन्य साधुओंकी सेवा नहीं कर सक्ते हैं।

श्रावकोंको भी साधुकी वैयावृत्य शास्त्रोक्त विधिसे करनी योग्य है। भक्तिसे आहारादिका दान करना योग्य है। जो साधु शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी हैं वे ही दानके पात्र हैं।

फिर कहा है कि साधुओंको उन साधुओंका आदरसत्कार न करना चाहिये जो साधुमार्गके चारित्रमें भृष्ट या आलसी हैं, न उनकी संगति करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे अपने चारित्रका भी नाश हो जाता है। तथा जो साधु गुणवान साधुओंका विनय नहीं करता है वह भी गुणहीन हो जाता है। साधुओंको ऐसे लौकिक जनोंसे संसर्ग न करना चाहिये जिनकी संगतिसे अपने संयममें शिथिलता हो जावे। साधुको सदा ही अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हों व बराबर हों उनकी ही संगति करनी चाहिये। इस तरह इस अधिकारमें साधुके उत्सर्ग और अपवाद दो मार्ग बताए हैं।

जहां रत्नत्रयमई समाधिरूप शुद्धभावमें तल्लीनता है वह

जाता है, ऐसा जानकर तपोधनको अपने समान या अपनेसे अधिक गुणधारी तपोधनका ही आश्रय करना चाहिये। जो साधु ऐसा करता है उसके रत्नत्रयमई गुणोंकी रक्षा अपने समान गुणधारीकी संगतिसे इस तरह होती है जैसे शीतल पात्रमें रखनेसे शीतल जलकी रक्षा होती है। और जैसे उसी जलमें कपूर शक्कर आदि ठंडे पदार्थ और डाल दिये जावें तो उस जलके शीतलपनेकी वृद्धि हो जाती है। उसी तरह निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके साधनमें जो अपनेसे अधिक हैं उनकी संगतिसे साधुके गुणोंकी वृद्धि होती है "ऐसा भाव है"

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने स्पष्टपने इस बातको दिखा दिया है कि साधुको ऐसी संगति करनी चाहिये जिससे अपने रत्नत्रयरूप धर्ममें कोई कमी न आवे—या तो वह धर्म वैसा ही बना रहे या उसमें बढ़वारी हो। अल्पज्ञानीका मन दूसरोंके अनुकरणमें बहुत शीघ्र प्रवर्तता है। यदि खोटी संगति होती है तो उसके औगुणोंमें जाता है। यदि अच्छी संगति होती है तो उसके गुणोंमें प्रगाढ़ होता है। वस्त्रको यदि साधारण पिटारीमें रख दिया जावे तो वह न बिगड़कर वैसा ही रहेगा। यदि सुगंधित पिटारीमें रक्खा जावे तो वस्त्रमें सुगंध बढ़ जायगी। इसी तरह समान गुणधारीकी संगतिसे अपने गुण बने रहेंगे तथा अधिक गुणधारीकी संगतिसे अपने गुण बढ़ जायगे। इसलिये जिसने मोक्ष मार्गमें चलना स्वीकार किया है उसको मोक्षपद पर पहुंचनेके लिये उत्तम संगति सदा रखनी योग्य है। गुणवानोंकी ही महिमा होती है। कहा है—कुलभद्राचार्यने सारसमुच्चयमें—

गुणाः सुपूजिता लोके गुणाः कल्याणकारकाः ।
गुणहीना हि लोकेऽस्मिन् महान्तोऽपि मलीमसाः ॥२७३॥
सद्‌गुणैः गुरुतां यांति कुलहीनोऽपि मानवः ।
निर्गुणः सकुलाढ्योऽपि लघुतां याति तत्क्षणात् ॥२७४॥

भावार्थ–इस जगतमें गुण ही पूजनीक होते हैं, गुण ही कल्याण करनेवाले होते हैं, जो गुणहीन होवे तो इस लोकमें बड़े२ पुरुष भी मलीन हो जाते हैं। कुलहीन मनुष्य भी सद्‌गुणोंके होते हुए बड़ा माना जाता है जब कि कुलवान होकर भी यदि गुणरहित है तो उसी क्षणसे नीचेपनेको प्राप्त हो जाता है ॥ ९२ ॥

उत्थानिका–आगे पांचवें स्थलमें संक्षेपसे संसारका स्वरूप, मोक्षका स्वरूप, मोक्षका साधन, सर्व मनोरथ स्थान लाभ तथा शास्त्रपाठका लाभ इन पांच रत्नोंको पांच गाथाओंसे व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही संसारका स्वरूप प्रगट करते हैं—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्चत्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति तेतो परं कालं ॥ ९३ ॥

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये ।
अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालं ॥ ९३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–(जे) जो कोई (अजधागहिदत्था) अन्य प्रकारसे असत्य पदार्थोंके स्वभावको जानते हुए (एदेतच्चत्ति-समये) ये ही आगममें तत्त्व कहे हैं ऐसा (णिच्छदा) निश्चय कर लेते हैं (तेतो) वे साधु इस मिथ्या श्रद्धान व ज्ञानसे अबसे आगे (अच्चन्तफलसमिद्धं) अनन्त दुःखरूपी फलसे भरे हुए संसारमें (परं कालं) अनन्त काल (भमंति) भ्रमण करते हैं।

विशेषार्थ—जो कोई साधु या अन्य आत्मा सात तत्त्व नव पदार्थोंका स्वरूप स्याद्वाद नयके द्वारा यथार्थ न जानकर औरका और श्रद्धान कर लेते हैं और यही निर्णय कर लेते हैं कि आगममें तो यही तत्व कहे हैं वे मिथ्या श्रद्धानी या मिथ्याज्ञानी जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पांच प्रकार संसारके भ्रमणसे रहित शुद्ध आत्माकी भावनासे हटे हुए इस वर्तमान कालसे आगे भविष्यमें भी नारकादि दुःखोंके अत्यन्त कटुक फलोंसे भरे हुए संसारमें अनन्तकाल तक भ्रमण करते रहते हैं। इसलिये इस तरह संसार भ्रमणमें परिणमन करनेवाले पुरुष ही अभेद नयसे संसार स्वरूप जानने योग्य हैं।

भावार्थ—वास्तवमें जिन जीवोंके तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान व ज्ञान नहीं है वे ही अन्यथा आचरण करते हुए. पाप कर्मोंको व पापानुबन्धी पुण्य कर्मोंको बांधते हुए नर्क, तिर्यंच, मनुष्य, देव चारों ही गतियोंमें अनतकाल तक भ्रमण किया करते हैं। रागद्वेष मोह संसार है। इन ही भावोंसे आठ कर्मोंका बन्ध होता है। कर्मोंके उदयसे शरीरकी प्राप्ति होती है। शरीरमें वासकर फिर राग द्वेष मोह करता है। फिर कर्मोंको बांधता है। फिर शरीरकी प्राप्ति होती है। इस तरह बराबर यह मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव भ्रमण करता रहता है। आत्मा और अनात्माके भेदज्ञानको न पाकर परमें आत्मबुद्धि करना व सांसारिक सुखोंमें उपादेय बुद्धि रखना सो ही मोह है। मोहके आधीन हो इष्ट पदार्थोंमें राग और अनिष्ट पदार्थोंसे द्वेष करना ये ही संसारके कारणीभूत अनन्तानु-बंधी कषाय रूप रागद्वेष हैं। इन ही भावोंको यथार्थमें संसार

कहना चाहिये । तैसे ही इन भावोंमें परिणमन करनेवाले जीव भी संसार रूप जानने । अनेक अभव्य जीव मिथ्याश्रद्धानकी गांठको न खोलते हुए मुनि होकर भी पुण्य बांध नौ ग्रैवेयक तक चले जाते हैं, परन्तु मोक्षके मार्गको न पाकर कभी भी चतुर्गति भ्रमणसे छुटकारा नहीं पाते हैं । वास्तवमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही संसारतत्त्व है । जैसा कहा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥

भावार्थ—तीर्थंकरोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रको धर्म कहा है, जब कि इनके उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारकी परिपाटीको बढ़ानेवाले हैं ।

श्री अमितिगति महाराजने सुभाषित रत्नसंदोहमें संसारतत्त्व इस तरह बताया है—

दयादमध्यानतपोव्रतादयो गुणाः समस्ता न भवन्ति सर्वथा ।
दुरन्तमिथ्यात्वरजोहतात्मनो रजोयुतालाबुगतं यथा पयः ॥१३७॥

भावार्थ—जिसकी आत्मामें दुःखदाई मिथ्यादर्शनरूपी रज पड़ी हुई है उसकी आत्मामें जैसे रजसे भरी हुई तूम्बीमें जलकी स्वच्छता नहीं झलकती है वैसे दया, संयम, ध्यान, तप व व्रतादि गुण सर्व ही सर्वथा नहीं प्रगट हो सक्ते हैं—

दधातु धर्मं दशधा तु पावनं करोतु भिक्षाशनमस्तदूषणम् ।
तनोतु योगं धृतचित्तविस्तरं तथापि मिथ्यात्वयुतो न मुच्यते १४२
ददातु दानं बहुधा चतुर्विधं करोतु पूजामतिभक्तितोऽर्हताम् ।
दधातु शीलं तनुतामभोजनं तथापि मिथ्यात्ववशो न सिद्ध्यति १४३

भवेतु शास्त्राणि नरो विशेषतः करोतु चित्राणि तपांसि भावतः।
अतत्त्वसंसक्तमनास्तथापि नो विमुक्तसौख्यं गतबाधमश्नुते ॥१४४

भावार्थ—कोई चाहे क्षमादि दश प्रकार धर्मको पालो व निर्दोष भिक्षासे भोजन ग्रहण करो, व चित्तके विस्तारको रोककर ध्यान करो तथापि मिथ्यात्त्व सहित जीव कभी मुक्ति नहीं पासक्ता है। तरह२ से चार प्रकार दान चाहे देओ, अति भक्तिसे अर्हंतोंकी भक्ति करो, शील पालो, उपवास करो तथापि मिथ्यादृष्टी सिद्धि नहीं पासक्ता है। कोई मनुष्य चाहे खूब शास्त्रोंको जानो व भावसे नाना प्रकार तपस्या करो तथापि जिसका मन मिथ्यातत्त्वोंमें आसक्त है वह कभी भी बाधारहित मोक्षके आनन्दको नहीं भोग सक्ता है।

विचित्रवर्णाञ्चितचित्रमुत्तमं यथा गताक्षो न जनो विलोक्यते।
प्रदर्श्यमानं न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम् ॥१४५

भावार्थ—जैसे नाना प्रकार वर्णोंसे रचित उत्तम चित्रको अंधा पुरुष नहीं देख सक्ता है वैसे ही मिथ्यादृष्टी जीव जिनेन्द्रके शासनको अच्छी तरह समझाए जानेपर भी नहीं श्रद्धान करता है।

वास्तवमें जब तक नित्य अनित्य, एक अनेक आदि स्वभावमई सामान्य विशेष गुण रूप आत्माका गुणपर्याय रूपसे व उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे श्रद्धान नहीं होगा तथा अंतरंगमें निजात्मानन्दका स्वाद नहीं प्रगट होगा, तबतक मिथ्यादर्शनके विकारसे नहीं छूटता हुआ यह जीव कभी भी सुख शांतिके मार्गको नहीं पासक्ता है। यही संसार तत्व है।

श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

अनादिकालजीवेन प्राप्तं दुःखं पुनः पुनः ।
मिथ्यामोहपरीतेन कषायवशवर्तिना ॥ ४८ ॥

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः ।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥५२॥

भावार्थ—मिथ्या मोहके आधीन होकर व क्रोधादि कषायोंके वशमें रहकर अनादि कालसे इस जीवने बारबार दुःख उठाए हैं। इस दुःखसे भरे हुए संसारका बड़ा बीज मिथ्यादर्शन है। इसलिये जो मोक्षके सुखको ग्रहण करना चाहता है उसे इस मिथ्यात्त्वका ही सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥ ९३ ॥

उत्थानिका—आगे मोक्षका स्वरूप प्रकाश करते हैं—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ ९४ ॥

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितो प्रशान्तात्मा ।
अफले चिरं न जीवति इह स सम्पूर्णश्रामण्यः ॥ ९४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अजधाचारविजुत्तो) विपरीत आचरणसे रहित, (जधत्थपदणिच्छिदो) यथार्थ पदार्थोंका निश्चय रखनेवाला तथा (पसंतप्पा) शांत स्वरूप (संपुण्ण सामण्णो) पूर्ण मुनिपदका धारी (सो) ऐसा साधु (इह अफले) इस फलरहित संसारमें (चिरं ण जीवदि) बहुत काल नहीं जीता है।

विशेषार्थ—निश्चय व्यवहार रूपसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सम्यग्तप, सम्यग्वीर्य ऐसे पांच आचारोंकी भावनामें परिणमन करते रहनेसे जो विरुद्ध आचारसे रहित है, सहज ही आनन्द रूप एक स्वभावधारी अपने परमात्माको आदि लेकर

पदार्थोंके ज्ञान सहित होनेसे जो यथार्थ वस्तु स्वरूपका ज्ञाता है, तथा विशेष परम शांत भावमें परिणमन करनेवाले अपने आत्मद्रव्यकी भावना सहित होनेसे जो शांतात्मा है ऐसा पूर्ण साधु शुद्धात्माके अनुभवसे उत्पन्न सुखामृत रसके स्वादसे रहित होनेके कारणसे इस फल रहित संसारमें दीर्घकाल तक नहीं ठहरता है अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करलेता है। इस तरह मोक्ष तत्वमें लीन पुरुष ही अभेद नयसे मोक्ष स्वरूप है ऐसा जानना योग्य है।

भावार्थ–यहां मोक्ष तत्त्वका झलकाव साधुपदमें होजाता है ऐसा प्रगट किया है। जो साधु शास्त्रोक्त अठाईस मूल गुणोंको उनके अतिचारोंको दूर करता हुआ पालता है अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप वीर्य रूप पांच प्रकार आचारोंको व्यवहार नयकी सहायतासे निश्चय रूप आराधन करता है–इस आचरणमें जिसके रंच मात्र भी विपरीतता नहीं होती है। तथा जो आत्मा और अनात्माके स्वरूपको भिन्न २ निश्चय किये हुए है, ऐसा कि जिसके सामने संसारी प्राणी जो अजीवका समुदाय है सो जीव और अजीवके पिंड रूप न दिखकर भिन्न २ झलक रहा है। और जिसने अपनी कषायोंको इतना जला डाला है कि वीतरागताके रसमें हर समय मगनता हो रही है ऐसा पूर्ण मुनि पदका आराधनेवाला अर्थात् अपने शुद्ध आत्मीक भावमें तल्लीन होकर निश्चय रत्नत्रयमई निज आत्मामें एकचित्त होता हुआ श्रमण वास्तवमें मोक्षतत्त्व है क्योंकि मोक्ष अवस्थामें जो ज्ञान श्रद्धान व तल्लीनता तथा स्वस्वरूपानन्दका भोग है वही इस महात्माको भी प्राप्त हो रहा है–इस कारण इस परम धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानकी अग्निसे अब

यह साधु शीघ्र ही नवीन कर्मोंका संवर करता हुआ और पूर्व बांधे हुए कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ इस दुःखमई खारे जलसे भरे हुए तथा स्वात्मानन्द रूपी फलसे शून्य संसारसमुद्रमें अधिक काल नहीं ठहरता है—शीघ्र ही परम शुद्ध रत्नत्रय रूपी नौकाके प्रतापसे मोक्षद्वीपमें पहुंच जाता है। संसारतत्त्व जब पराधीन है तब मोक्ष तत्त्व स्वाधीन है, संसारतत्त्व विनाश रूप अनित्य है, तब मोक्ष तत्त्व अविनाशी है, संसारतत्त्व जब आकुलतारूप दुःखमई है तब मोक्षतत्व निराकुल सुखमई है, संसारतत्व जब कर्मबंधका बीज है, तब मोक्षतत्व कर्मबंध नाशक है ऐसा जानकर भव्य जीवोंको संसार तत्वसे वैराग्य धारकर मोक्षतत्वकी ही भावना करनी योग्य है।

इसी मोक्षतत्वके आदर्शको अमृतचन्द्राचार्यने श्री समयसार कलशमें कहा है:—

जयति सहजतेजः पुंजमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येकरूपस्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः,
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥ २६/१० ॥

भावार्थ—यह परमनिश्चल तेजस्वी चैतन्यका चमत्कार जयवंत रहो जिसके सहज तेजके समुदायमें तीन लोकोंका स्वरूप मानों डूब रहा है व जिसमें संपुर्ण संकल्प विकल्पोंका अभाव है, तथा जो एक ही स्वरूप है और जो आत्मीक रससे पूर्ण अविनाशी निज तत्वको प्राप्त किये हुए है।

श्री योगेन्द्रदेव अमृताशीतिमें कहते हैं—

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति,
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा ।

तदतिविशदचित्तैर्लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं,
गुणगुरुगुरुपादांभोजसेवाप्रसादात् ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जिस तत्वमें जन्म जरा मरणकी वेदना न जहां मृत्यु सताती है न जहांसे जाना है न आना है, सो अपूर्व मोक्ष तत्त्व गुणोंमें महान ऐसे गुरु महाराजके चरणकमलकी सेवाके प्रसादसे अत्यन्त निर्मल चित्तवालोंको इस शरीरमें ही अनुभवगोचर होजाता है।

श्री योगेन्द्राचार्य योगसारमें कहते हैं—

जो समसुक्खणिलीण वुहु पुण पुण अप्प मुणेइ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाण लहेइ ॥९२॥

भावार्थ—जो बुद्धिमान समतामई आनंदमें लीन होकर पुनः पुनः अपने आत्माका अनुभव करता है सो ही शीघ्र कर्मोंका क्षय-कर निर्वाणको प्राप्त करता है ॥ ९४ ॥

उत्थानिका—आगे मोक्षका कारण तत्त्व बताते हैं—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं वहित्थमज्झत्थं।
विसएसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिदिट्ठा ॥ ९५ ॥
सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं वहिस्थमध्यस्थम्।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः ॥ ९५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जे) जो (सम्मं विदिदपदत्था) भले प्रकार पदार्थोंके जाननेवाले हैं, और (वहित्थम्) बाहरी क्षेत्रादि (अज्झत्थं) अंतरंग रागादि (उवहिं) परिग्रहको (चत्ता) त्याग कर (विसयेसु) पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें (णावसत्ता) आसक्त नहीं हैं, (ते) वे साधु (सुद्धत्ति णिदिट्ठा) शुद्ध साधक हैं ऐसे कहे गए।

विशेषार्थ—जो साधु संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तीन दोषोंसे रहित होकर अनन्तज्ञानादि स्वभावधारी निज परमात्म पदार्थको आदि लेकर सर्व वस्तुओंके विचारमें चतुर होकर उस चतुराईसे प्रगट जो अतिशय सहित परम विवेकरूपी ज्योति उसके द्वारा भले प्रकार पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले हैं तथा पांचों धीन न होकर निज परमात्मातत्वकी भावना रूप परम समाधिसे उत्पन्न जो परमानंदमई सुखरूपी अमृत उसके स्वादके भोगनेके फलसे पांचों इंद्रियोंके विषयोंमें रञ्च भी आशक्त नहीं हैं और जिन्होंने बाहरी क्षेत्रादि अनेक प्रकार और भीतरी मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार परिग्रहको त्याग दिया है, ऐसे महात्मा ही शुद्धोपयोगी मोक्षकी सिद्धि कर सके हैं ऐसा कहा गया है अर्थात् ऐसे परमयोगी ही अभेद नयसे मोक्षमार्ग स्वरूप जानने योग्य हैं।

भावार्थ—मोक्षके साक्षात् साधन करनेवाले वे ही महात्मा निर्ग्रंथ तपोधन होसक्ते हैं जिन्होंने स्याद्वाद नयके द्वारा शुद्ध अशुद्ध सर्व पदार्थोंके स्वरूपको अच्छी तरह जानकर उनमें दृढ़ निश्चय मासकर लिया है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त हैं और जिन्होंने अन्तरङ्ग बहिरंग चौबीस प्रकारकी परिग्रहको त्यागकर पांचों इंद्रियोंकी अभिलाषा छोड दी है अर्थात् उनमें रञ्च मात्र भी इच्छावान नहीं हैं, इसीलिये सम्यग्चारित्रके धारी हैं। वास्तवमें रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है जो इसे धारण करते हैं वे ही शिव रमणीके वर होसक्ते हैं।

श्री कुन्दकुन्दजीने स्वामी इसी बातको दिखाते हैं—

आयारादीणाणं जीवादीदंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥ २६४ ॥
आदा खु मज्झणाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥ २६५ ॥

भावार्थ—व्यवहार नयसे आचारङ्ग आदि शास्त्रोंको जानना सम्यग्ज्ञान है, जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, तथा छः कायके प्राणियोंकी रक्षा करना सम्यग्चारित्र है ये व्यवहार रत्नत्रय हैं। निश्चय नयसे एक आत्मा ही मेरे ज्ञानमें है, वही आत्मा मेरे सम्यग्दर्शनमें है वही चारित्रमें है वही आत्मा त्यागमें है. वही संवरमें और वही ध्यानमें है अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयसे युक्त होकर जो निज आत्माके शुद्ध स्वभावमें लय होजाता है वही. निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्गका आराधन करता हुआ मोक्षमार्गका सच्चा साधनेवाला होता है।

श्री मूलाचार समयसार अधिकारमें कहा है:—

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥ १०४ ॥

भावार्थ—जो साधु भावोंसे वैरागी हैं वे ही सच्चे विरक्त हैं। जो वाहरी मात्र त्यागी हैं उनके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होसक्ती। इस लिये पांचों इंद्रियोंके विषयोंके वनमें रमन करनेमें लोलुपी मनरूपी हाथीको वशमें रखना योग्य है।

श्री-मूलाचार अनगार भावनामें कहा है:—

णिट्ठविदकरणचरणा कम्मं णिद्धुदं धुणित्ताय।
जरमरणविप्पमुक्का उवेंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥ ११९ ॥

भावार्थ—जिन साधुओंने ध्यानके बलसे निश्चयचारित्रमें

उत्कृष्टता प्राप्त करली है, वे ही साधु सर्व गाढ़ वंधे हुए कर्मोंको क्षयकर सर्व क्लेशसे रहित होते हुए व जन्मजरा मरणकी उपाधिसे सदाके लिये छूटते हुए अनंत ज्ञानादिकी प्रगटतारूप सिद्धिपनेकी अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

मानस्तंभं दृढं भंक्त्वा लोभाद्रिं च विदार्य वै ।
मायावल्लीं समुत्पाट्य क्रोधशत्रुं निहन्य च ॥ १९४ ॥
यथाख्यातं हितं प्राप्य चारित्रं ध्यानतत्परः ।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १९५ ॥

भावार्थ—जो ध्यानमें लीन साधु दृढ़ मानके खंभेको उखाड़ कर, लोभके पर्वतको चूर्ण चूर्णकर, मायाकी वेलोंको तोड़कर तथा क्रोध शत्रुको मारकर यथाख्यात चारित्रको प्राप्त हो जाता है वही कर्मोंका क्षयकर परमपदको प्राप्त करलेता है ॥ ९६ ॥

उत्थानिका—आगे आचार्य फिर दिखलाते हैं कि शुद्धोपयोग स्वरूप जो मोक्षमार्ग है वही सर्व मनोरथको सिद्ध करनेवाला है—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥९९॥
शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम् ।
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै ।। ९९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(सुद्धस्स य सामण्णं) शुद्धोपयोगीके ही साधुपना है, (सुद्धस्स दंसणं णाणं भणियं) शुद्धोपयोगीके ही दर्शन और ज्ञान कहे गए हैं (सुद्धस्स य णिव्वाणं) शुद्धोपयोगीके ही निर्वाण होता है (सोच्चिय सिद्धो) शुद्धोपयोगी ही सिद्ध भगवान हो जाता है (तस्स णम) इससे उस शुद्धोपयोगीको नमस्कार हो

विशेषार्थ–जो शुद्धोपयोगका धारक साधु है उसीके ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्रकी एकतारूप तथा शत्रु मित्र आदिमें समभावकी परिणतिरूप साक्षात मोक्षका मार्ग श्रमणपना कहा गया है। शुद्धोपयोगीके ही तीनलोकके भीतर रहनेवाले व तीन काल वर्ती सर्व पदार्थोंके भीतर प्राप्त जो अनन्त स्वभाव उनको एक समयमें विना क्रमके सामान्य तथा विशेष रूप जाननेको समर्थ अनन्तदर्शन व अनन्तज्ञान होते हैं, तथा शुद्धोप-योगीके ही वाधा रहित अनन्त सुख आदि गुणोंका आधारभूत पराधीनतासे रहित स्वाधीन निर्वाणका लाभ होता है। जो शुद्धो-पयोगी है वही लौकिक माया, अंजन, रस, दिग्विजय, मंत्र, यंत्र आदि सिद्धियोंसे विलक्षण, अपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप, टांकीमें उकेरेके समान मात्र ज्ञायक एक स्वभावरूप तथा ज्ञानावरणादि आठ विध कर्मोंसे रहित होनेके कारणसे सम्यक्त्व आदि आठगुणोंमें गर्भित अनंत गुण सहित सिद्ध भगवान हो जाता है। इसलिये उसी ही शुद्धोपयोगीको निर्दोष निज परमात्मामें ही आराध्य आराधक संबंध रूप भाव नमस्कार होहु। भाव यह कहा गया है कि इस मोक्षके कारणभूत शुद्धोपयोगके ही द्वारा सर्व इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं। ऐसा मानकर शेष सर्व मनोरथको त्यागकर इसी शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने उसी शुद्धोपयोगरूप समता भावको स्मरण किया है जिसमें उन्होंने ग्रन्थके प्रारम्भके समय अपना आश्रय रखनेकी प्रतिज्ञा की थी। तथा यह भी बता दिया है कि जैसा कार्य होता है वैसा ही कारण होना चाहिये। आत्माका

निज स्वभाव परमशुद्ध है परन्तु अनादिकालसे कर्मोंका आवरण है इससे उसकी अवस्था अशुद्ध हो रही है। अवस्थाको पलटनेके लिये उपाय रत्नत्रयधर्मका सेवन है। व्यवहार रत्नत्रयके निमित्तसे जो निश्चय रत्नत्रयका लाभ प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपका श्रद्धान ज्ञान रखकर अपने उपयोगको अन्य पदार्थोंसे हटाकर उसी निज आत्माके शुद्ध स्वरूपके ध्यानमें तन्मय कर देते हैं वे ही साधु राग, द्वेष, मोहकी झलकसे बाहर होते हुए शुभोपयोग अशुभोपयोगसे छूटकर शुद्धोपयोगी हो जाते हैं—मानो आत्मानंदके समुद्रमें मग्न हो जाते हैं। इस शुद्धोपयोगके धारीमें ही सच्चा श्रमणपना होता है। यह साधु क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ होकर अपने शुद्धोपयोगके बलसे मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मोंका नाशकर अनंतदर्शन अनंत-ज्ञानादि गुणोंका स्वामी अरहंत हो जाता है फिर भी शुद्धोपयोगसे बाहर नहीं जाता है। ऐसा शुद्धोपयोगी अरहंत ही कुछ काल पीछे वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्मोंको भी क्षयकर निर्वाण प्राप्त-कर सिद्ध होजाता है। वहां भी शुद्धोपयोग ही अनंतकाल तक शोभायमान रहता है। आचार्य इसीलिये शुद्धोपयोगीको पुनः पुनः भाव और द्रव्य नमस्कार करते हुए अपनी गाढ़ भक्ति शुद्धोपयोग रूप साम्यभावकी तरफ प्रदर्शित करते हैं। वास्तवमें शुद्धोपयोग ही अनादि संसारके चक्रसे आत्माको सदाके लिये मुक्त कर देता है। शुद्धोपयोग ही धर्म है। इसीसे धर्म आत्मा नामा पदार्थका स्वभाव है। शुद्ध भाव मोक्षमार्ग भी है तथा मोक्षरूप भी है इस शुद्धोपयोगकी महिमा वचनअगोचर है।

श्री मूलाचार अनगार भावनामें कहा है:—

रागो दोसो मोहो मिदोध धीरेहिं णिज्जिदा सव्वे।
पंचेंदिया य दंता वदे वत्तासप्पहारेहिं ॥ ११४
खंतिदिया महारम्भो रागं दोसं च ते खवेदूणं।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥ ११५ ॥

भावार्थ—धीर साधु निश्चय रत्नत्रयरूप व्रतके प्रतापसे भले प्रकार राग द्वेष मोहको जीत लेते हैं तथा व्रत और उपवासकी चोटोंसे पांचों इंद्रियोंकी इच्छाओंका दमन कर डालते हैं। ऐसे जितेन्द्रिय महात्मा शुद्धोपयोगमई शुक्लध्यानमें युक्त होकर राग-द्वेषोंको क्षयकर व मोहनीयकर्मका नाश करते हुए अन्य सर्व कर्मोंका भी नाश करते हैं—

अट्ठविहकम्ममूलं खविद कसाया खमादिजुत्तेहिं।
उद्धूदमूला व दुमो ण जाइदव्वं पुणो अत्थि। ११६ ॥

भावार्थ—जब आठों ही प्रकारके कर्मोंके मूल क्रोधादि कषाय भावोंको उत्तम क्षमादि धर्मभावके प्रतापसे नष्ट कर दिया जाता है, तब जैसे जड़मूलसे उखड़ा हुआ वृक्ष फिर नहीं जगता है वैसे शुद्ध आत्मा फिर कभी जन्म नहीं धारण करता है। उसके संसार वृक्षकी जड़ ही कट गई फिर संसार कैसे हो सक्ता है।

पं० आशाधर अनगार धर्मामृत सप्तम अ०में कहते हैं—

यस्त्यक्त्वा विषयाभिलाषमभितो हिंसामपास्यंतप-
स्यागूर्णो विशदे तदेकपरतां बिभ्रत्तदेवोद्गतिम्।
पीत्वा तत्प्रणिधानजातपरमानन्दो विमुञ्चत्यसून्।
स स्नात्वाऽमरमर्त्यशर्मलहरीष्वाप्तै परां निर्वृतिम् ॥१०४॥

भावार्थ—जो साधु पांचों इंद्रियोंकी इच्छाको त्यागकर, द्रव्य हिंसा तथा भावहिंसाको दूरकर, निर्मल तपमें उद्यमी होकर उसी

तपमें एकाग्रता करता हुआ, उसी ध्यानमई तपमें उन्नति करता हुआ उसी ध्यानमई तपमें एकताकी भावनाके प्रतापसे परमानंदको प्राप्त होकर जबतक मुक्ति न पावे, देव और मनुष्योंके सुखकी तरंगोंमें विश्राम करता है वही साधु अन्तमें बाहरी शरीर प्राप्तिके कारण इंद्रिय बल आयु तथा श्वासोश्वासमई प्राणोंसे छूटकर उत्कृष्ट मुक्ति-पदको प्राप्तकर लेता है ।

श्री अमितगति आचार्य सामायिकपाठमें कहते हैं—

नरकगतिमशुद्धैः सुंदरैः स्वर्गवासं ।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा ॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाने-
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः ॥ ७८ ॥

भावार्थ—अशुभोपयोग परिणामोंसे यह आत्मा नरक गतिमें जाता है, शुभोपयोग परिणामोंसे स्वर्गगति पाता है तथा अत्यन्त पुष्ट शुद्धोपयोग परिणामोंसे प्रगटपने कर्म रहित होकर निर्दोष परम प्रशंसनीय मोक्षपदको पाता है; ऐसा जानकर जो मोक्षपदके चाहने-वाले हैं उनको शुद्धोपयोग परिणामोंको ही करना योग्य है ।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं:—

सम्यक्त्वज्ञानसंपन्नो जैनभक्तो जितेन्द्रियः ।
लोभमोहमदैस्त्यक्तो मोक्षभागी न संशयः ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित है, जैन धर्मका भक्त है, जितेन्द्रिय है, लोभ, मोह, मायादि कषायोंसे रहित वही अवश्य मोक्षका लाभ करता हैं इसमें संशय नहीं करना चाहिये ।

श्री परमानंद मुनि धम्मरसायणमें कहते हैं—

अणयारपरमधम्मं धीरा काऊण सुद्धसम्मत्ता ।
गच्छन्ति केई सग्गे केई सिज्झन्ति धुदकम्मा ॥१८४॥

भावार्थ—मुनिपदरूपी शुद्धोपयोग ही परम धर्म है। शुद्ध सम्यग्दृष्टी धीर पुरुष इस धर्मका साधन करके कोई तो स्वर्गमें जाते तथा कोई सब कर्मका नाशकर सिद्ध हो जाते हैं ॥९६॥

उत्थानिका—आगे शिष्य जनको शास्त्रका फल दिखाते हुए इस शास्त्रको समाप्त करते हैं—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ ९७ ॥

बुध्यते शासनमेतत् सागारानगारचर्यया युक्तः ।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति ॥ ९७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो) जो कोई (सागारणगार चरियया जुत्तो) श्रावक या मुनिके चारित्रसे युक्त होकर (एयं सासणं) इस शासन या शास्त्रको (बुज्झदि) समझता है (सो) सो भव्यजीव (लहुणा कालेण) थोड़े ही कालमें (पवयणसारं) इस प्रवचनके सारभूत परमात्मपदको (पप्पोदि) पालेता है।

विशेषार्थ—यह प्रवचनसार नामका शास्त्र रत्नत्रयका प्रकाशक है। तत्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसके विषयभूत अनेक धर्मरूप परमात्मा आदि द्रव्य हैं—इन्हींका श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त है इससे साधने योग्य अपने शुद्धात्माकी रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है, जाननेयोग्य परमात्मा आदि पदार्थोंका यथार्थ जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, इससे साधने योग्य विकार रहित स्वसंवेदन [illegible] निश्चय सम्यग्ज्ञान है। व्रत, समि

आदिका आचरण पालना व्यवहार या सराग चारित्र है, उसीसे ही साधने योग्य अपने शुद्धात्माकी निश्चल अनुभूतिरूप वीतराग चारित्र या निश्चय सम्यक्चारित्र है। जो कोई शिष्यजन अपने भीतर "रत्नत्रय ही उपादेय हैं, इनहीका साधन कार्यकारी है" ऐसी रुचि रखकर बाहरी रत्नत्रयका साधन श्रावकके आचरण द्वारा या बाहरी रत्नत्रयके आधारसे निश्चय रत्नत्रयका साधन मुनिराजके आचरण अर्थात् प्रमत्त गुण स्थानवर्ती आदि तपोधनकी चर्या द्वारा करता हुआ इस प्रवचनसार नामके ग्रन्थको समझता है वह थोड़े ही कालमें अपने परमात्मपदको प्राप्तकर लेता है।

भावार्थ-इस प्रवचनसारमें जो रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग बताया है उसपर अपनी श्रद्धा रखकर श्रावक या मुनिपदके आचारके द्वारा जो अपने ही शुद्धात्माका अनुभव करता है, वह यदि वज्र-वृषभनाराचसंहननका धारी है तो मुनिपदके द्वारा क्षायिक सम्य-ग्दृष्टी हो क्षपकश्रेणीपर चढ़कर शीघ्र ही चार घातिया कर्मोंको नाशकर केवलज्ञानी अरहंत होकर फिर आठ कर्म रहित सिद्धपदको प्राप्त कर लेता है और यदि कोई मुनि उस भवसे मोक्ष न पावे तो कुछ भवोंमें मुक्ति प्राप्तकर लेता है। श्रावक धर्मको आजन्म साधनेवाला देवपदमें जाकर तीसरे भव या और दो चार व कई भवोंमें मुनिपदके द्वारा मुक्ति पालेता है। इस ग्रन्थमें चारित्रकी मुख्यतासे कथन है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सहित ही सम्यग्चारित्र होता है। व्यवहारमें व्रतोंका पालना व्यवहार निमित्त है, इस निमित्तसे अत्यन्त निराकुल स्वरूपमें मग्नतारूप शुद्धोपयोग मई निश्चय चारित्रका लाभ होता है। यही वह ध्यानकी

अग्नि है जो कर्मोंके ईंधनको जला देती है और आत्माको परम पवित्र कर देती है। बिना स्वानुभवके मोक्ष नगरके कपाट नहीं खुल सके हैं। अंतरंग रत्नत्रय मई भाव ही मोक्षका साक्षात् साधक है। जैसा स्वामी अमृतचन्द्रने समयसारकलशमें कहा है:---

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः।
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं॥
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं।
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१०६॥

भावार्थ—कोई स्वयं ही अत्यन्त कठिन मोक्षके विरोधी कार्योंको करता हुआ क्लेश भोगे तो भोगो; दूसरे कोई महाव्रत और तपके भारसे आत्मानुभवके बिना पीड़ित होकर क्लेश भोगे तो भोगो यह मोक्ष तो साक्षात् सर्व दोषरहित एक ऐसा पद है कि जो स्वयं अनुभवमे आने योग्य है और परम ज्ञानमई है उसका लाभ विना स्वात्मानुभवमई आत्मज्ञानके और किसी भी तरह कोई कर नहीं सक्ते हैं। और भी कहते हैं—

त्यक्त्वाशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं।
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः॥
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो कोई रागद्वेषादि अशुद्धिके निमित्त कारण सर्व परद्रव्यके संसर्गको स्वयं त्यागकर और नियमसे सर्व रागादि अपराधोंसे रहित होता हुआ अपने आत्माके स्वभावमें लवलीन हो जाता है वही महात्मा कर्मबन्धका नाश करके नित्य प्रकाशमान होता हुआ अपनी ज्ञान ज्योतिके निर्मल परिणमनरूप चैतन्यरूपी

अमृतसे परिपूर्ण होकर सर्वथा शुद्ध होता हुआ मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥९७॥

इस तरह पांच गाथाओंके द्वारा पंच रत्नमई पांचमा स्थलका व्याख्यान किया गया। इस तरह वत्तीस गाथाओंसे व पांच स्थलसे शुभोपयोग नामका चौथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

* * * *

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीकामें पूर्वोक्त क्रमसे " एवं पणमिय सिद्ध " इत्यादि इकीस गाथाओंसे उत्सर्ग चारित्रका अधिकार कहा, फिर "ण हि णिरवेक्खो चागो" इत्यादि तीस गाथाओंसे अपवाद चारित्रका अधिकार कहा—पश्चात " एयग्गगदो समणो " इत्यादि चौदह गाथाओंसे श्रामण्य या मोक्षमार्ग नामका अधिकार कहा, फिर इसके पीछे "समणा सुद्धुवजुत्ता" इत्यादि वत्तीस गाथाओंसे शुभोपयोग नामका अधिकार कहा। इस तरह चार अन्तर अधिकारोंके द्वारा सत्तानवे गाथाओंमें चरणानुयोग चूलिका नाम तीसरा महा अधिकार समाप्त हुआ।

प्रश्न—यहां शिष्यने प्रश्न किया कि यद्यपि पूर्वमें बहुतवार आपने परमात्म पदार्थका व्याख्यान किया है तथापि संक्षेपसे फिर भी कहिये ?

उत्तर—तब भगवान कहते हैं—

जो केवल ज्ञानादि अनन्त गुणोंका आधारभूत है वह आत्मद्रव्य कहा जाता है। उसीकी ही परीक्षा नयोंसे और प्रमाणोंसे की जाती है।

प्रथम ही शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा यह आत्मा उपाधि

रहित स्फटिकके समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित है। वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा उपाधि सहित स्फटिकके समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधि सहित है, वही आत्मा शुद्धसद्भूत व्यवहार नयसे शुद्ध स्पर्श, रस, गंध, वर्णोंका आधारभूत पुद्गल परमाणुके समान केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका आधारभूत है, वही आत्मा अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नयसे अशुद्ध स्पर्श, रस, गंध, वर्णका आधारभूत दो अणु तीन अणु आदि परमाणुओंके अनेक स्कंधोंकी तरह मतिज्ञान आदि विभाव गुणोंका आधारभूत है। वही आत्मा अनुप चरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्व्यणुक आदि स्कंधोंके सम्बन्धरूप बंधमें स्थित पुद्गल परमाणुकी तरह अथवा परमौदारिक शरीरमें वीतराग सर्वज्ञकी तरह किसी खास एक शरीरमें स्थित है। (नोट—आत्माको कार्माण शरीरमें या तैजस शरीरमें स्थित कहना भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे है)। तथा वही आत्मा उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे काष्ठके आसन आदिपर बैठे हुए देवदत्तके समान व समवशरणमें स्थित वीतराग सर्वज्ञके समान किसी विशेष ग्राम ग्रह आदिमें स्थित है। इत्यादि परस्पर अपेक्षारूप अनेक नयोंके द्वारा जाना हुआ या व्यवहार किया हुआ यह आत्मा क्रमक्रमसे विचित्रता रहित एक किसी विशेष स्वभावमें व्यापक होनेकी अपेक्षासे एक स्वभावरूप है। वही जीव द्रव्य प्रमाणकी दृष्टिसे जाना हुआ विचित्र स्वभावरूप अनेक धर्मोंमें एक ही काल चित्रपटके समान व्यापक होनेसे अनेक स्वभाव स्वरूप है। इस तरह नय प्रमाणोंके द्वारा तत्वके विचारके समयमें जो कोई परमात्म द्रव्यको

जानता है वही निर्विकल्प समाधिके प्रस्तावमें या अवसरमें भी निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानसे भी परमात्माको जानता है अर्थात् अनुभव करता है।

फिर शिष्यने निवेदन किया कि भगवन् मैंने आत्मा नामा द्रव्यको समझ लिया अब आप उसकी प्राप्तिका उपाय कहिये ?

भगवान कहते हैं—सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव जो अपना परमात्म तत्त्व है उसका भले प्रकार श्रद्धान, उसीका ज्ञान व उसीका आचरण रूप अभेद या निश्चय रत्नत्रय-मई जो निर्विकल्प समाधि उससे उत्पन्न जो रागादिकी उपाधिसे रहित परमानंदमई एक स्वरूप सुखामृत रसका स्वाद उसको नहीं अनुभव करता हुआ जैसे पूर्णमासीके दिवस समुद्र अपने जलकी तरंगोंसे अत्यन्त क्षोभित होता है; इस तरह रागद्वेष मोहकी कल्लो-लोंसे यह जीव जबतक अपने निश्चल स्वभावमें न ठहरकर क्षोभित या आकुलित होता रहता है तबतक अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं प्राप्त करता है। वही जीव जैसे वीतराग सर्वज्ञका कथित उपदेश पाना दुर्लभ है, इस तरह एकेंद्रिय, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, पंचेंद्रिय संज्ञी पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तमरूप इंद्रियोंकी विशु-द्धता, बाधारहित आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सच्चे धर्मका सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, उसका श्रद्धान करना, संयमका पालना, विष-योंके सुखसे हटना, क्रोधादि कषायोंसे बचना आदि परम्परा दुर्लभ सामग्रीको भी किसी अपेक्षासे काकताली न्यायसे प्राप्त करके सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान केवल दर्शन स्वभाव अपने परमात्मतत्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व आचरणरूप अभेद रत्नत्रयमई निर्विकल्प

समाधिसे उत्पन्न जो रागादिकी उपाधिसे रहित परमानन्दमई सुखामृत रस उसके स्वादके अनुभवके लाभ होते हुए जैसे अमावसके दिन समुद्र जलकी तरंगोंसे रहित निश्चल क्षोभरहित होता है इस तरह राग, द्वेष, मोहकी कल्लोलोंके क्षोभसे रहित होकर जैसा जैसा अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थिर होता जाता है तैसा तैसा उसी ही अपने शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त करता जाता है।

भावार्थ—भव्य जीवको उचित है कि प्रथम आत्माको भले प्रकार नय प्रमाणोंसे निश्चय कर ले फिर व्यवहार रत्नत्रयके आलम्बनसे निश्चयरत्नत्रयमई आत्मस्वभावका अनुभव करे। वस यही स्वात्मानुभव आत्माके बन्धनोंको काटता चला जायगा और यह आत्मा शुद्धताको प्राप्त करते करते एक समय पूर्ण शुद्ध परमात्मा हो जायगा।

* * *

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्य्यवृत्तिमें पूर्वमें कहे क्रमसे "एस सुरासुर" इत्यादि एकसौएक गाथाओं तक सम्यग्ज्ञानका अधिकार कहा गया। फिर "तम्हा तस्स णमाइं" इत्यादि एकसौ तेरह गाथाओं तक ज्ञेय अधिकार या सम्यग्दर्शन नामका अधिकार कहा गया। फिर "तव सिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि सत्तानवें गाथा तक चारित्रका अधिकार कहा गया। इस तरह तीन महा अधिकारोंके द्वारा तीनसौ ग्यारह गाथाओंसे यह प्रवचनसार प्राभृत पूर्ण किया गया।

इस तरह श्री समयसारकी तात्पर्यवृत्ति टीका समाप्त हुई।

टीकाकार जयसेनाचार्यकी प्रशस्ति ।

अज्ञानतमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मकः ।
तत्प्रकाशसमर्थाय नमोऽस्तु कुमुदेन्दवे ॥ १ ॥
सूरिः श्री वीरसेनाख्यो मूलसंघेपि सत्तपाः ।
नैर्ग्रन्थ्यपदवीं भेजे जातरूपधरोपि यः ॥ २ ॥
ततः श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः ।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥ ३ ॥
शीघ्रं बभूव मालू ! साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ।
सूनुस्ततः साधु महीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ॥४॥
यः संततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥५॥
श्रीमत्रिभुवनचंद्रं निजमतवाराशितायना चन्द्रम् ।
प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधारम् ॥ ६ ॥
जगत्समस्तसंसारिजीवाकारणबन्धवे ।
सिंधवे गुण रत्नानां नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥ ७ ॥
त्रिभुवनचंद्रं चंद्रं नौमि महा संयमोत्तमं शिरसा ।
यस्योदयेन जगतां स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ॥ ८ ॥

इति प्रशस्तिः—

भावार्थ—अज्ञानरूपी अन्धकारसे यह रत्नत्रयमई मोक्षमार्ग लिप्त होरहा है उसके प्रकाश करनेको समर्थ श्री कुमुदचंद्र या पद्मचंद्र मुनिको नमस्कार हो। इस मूलसंघमें परम तपस्वी निग्रंथ पदधारी नग्नमुद्रा शोभित श्री वीरसेन नामके आचार्य होगए हैं।

उनके शिष्य अनेक गुणोंके धारी आचार्य **श्री सोमसेन** हुए। उनका शिष्य यह **जयसेन** तपस्वी हुआ। सदा धर्ममें रत प्रसिद्ध माल्‌ साधु नामके हुए हैं। उनका पुत्र साधु **महीपति** हुआ है, उनसे यह चारुभट नामका पुत्र उपजा है, जो सर्व ज्ञान प्राप्तकर सदा आचार्योंके चरणोंकी आराधना पूर्वक सेवा करता है, उस चारुभट अर्थात् **जयसेनाचार्यने** जो अपने पिताकी भक्तिके विलोप करनेसे भयभीत था इस प्राभृत नाम ग्रन्थकी टीका की है। श्रीमान् त्रिभुवनचन्द्र गुरुको नमस्कार करता हूं, जो आत्माके भावरूपी जलको बढ़ानेके लिये चंद्रमाके तुल्य हैं और कामदेव नामके प्रबल महापर्वतके सैकडों टुकड़े करनेवाले हैं। मैं श्री त्रिभुवनचंद्रको नमस्कार करता हूं। जो जगतके सर्व संसारी जीवोंके निष्कारण बन्धु हैं और गुण रूपी रत्नोंके समुद्र हैं। फिर मैं महा संयमके पालनेमें श्रेष्ठ चंद्रमातुल्य श्री त्रिभुवनचन्द्रको नमस्कार करता हूं जिसके उदयसे जगतके प्राणियोंके अन्तरंगका अन्धकार समूह नष्ट होजाता है।

॥ इति प्रशस्ति ॥

इस चारित्रतत्त्वदीपिकाका संक्षेप भाव ।

इस तृतीय भागमें महाराज कुन्दकुन्दाचार्यने पहले भागमें पांचमी गाथाके अन्दर "उवसंपयामि सम्मं, जत्तो णिव्वाण संपत्ती" अर्थात्—मैं साम्यभावको प्राप्त होता हूं, जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है; ऐसी प्रतिज्ञा करी थी। जिससे यह भी दिखलाया था कि निर्वाणका उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान पूर्वक रागद्वेषादिको त्यागकर वीतराग भावरूप समताकी शरणमें जाना है। अब इस अधिकारमें पहले दो अधिकारोंमें सम्यग्ज्ञानकी तथा सम्यक्त और ज्ञानके विषयभूत छः द्रव्य रूप ज्ञेय पदार्थोंकी व्याख्या भले प्रकार करके उस चारित्रका वर्णन किया है जिससे समताभावका लाभ हो; क्योंकि मुख्यतासे शुद्धोपयोगरूप अभेद रत्नत्रयकी प्राप्ति ही चारित्र है, जिसका भले प्रकार होना मुनिपदमें ही संभव है।

इसलिये प्रथम ही आचार्यने यह दिखलाया है कि गृहस्थको साधु होनेके लिये अपने सर्व कुटुम्बसे क्षमा कराय निराकुल हो किसी तत्त्वज्ञानी आचार्यके पास जाकर दीक्षा लेनेकी प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी आज्ञा पाकर सर्व वस्त्राभूषणादि परिग्रहका त्याग कर केशोंको लोंचकर सर्व ममतासे रहित होकर ,अपना उपयोग शुद्धकर अठाईस मूलगुणोंको धारना चाहिये तथा सामायिक चारित्रका अभ्यास करना चाहिये। यदि चारित्रमें कोई अतीचार लग जावे तो उसकी आलोचना करते हुए गुरुसे प्रायश्चित लेकर अपनी शुद्धि करनी चाहिये। तथा विहारादि क्रियाओंमें यत्नाचार पूर्वक

वर्तना चाहिये, जिससे प्राणियोंकी हिंसा न हो। जो यत्नसे व्यवहार करनेपर कदाचित् कोई प्राणीका घात हो भी जावे तौ भी अप्रमादीको हिंसाका दोष नहीं होता है, परंतु जो यत्नवान नहीं है और प्रमादी है तौ वह निरंतर हिंसामई भावसे न बचनेकी अपेक्षा हिंसाका भागी होता है। रागादि भाव ही हिंसा है। इसीसे ही कर्मबंध होता है। जो साधु किंचित् भी ममता परंद्रव्योंमें रखता है तथा शरीरकी ममता करके थोड़ा भी वस्त्रादि धारण करता है तो वह अहिंसा महाव्रतका पालनेवाला नहीं होता है। इसलिये साधुको ऐसा व्यवहार पालना चाहिये जिससे अपनें चारित्रका छेद न हो। साधुको चारित्रमें उपकारी पीछी, कमंडलु अथवा शास्त्रके सिवाय और परिग्रहको नहीं रखना चाहिये।

फिर दिखलाया है कि मुनिमार्ग तो शुद्धोपयोग रूप है। यही उत्सर्गमार्ग है। आहार विहार धर्मोपदेश करना आदि सर्व व्यवहार चारित्र है यह अपवाद मार्ग है। अपवाद मार्गमें भी नग्न रूपता अत्यन्त आवश्यक साधन है। विना इसके अहिंसा महाव्रत आदिका व ध्यानका योग्य साधन नहीं हो सक्ता है, क्योंकि स्त्रियां प्रमाद व लज्जाकी विशेषता होनेसे नग्नपना नहीं धार सक्ती हैं इससे उनके मुनिपद नहीं होसक्ता है और इसीलिये वे उस स्त्री पर्यायसे मोक्षगामिनी नहीं हो सक्ती हैं।

मुनि महाराज यद्यपि शरीररूपी परिग्रहका त्याग नहीं कर सक्ते तथापि उसकी ममता त्याग देते हैं। उस शरीरको मात्र संयमके लिये योग्य आहार विहार कराकर व शास्त्रोक्त आचरण

कराकर पालतेहुए उससे आत्म ध्यानका कार्य लेते हैं। साधुको अपने चारित्रकी रक्षाके लिये जिन आगमका सेवन करते हुए आत्मा और परके स्वभावका अच्छी तरह मरमी होजाना चाहिये, कारण जिसको आत्माका यथार्थज्ञान न होगा वह किस तरह आत्मध्यान करके एकाग्रता प्राप्तकर अपने कर्मोंका क्षय कर सकेगा?

फिर यह बतलाया है कि साधुको एक ही समयमें तत्वार्थका श्रद्धान, आगमका ज्ञान तथा संयम भाव धारण करना चाहिये। आत्मज्ञान सहित तप ही कर्मोंकी जितनी निर्जरा कर सक्ता है उतनी निर्जरा करोड़ों भवोंमें भी अज्ञानी नहीं कर सक्ता है, इसलिये साधुको यथार्थ ज्ञानी होकर पूर्ण वैरागी होना चाहिये, यहां तक कि उसकी परमें कुछ भी ममता न होवे। वास्तवमें साधु वही है जो शत्रु मित्र, सुख दुःख, निन्दा, प्रशंसा, कंचन तृण, जीवन मरणमें समान भावका धारी हो। जो साधु रागद्वेष मोह छोड़कर वीतरागी होते हैं उनहीके कर्मोंका क्षय होता है।

जहां रत्नत्रयकी एकतारूप शुद्धोपयोग है वहीं साधुका श्रेष्ठ व उत्सर्ग मार्ग है। उनहीके आश्रव नहीं होता है, परन्तु शुद्धोपयोगमें रमणता करनेके लिये जो साधु हर समय असमर्थ होते हैं वे शुभोपयोगमें वर्तन करते हैं। यद्यपि धर्मानुरागसे कर्मोंका आश्रव होता है। तथापि इसके आलम्बनसे वे अशुभोपयोगसे बचते हुए शुद्धोपयोगमें जानेकी उत्कंठा रखते हैं।

शुभोपयोगी साधु पांच परमेष्ठीकी भक्ति, वंदना, स्तुति करते हैं। साधुओंसे परम प्रेम रखते हैं। साधु व श्रावकादिको धर्म

मार्गका उपदेश करते हैं। श्रावकोंको पूजा पाठादि करनेका उपदेश करते हैं, शिष्योंको साधु पद दे उनके चारित्रकी रक्षा करते हैं, दुःखी, थके, रोगी, बाल, वृद्ध साधुकी वैय्यावृत्य या सेवा इस तरह करते हैं जिससे अपने साधुके मूलगुणोंमें कोई दोष नहीं आवे। उनके शरीरकी सेवा अपने शरीरसे व अपने बचनोंसे करते हैं तथा दूसरे साधुओंकी सेवा करनेके लिये श्रावकोंको भी उपदेश करते हैं। साधु भोजन व औषधि स्वयं बनाकर नहीं देसक्ते हैं, न लाकर देसक्ते हैं–गृहस्थ योग्य कोई आरम्भ करके साधुजन अन्य साधुओंकी सेवा नहीं कर सक्ते हैं।

श्रावकोंको भी साधुकी वैयावृत्य शास्त्रोक्त विधिसे करनी योग्य है। भक्तिसे आहारादिका दान करना योग्य है। जो साधु शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी हैं वे ही दानके पात्र हैं।

फिर कहा है कि साधुओंको उन साधुओंका आदरसत्कार न करना चाहिये जो साधुमार्गके चारित्रमें भृष्ट या आलसी हैं; न उनकी संगति करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे अपने चारित्रका भी नाश हो जाता है। तथा जो साधु गुणवान साधुओंका विनय नहीं करता है वह भी गुणहीन हो जाता है। साधुओंको ऐसे लौकिक जनोंसे संसर्ग न करना चाहिये जिनकी संगतिसे अपने संयममें शिथिलता हो जावे। साधुको सदा ही अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हों व बराबर हों उनकी ही संगति करनी चाहिये। इस तरह इस अधिकारमें साधुके उत्सर्ग और अपवाद दो मार्ग बताए हैं।

जहां रत्नत्रयमई समाधिरूप शुद्धभावमें तल्लीनता है वह

उत्सर्ग मार्ग है। जहां प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, वन्दना, स्तुति, आहार विहार, धर्मोपदेश. वैयावृत्य आदि हैं, वह शुभोपयोगरूप अपवाद मार्ग है। साधुको जबतक पूर्ण साधुपना अर्थात् पूर्ण कषाय रहितपना प्राप्त न होजावे तबतक दोनों मार्गोंकी अपेक्षा रखते ए वर्तना चाहिये। जब उत्सर्ग मार्गमें न ठहर सके तब अपवाद मार्गमें आ जावे और अपवाद मार्गमें चलते हुए उत्सर्गपर जानेकी उत्कंठा रक्खे। यदि कोई उत्सर्ग मार्ग पर चलनेका हठ करे और उसमें ठहर न सके तो आर्तध्यानसे भ्रष्ट हो जायगा तथा जो अपवाद मार्गमें चलता हुआ उसीमें मग्न हो जावे, उत्सर्ग मार्गकी भावना न करे तो वह कभी शुद्धोपयोग रूप साक्षात् भाव मुनिपदको न पाकर अपना आत्महित नहीं कर सकेगा। इससे हठ त्यागकर जिसतरह मोक्षपद रूपी साध्यकी सिद्धि हो सके उस तरह वर्तना योग्य है।

अन्तमें स्वामीने बताया है कि आत्मा और अनात्माके स्वरूपका निश्चय न करके मिथ्या श्रद्धान ही संसार तत्त्व है। इसीसे संसारमें भ्रमणकारी घोर कर्मोका बंध होता रहता है और यह जीव अनंत काल तक चार गति रूप संसारमें भ्रमण किया करता है। जो स्याद्वाद नयसे आत्माके भिन्न २ धर्मोको नहीं समझे तथा अतींद्रिय आनन्दको न पहचाने तो अनेक वार साधुके अठाईस मूल गुण पालने पर भी व घोर तपस्या करते रहने पर भी सिद्धि नहीं हो सक्ती है।

फिर मोक्ष तत्त्वको बताया है कि जो साधु आत्मा और अनात्माका यथार्थ स्वरूप जानकर निज परमात्म स्वभावका रोचक

होकर निश्चय व्यवहार रत्नत्रयका साधन करता हुआ, निर्विकल्प समाधिरूप परम उत्सर्ग साधु मार्गमें आरूढ़ होकर परि्रू । श्रमण होजाता है। वह निश्चय रत्नत्रयमई स्वसंवेदनसे उत्पन्न परमा ंदको भोगता हुआ मोक्षतत्व होजाता है, अर्थात् वह वहुत शीघ्र ।नर्वाणका लाभ कर लेता है। फिर यह समझाया है कि इस मोक्ष तत्वका उपाय भले प्रकार पदार्थोंका श्रद्धान व ज्ञान प्राप्त करके बाहरा व भीतरी परिग्रहको त्यागकर जितेंद्रिय होकर यथार्थ साधु पदके चारित्रका अनुष्ठान करना है।

पश्चात् यह कहा है कि जो शुद्धोपयोगमें आरूढ़ होजाता है वही क्षपक श्रेणी चढ़कर मोहका नाशकर फिर अन्य घा तिया कर्मोंका क्षयकर केवलज्ञानी अर्हत् परमात्मा होजाता है, पश्चात् सर्व कर्मोंसे रहित हो परम सिद्ध अवस्थाका लाभ कर लेता है। यहांपर आचार्यने पुनः पुनः उस परम समतामई शुद्धोपयोगको नमस्कार किया है जिसके प्रसादसे आत्मा स्वभावमें तन्मय हो परमानन्दका अनुभव करता हुआ अनंतकालके लिये संसार भ्रमणसे छूटकर अविनाशी पदमें शोभायमान होजाता है।

अंतमें यह आशीर्वाद दी है कि जो कोई इस प्रवचनसारको पढ़कर अपने परमात्म पदार्थका निर्णय करके, श्रावककी ग्यारह प्रतिमा रूप चर्याको पालता है वह स्वर्ग लाभकर परम्परा निर्वाणका भागी होता है तथा जो साधुके चारित्रको पालता है वह उसी भवसे या अन्य किसी भवसे मोक्ष हो जाता है।

वास्तवमें यह प्रवचनसार परमागम ज्ञानका समुद्र है जो

इसमें अवगाहन करेंगे वे ही परम सुखी होंगे। इस शास्त्रमें तत्त्वका सार खूब सूक्ष्म दृष्टिसे बता दिया है।

श्री जयसेनाचार्यकी सुगम टीकाके अनुसार हमने अत्यन्त तुच्छ बुद्धिके होते हुए जो भाषामें लिखनेका संकल्प किया था; सो आज मिती **आसौज सुदी ९ शुक्रवार वि० सं० १९८१ व वीर निर्वाण सं० २४५० ता० ३ अकटूबर १९२४** के अत्यंत प्रातःकाल सफल हो गया, हम इसलिये श्री अरहंतादि पांच परमेष्ठियोंको पुनः पुनः नमन करके यह भावना करते हैं कि इस ग्रंथराजकी ज्ञानतत्त्वदीपिका, ज्ञेयतत्त्वदीपिका, चारित्रतत्त्व-दीपिका नामकी तीनों दीपिकाओंसे हमारे व और पाठक व श्रोताओंके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश फैले, जिससे मिथ्याश्रद्धान मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्रका अंधकार नाश हो और अभेद रत्न-त्रयमई स्वात्मज्योतिका प्रकाश हो।

शुभं भूयात्! शुभं भूयात्!! शुभं भूयात्!!!

भाषाकारकी प्रशस्ति

कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत प्रवचनसार
श्री जयसेन मुनीशकी संस्कृत वृत्ति उदार ॥ १ ॥
ताकी हिन्दी भाष्य, कहुं—देख न देशमंझार
भाष्य करण उद्यम किया, स्वपरकाज चित धार ॥ २ ॥
विक्रम संवत एक नौ, आठ एक शुक्रवार।
आश्विन सुद पंचम परम, कर समाप्त सुखकार ॥ ३९ ॥
अवध लक्ष्मणापुर वसे, भारतमें गुलजार।
अग्रवंश गोयल कुलहिं, मंगलसैन उदार ॥ ४ ॥
ता सुत मक्खनलालजी गृहपति धनकणधार।
नारायणदेई भई, शीलवती त्रियसार ॥ ५ ॥
पुत्र चार ताके भए निज निज कर्म सम्हार।
ज्येष्ठ अभी निज थानमें संतलाल गृहकार ॥ ६ ॥
तृतिय पुत्र मैं तुच्छ मति "सीतल" दास जिनेन्द्र।
श्रावक व्रत निज शक्ति सम, पालत सुखका केन्द्र ॥ ७ ॥
इस वर्षाके कालमें, रहा इटावा आय।
समय सफलके हेतु यह टीका लिखी बनाय ॥ ८ ॥
है प्राचीन नगर महा, पुरी इष्टिका नाम।
पंथ इष्टिका कहत कोउ, लश्कर पंथ मुकाम ॥ ९ ॥
जमुना नदी सुहावनी, तट एक दुर्ग महान।
नृप सुमेरपालहिं कियो, कहत लोक गुणवान ॥ १० ॥
ध्वंश भ्रष्ट प्राचीन अति, उच्च विशाल सुहाय।
महिमा या शुभ नगरकी, कहत बनाय बनाय ॥ ११ ॥

ताहीके अति निकट ही, मंदिर एक महान् ।
उच्च कहत महादेवजी, टिकसीके यह जान ॥ १२ ॥
भीत तासके मध्यमें, आलेमें जिनदेव ।
प्रतिमा खंडित शुभ लसैं, पार्श्वनाथ श्री देव ॥ १३ ॥
याते यह अनुमान सच, है उतंग प्रासाद ।
श्री जिनवरका थान यह, है शिवकरि आबाद ॥ १४ ॥
जमुना तट मारग निकट, नसियां श्री मुनिराज ।
भूल गए जैनी सबै, पूजत जिन मति त्याज ॥ १५ ।
कहत नसैनी दादि है, पुत्र पौत्र करतार ।
अग्रवाल जैनी सभी, पूजा करत सम्हार ॥ १६ ।
चरण पादुका लेख सह, गुमटी एक मंझ ।
शोभ रहे मुनिनाथके, सागर विनय विचार ॥ १७ ।
मूलसंघ झलकत महा, हेमराज जिन भक्त ।
ब्रह्म हर्ष जसराज भी, प्रणमत गुण अनुरक्त ॥ १८ ।
एकसहस नव्वे लिखा, संवत विक्रम जान ।
फागुण शुक्ला अष्टमी, बुधवासर अघहान ॥ १९ ।
है समाधि जिन साधुकी, संशयको नहिं थान ।
पूजन भजन सुध्यानको, करहु यहां पर आन ॥ २० ॥
दिक्–अम्बर जैनी वसे, सब गृहस्थ सुख लीन ।
सात शतक समुदाय सब, निज कारज लवलीन ॥ २१ ॥
अग्रवालके संघमें, पुत्तूलाल रसाल ।
गुलकन्दी भगवानके, दास सुलक्ष्मणलाल ॥ २२ ॥
विद्या रुचि गोपालजी; मदन आदि रस पीन ।
गोलालार समाजमें, मऊ कल्याण अदीन ॥ २३ ॥

अजउद्ध्या परसाद हैं, वैद शिषरचंद जान।
चंद्रसैन भी वैद्य हैं, कुंजीलाल सुजान ॥ २४ ॥
गोलसिंघाड़ेमें लसें, नंदरु मोहनलाल।
पारीक्षित अरु लक्षपति, वैद्य सु छोटेलाल ॥ २५ ॥
खर-औआकी जातिमें, राधेलाल हकीम।
वैद रूपचंद्र पालश्री, मेवाराम सुकीम ॥ २६ ॥
पंडित पुत्तूलालके, पुत्र सुलाल बसंत।
जाति लमेचूमें वसे, तोताराम महंत ॥ २७ ॥
सकट्टूसलको आदि दे, धर्मीजन समुदाय।
सेवत निज निज धर्मको, मन वच तन उमगाय ॥ २८ ॥
सप्त सुजिन मंदिर लसें, गृह चैत्यालय एक।
मुख्य पंसारी टोलमें, कर्णपुरा मधि एक ॥ २९ ॥
ठाड़े शेष सरायमें, कटरा नूतन नग्र।
गाड़ीपुरा सुहावना, नूतन अनुपम अग्र ॥ ३० ॥
पंडित मुन्नालाल कृत, बहु धन सफल कराय।
धर्मशाल सुखप्रद रची, ठहरो तहं मैं आय ॥ ३१ ॥
साधर्मीनिके संगमें, काल गमाय स्वहेत।
लिखो दीपिका चरण यह, स्वपर हेत जगहेत ॥ ३२ ॥
पढ़ो पढ़ावो भक्त जन, ज्ञान ध्यान चित लाय।
आतम अनुभव चित जगे, संशय सब मिट जाय ॥ ३३ ॥
नर भव दुर्लभ जानके, धर्म करहु सुख होय।
सुखसागर वर्धन करो, तत्त्वसार अवलोय ॥ ३४ ॥

इटावा (चातुर्मासमें) द: ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।
ता० ३-१०-१९२४

शीतलप्रसादजी रचित ग्रन्थ।

यसार टीका (कुंदकुंदाचार्यकृत पृ. २५०) २॥)

माधिशतक टीका (पूज्यपादस्वामीकृत) १)

गृहस्थधर्म (दूसरीवार छप चुका पृ० ३५०) १॥) १॥।)

तत्त्वमाला-(७ तत्त्वोंका स्वरूप) ।≈)

५ स्वसमरानंद (चेतन-कर्म-युद्ध) ≡)

६ छःढाला (दौलतराम कृत सान्वयार्थ) ।)

७ नियम पोथी (हरएक गृहस्थको उपयोगी) -)

८ जिनेन्द्र मत दर्पण प्र० भाग (जैनधर्मका स्वरूप) -)

९ आत्म-धर्म (जैन अजैन सबको उपयोगी, दूसरीवार) ।≈)

१० नियमसार टीका (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) १॥।)

११ ज्ञानतत्वदीपिका १॥)

१२ सुलोचनाचरित्र (सर्वोपयोगी) ॥≈)

१३ अनुभवानंद (आत्माके अनुभवका स्वरूप) ॥)

१४ दीपमालिका विधान (महावीर पूजन सहित) -)

१५ सामायिक पाठ (हिन्दी छंद, अर्थ, विधि सहित) -॥

१६ इष्टोपदेश टीका (पूज्यपाद कृत. पृ. २८०) १)

१७ ज्ञेयतत्वदीपिका १॥।)

१८ चारित्रतत्वदीपिका १॥।)

१९ संयुक्त प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक ।=)

२० बम्बई प्रांतके प्राचीन जैन स्मारक ॥।)